हिन्दी कवि-कौमुदी

लेखक

गौरीशंकर चतुर्वेदी

एम० ए०, बी० एड०, साहित्य-रत्न

प्रमुख विक्रेता

काशी पुस्तक भण्डार

चौक, वाराणसी

१९६६

[मूल्य १२.५० रु०

प्रकाशक
गौरीशंकर चतुर्वेदी
एम० ए०, बी० एड०, साहित्य-रत्न
प्राध्यापक, हार्टमन इण्टर कालेज
करीमुद्दीनपुर
गाजीपुर

प्रथम संस्करण १९६६

मुद्रक
विश्वनाथ भार्गव
मनोहर प्रेस,
जतनबर, वाराणसी

भविष्य के अन्धकार में ढँके हुए—

उन भावी साधक कलाकारों को

जिनके लिए आदि-पुरुष भ्रष्टाचार तथा आदि-माया हिंसा देवी का आराधक जड़-समाज खन्दक खोदता चला जा रहा है।

हुँकार करो बस हे विराट,
हो ध्वस्त, नष्ट, यह भ्रष्ट-तंत्र।
यह कपट-तंत्र, पाखण्ड-तंत्र,
वह रक्त-तंत्र जड़-साम्य-तंत्र॥

प्रस्तावना

यद्यपि हिन्दी का समालोचना-क्षेत्र पर्याप्त सम्पन्न है, पर यह दुर्भाग्य की बात है कि हिन्दी के प्राचीन और नवीन कवियों की ऐसी समीक्षा एकत्र उपलब्ध नहीं है जो उच्च कक्षाओं के छात्रों के लिए उपयोगी हो। इस कारण एम० ए० और बी० ए० के छात्रों को प्रत्येक कवि के लिए अलग अलग मोटी पुस्तकें पढ़नी पड़ती हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक श्री गौरीशंकर चतुर्वेदी ने इस अभाव को बहुत कुछ दूर करने का प्रयास करके प्रशंसनीय कार्य किया है। इस समीक्षा-ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसमें विभिन्न कवियों की काव्य-प्रवृत्तियों और गुण-दोषों की समीक्षा के साथ तत्कालीन धार्मिक और दार्शनिक प्रवृत्तियों की भी सम्यक् विवेचना की गयी है। श्री चतुर्वेदी ने अपनी समीक्षात्मक दृष्टि को पूर्ण स्वतंत्र रखा है। प्रायः यह देखा जाता है कि छात्रोपयोगी समीक्षा लिखनेवाले लेखक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दर दास, हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि मान्य इतिहासकारों के द्वारा लिखी गयी बातों को दुहरा कर ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक ने ऐसा नहीं किया है। उन्होंने कबीर, तुलसी, जायसी, सूरदास, बिहारी, देव आदि प्राचीन कवियों के सम्बन्ध में अपने मौलिक विचार व्यक्त किये हैं और आवश्यकता पड़ने पर पूर्ववर्ती विद्वानों के मतों का तर्कपूर्ण खण्डन भी किया है। आधुनिक कवियों के सम्बन्ध में उनकी दृष्टि स्पष्ट और सुलझी हुई है। उन्होंने युग की माँग और देश की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है और उन्हीं के निष्कर्ष पर द्विवेदीयुगीन तथा छायावादी कवियों को परखा है। आशा है चतुर्वेदी जी की समीक्षा विद्यार्थियों को चिराचरित हिन्दी-समीक्षा के घटाटोप से बाहर निकालकर उन्मुक्त वातावरण में साँस लेने और सोचने-विचारने के लिए दिशा-निर्देश करेगी। मुझे पूर्ण विश्वास है कि श्री चतुर्वेदी हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में अपना सुनिश्चित स्थान बना सकेंगे और अपनी समीक्षात्मक कृतियों द्वारा हिन्दी-साहित्य के भाण्डार को उत्तरोत्तर समृद्ध बनाते रहेंगे। वे इस सुन्दर ग्रन्थ के लिए बधाई के पात्र हैं।

वाराणसी
२७-१२-६५

शम्भुनाथसिंह
अध्यक्ष हिन्दी विभाग
वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय

परीक्षार्थी ध्यान दें

यह पुस्तक हाईस्कूल के योग्य विद्यार्थियों के लिए भी उपयोगी है। उनको चाहिए कि अपने योग्य सामग्री इसमें से छाँट लें और अपनी महान प्रतिभा का विकास और सदुपयोग करें। वे राष्ट्र के भावी कर्णधार हैं, अतः पुस्तक के आकार को देखकर भयभीत होना ठीक नहीं। इनकी रचना उन छात्रों को ध्यान में रखकर की गई है। मुझको पूर्ण विश्वास है कि राष्ट्र में कभी शिक्षा का स्तर ऊँचा भी उठेगा। यह बात निर्विवाद है कि आज की सड़ी हुई परीक्षा-प्रणाली राष्ट्र को भाड़ में झोंकनेवाली है और नेता-तंत्र के दलदल से शिक्षा-संस्थाओं का निकलना भी कठिन है; किन्तु राष्ट्र के भविष्य की उपेक्षा करते हुए परीक्षक कब तक झोंककर अंक देते रहेंगे ? हम यह भी जानते हैं कि प्रारम्भिक पाठशालाओं की भ्रष्ट परीक्षा-व्यवस्था ने शिक्षा के स्तर को नष्ट कर दिया है और वहाँ से आगे बढ़नेवाले छात्र उत्तीर्ण होने के लिए वही तरीका ढूँढ़ते हैं; किन्तु यह स्थिति कब तक चल सकेगी ?

इण्टर के छात्रों के लिए तो यह पुस्तक पूर्ण उपयोगी है। उनकी सारी समस्याएँ एक प्रकार से हल कर दी गई हैं। उनको चाहिए कि अपने स्तर के अनुसार सामग्री ले लें। यह बात ठीक है कि प्रत्येक विद्यालय में पाँच प्रतिशत से पचास प्रतिशत तक ऐसे छात्र भी समाज द्वारा ठेल दिये गये हैं जो विद्या के घोर शत्रु हैं और यह राष्ट्र उनकी शक्ति का सदुपयोग करने के लिए अलग व्यवस्था नहीं कर रहा है; किन्तु देश में प्रतिभाशाली छात्र भी तो हैं ! उनको समझाने तथा उनकी प्रतिभा को उत्तेजित करने के लिए इस पुस्तक में कितना प्रयत्न किया गया है, वे स्वयं देखें। हम यह जानते हैं कि राष्ट्र के नब्बे प्रतिशत प्रतिभाशाली छात्र पेट के चक्कर में पड़कर नष्ट हो रहे हैं और यह जड़ समाज व्यक्तिगत स्वार्थों में लीन है; किन्तु उन छात्रों से निवेदन है कि वे ऐसी उग्र मनोभावना लेकर गहरा अध्ययन करते चलें कि निकलने के बाद राष्ट्रोद्धार की भावना उनमें शेष रह जाय। देश का करुण भविष्य उन्हीं के हाथों में है। वर्तमान-तंत्र को वे ही बदल सकते हैं। वे साहित्य के सच्चे साधकों से सच्ची प्रेरणा लेने के लिए अध्ययन करें। परीक्षा में तो स्वयं उत्तीर्ण होंगे।

हम यह नहीं कहना चाहते कि बी० ए०, एम० ए०, विशारद, साहित्य-रत्न तथा अन्य उच्च कक्षाओं के लिए यह पुस्तक कितनी उपयोगी है; किन्तु इतना तो निर्विवाद है कि इसको पढ़ते समय थकावट कम होगी। जब साहित्य

के तपस्वी साधकों की सारी साधना ही इस पत्थर-समाज में निष्फल हो गई तो मैं किस धृष्टता से कल्पना कर लूँ कि यह पुस्तक समाज का ध्यान उन साधकों की करुणा की ओर पूर्णतया आकृष्ट कर सकेगी ? किन्तु वर्तमान छात्रों पर ही तो देश का करुण-भविष्य टिका हुआ है ? वे थोड़ा ध्यान देकर देखें तो कि उनके नब्बे प्रतिशत साथी, पीछे छूटकर समाज की निर्मम चट्टान से टकराकर क्षत विक्षत हो रहे हैं। परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए घिसे-पिटे सूत्रों को रट लेना और बात है तथा मर्म का अनुभव करना और बात। भूतकालीन अँग्रेजी परीक्षा-प्रणाली में दास तैयार किये जाते थे। वे ही दास अँग्रेजी-शासन के यंत्र थे। अब उन यंत्रों पर वर्तमान नेता-तंत्र का प्रभुत्व है। आप लोग उसी परम्परा पर चलने के लिए बाध्य किये गये हैं अथवा स्वयं अभ्यस्त हो गये है। निकलने पर आपही परिवर्तन भी कर सकते हैं।

अभिभावक चाहते हैं कि हमारे लड़के ऐसी विद्या पढ़कर आवें जिससे समाज की अधिक जेब काट सकें। राष्ट्र भाड़ में जाय। आप इस धोखे में कदापि न पड़ें कि जो जितना ही लूटता है समाज में उतनी ही प्रतिष्ठा पाता है। आपकी सच्ची विद्या समाज की नींव को हिलानेवाली हो। आप साधकों की साधना का मनन करें ताकि आपके भीतर का 'समाधि-मग्न' त्रिनेत्र उठ खड़ा हो। बिल्खती हुई मानवता आँचल पसारकर आपके बलिदानों की भीख माँगती है। आप अपने शिव को मुक्त करें ताकि दानवता के शाश्वत बन्धनों से उसकी मुक्ति हो सके। यदि आप भी सनातन धारा में बह गये तो अब गजब हो जाएगा।

हम एक भावुक अध्यापक हैं। छात्रों की तीव्र उत्कण्ठा से प्रेरित होकर जल्दी में यह पुस्तक लिखी गयी। अगले संस्करण में हम आपकी सुविधा के लिए हेर-फेर भी कर सकेंगे। राष्ट्र की आँधी के साथ ही परीक्षार्थियों में शार्ट-कट की भयंकर आँधी चल रही है। पता नहीं इस आँधी में क्या-क्या उड़ने वाला है। आशा है इस पुस्तक में बहुत सी सुविधाएँ भी मिल सकेंगी।

अध्यापकों की दशा कितनी चिन्तनीय है कहने की आवश्यकता नहीं। जो अध्यापक पढ़ाई पर विशेष बल देते हैं, अधिकांश छात्र उनके शत्रु बन जाते हैं। उनसे निवेदन है कि अध्ययन के लिए मधुर प्रेरणा देते रहें। वह दिन दूर नहीं, जब समाज का कुछ होश में आना पड़ेगा। उनकी प्रेरणा से यदि पाँच प्रतिशत छात्र भी अग्रसर हो सकें तो उनकी सच्ची क्रान्ति का भी मूल्य कम न होगा।

फरवरी १९६६ लेखक

अपनी बात

अति अपार जे सरित वर, जौं नृप सेतु कराहिं ।
चढ़ि पिपीलकउ परम लघु, बिनु श्रम पारहिं जाहिं ।।

साधकों की साधना है, विद्वान आलोचकों का प्रकाश है और काल की शाश्वत धारा में बहते हुए हमने अपनी आँखों से कुछ देखने का प्रयास किया है। हमने ऐसा अनुभव किया है कि साहित्य और समाज की कुछ ऐसी जटिल समस्याएँ हैं जिनका समाधान इस सृष्टि के अन्त तक हो ही नहीं सकता; क्योंकि विधाता अथवा प्रकृति की व्यवस्था में ही एक भयंकर त्रुटि है और सम्भवतः यह त्रुटि ही व्यवस्था बन गई है। वह यह कि निर्माता ने अपनी सारी शक्ति को उठाकर मानव नामक एक ऐसे प्राणी-वर्ग को समर्पित कर दी है जो पृथ्वी के अन्य जीवों की तुलना में सर्वाधिक अनुत्तरदायी, स्वार्थी तथा अविश्वसनीय है। अधिक दुःख इस बात का है कि लाखों-करोड़ों वर्षों से सन्तों और साधकों की साधना चल रही है, परन्तु सब कुछ व्यर्थ। शोक की बात है कि भावी अबोध पीढ़ियों को इन पीढ़ियों की करनी से निबटना बड़ा ही कठिन होगा।

भविष्य का बुद्धिवाद कितनी भी माथा-पच्ची करेगा, काव्य और अनुभूति की उपयोगिता बनी ही रहेगी। काव्य के साधारणीकरण में सामाजिक विषमता को एक मुख्य बाधा बताया जाता है, परन्तु हमारे विचार से यह विषमता उसके लिए एक व्यापक भूमि तैयार करती है। यह तो काव्य के लिए स्वयं एक सजीव विषय है। ईश्वर से भी अधिक व्यापक, चिरन्तन तथा सशक्त है। इसका आराधक वर्ग, जिसको मैंने जमात की संज्ञा दी है, तगड़ा आलम्बन है। क्या तड़पती हुई मानवता को उठाकर आश्रय बनाया जा सकता है? खतरा यही है कि वह जमात अत्यन्त सतर्क है। उस समय वह या तो कलाकारों के स्वर में स्वर मिलाने लगेगी अथवा वेष बदलकर मानवता में घुलमिलकर करुण-क्रन्दन करने लगेगी और उसे पहचानना कठिन हो जायगा।

उस जमात की भयंकर मुट्ठी में विषमता, हिंसा तथा अनाचार का त्रिशूल है जिसको उसने सृष्टि के प्रारम्भ से मानवता के सीने में धँसा रखा है। अरबों सन्त-साधक थककर चले गये, नोक नीचे ही बढ़ती गयी। भावी कलाकारों की पार्वती को ऐसा तप करना है कि मानवता के शंकर, समाधि (कितने

संवत् सहस अठासी बीत चुके) तोड़कर उठ खड़े हों। या तो वे किसी षड़ानन को जन्म दें अथवा स्वयं उस त्रिशूल को उखाड़कर उसीसे मायावी के कपटी त्रिनेत्र को फोड़ दें और धूर्त जमात की खबर लें। सम्भव है साधकों को दधीचि बनकर हड्डियाँ भी देनी पड़ें जिनके द्वारा निर्मित वज्र उस जमात का सफाया कर सके किन्तु भय है कि इन्द्रों के पदों पर जमात ही जमी हुई है।

एक समय था जब जड़-समाज पर प्रेम-युद्ध करनेवाले उन्मत्त विलासी राजाओं की जमात का प्रभुत्व था। जब आततायी दानवों की तलवारें हिंसक पशुओं को लज्जित करने लगीं तो पूर्वकालीन प्रेम वृन्दावन में सत्संग करने लगा। गीता के कृष्ण को सूर के सागर में एक डोंगी का भी सहारा न मिला। थोड़ा अवकाश मिला तो हमारे देश का प्रिय प्रेम चारों ओर दरबारों में पहुँच-पहुँच कर अपने असली वेष में सुराही और पैमाना ढालने लगा। भूषण जैसे साधकों के विस्फोट समाज के पत्थर पर टकराकर रह गये और विश्व-प्रसिद्ध मक्कार जाति का बन्दूक-काल आ धमका। साधकों की साधना चलती रही और जड़-समाज की पूर्वाराधना पूर्व गति से चलती रही। साधकों की राष्ट्रीय हुँकार से प्रेरित होकर कुछ छात्र और युवक गोलियों के सामने आये। कितने फाँसी के तख्तों पर झूलने लगे। उस समय हमारे प्रिय समाज की दशा देखने योग्य थी। उस क्रान्ति को कुचलनेवाले लाखों दलाल उसी जमात के हैं जिनका प्रभुत्व आज के नेता-तंत्र पर छाया हुआ है और देश की प्रिय जनता बड़े प्रेम से उनका समर्थन कर रही है। हमारा समाज बड़ा उदार है। चुप-चाप अपनी पूर्वाराधना में लीन है। समाज की जड़ता पर उस शाश्वत जमात का कड़ा पहरा है। यही नहीं; धर्म, दर्शन, काव्य, इतिहास, विज्ञान तथा शासन आदि सभी केन्द्रों पर उसका सनातन एकाधिकार है। क्रान्ति के सारे सूत्र उसीकी मुट्ठी में दबे हुए हैं। अयूब-तंत्र, माओ-तंत्र, ब्रिटेन-अमेरिका के कपट-तंत्र और भारत के भ्रष्ट-तंत्र में क्या अन्तर है! सृष्टि का एक ही सनातन-तंत्र है जिसके विविध मायावी वेष हैं। विश्व की जड़ता को धिक्कार है। भारत के सहस्र वर्षों में पिछले तंत्रों ने जितना कुछ गँवाया है, उसका सौगुना विनाश, इस वर्तमान-तंत्र ने केवल इन अठारह वर्षों में किया है। संयोग से यहाँ शासन पर यदि दूसरा वर्ग अधिकार करने लगे तो यह जमात वेष बदलकर पुनः हावी हो जाएगी। मुक्ति असम्भव है; परन्तु भावी कलाकारों को असम्भव को सम्भव बनाना होगा।

आज खण्डित भारत साधारणीकरण की विस्तृत भूमि पर पड़ा हुआ है। ब्रिटेन, अमेरिका, पाकिस्तान और चीन आदि भी, भारतीय समाज के प्रत्येक-

वर्ग के लिए एक ही समान, उसी प्रकार घोर शत्रु हैं, जिस प्रकार आन्तरिक भ्रष्ट-तंत्र है। कवि के लिए साधारणीकरण की व्यापक भूमि की कमी नहीं। समाज पत्थर है तो क्या? साधक को साधना करनी ही होगी। उस पत्थर को तोड़ने के लिए वैज्ञानिक मनोवृत्ति को भी उधर ही मोड़ना है। आज तो विज्ञान भी उसी जमात के हाथों का दास है। सारा राष्ट्र जानता है कि कुछ दिनों के लिए भी यदि इस भ्रष्ट-तंत्र से मुक्ति मिल जाय तो यह देश सैकड़ों आततायी तंत्रों को होश में ला सकता है परन्तु राष्ट्र अपनी जड़ता तथा अपने स्वनिर्मित जाल से मुक्त नहीं हो सकता। इस पुस्तक का नाम मैं 'समाज के निर्मम पत्थर पर साधकों की निष्फल साधना' रखना चाहता था; परन्तु......।

सौभाग्य से यदि सीमा की ऐसी दशा न होती तो प्रिय देशवासी कुछ और करामात करते। इस तंत्र में अभी तो करोड़ों टन अन्न घरों में दबाकर या चीन-पाकिस्तान को निर्यात करके लोगों को भूखों मारा जाता है और शत्रु-देशों से अन्न उधार लेकर भावी पीढ़ियों पर अबोध ऋण ही लादा जा रहा है। असली खेल तो अभी बाकी है। उत्तर-दक्षिण, पंजाबी, उर्दू और अँग्रेजी की लीला तो अभी शेष ही है। इस कौतुकी देश तथा उक्त जमात की लीला अपार है। भावी पीढ़ियों को इसका मजा मिलेगा।

अंग्रेजी ने राष्ट्र के आत्म-ज्ञान को समूल नष्ट कर दिया है। यह समाज की जड़ता को माया से पालनेवाली पिशाचिनी तथा जमात का पोषण करनेवाली जननी है। इस धूर्त नागिन ने राष्ट्र के प्रिय सम्बन्धों को उन देशों से काट दिया जो करोड़ों वर्षों से इसके साथ जुड़े हुए थे। भारतीय भाषा के लाखों शब्द तथा भाव संसार के बीसों देशों की भाषाओं में समाये हुए हैं, परन्तु इस जड़ समाज को क्या मतलब? उन देशों को धन्यवाद है जहाँ के लाखों उदार पुरुष पृथ्वी पर फैलकर अपने धन तथा जीवन का बलिदान कर रहे हैं। उन बेचारों के पास न तो कोई सांस्कृतिक सम्पत्ति है और न विशेष साहित्यिक थाती है; परन्तु नागा-प्रदेश, मध्य-भारत, दक्षिण तथा उत्तर भारत ही नहीं, पृथ्वी के सहस्रों भागों में उन्होंने ब्रिटेन बना लिया है। इस ज्ञानी देश में करोड़ों मनुष्य भी अछूत हैं जिनकी खोज-खबर तो समुद्र-पार के दयालु अंग्रेज लोग लिया करते हैं। तिब्बत और पाकिस्तान के अलाउद्दीनों के सामने वहाँ की पद्मिनियाँ कौन सा जौहर करती होंगी?

खेद की बात है कि हमारे कलाकारों का बहुत बड़ा वर्ग अभी भी विदेशी दासता की बेड़ियों में जकड़ा हुआ है। उधर मक्कार देशी अंग्रेजी के कुचक्र

से देश की जड़ता पर शासन करनेवाली अंग्रेजी ने राष्ट्रभाषा हिन्दी तथा प्रान्तीय पवित्र भाषाओं के द्वार को बन्द किया ही था, इधर नूतन कविता की चेतना में भी अंग्रेजियत का प्राण बोल रहा है। अब किसके ऊपर आशा की जाय? सुश्री प्रमिला शर्मा के अनुसार नयी छोटी कविता ऐसी चित्रसृष्टि है जिनमें अनुभूति की एक भंगिमा बिम्ब और प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त होती है। वे एक स्थान पर कहती हैं—"नवचिन्तन को सार्त्र के अस्तित्ववाद, एजरापाउण्ड के बिम्बवाद तथा वेलरी, रिम्बो आदि प्रतीकवादियों ने परिपुष्ट किया। कतिपय नये कवियों ने वासनात्मक और बौद्धिक अनुभूतियों से प्रेरित होकर प्रचलित मानदण्डों को तोड़ा है।" अब इसीसे संसार को प्रेरणा देनेवाले भारतीय साहित्य की अधोगति का पता लगाया जा सकता है। राष्ट्र की महान समस्याएँ तो भाड़ में गयीं, चेतना तथा संस्कृति का भी दिवाला निकल रहा है। क्या भारतीय भाषाओं तथा भारतीयता को मिटाने के लिए क्रान्ति तो नहीं होनेवाली है? पृथ्वीराजकालीन प्राचीन प्रेम दरबारों से उड़कर आकाश में उड़ा, पुनः सिनेमा-गृहों की नाजुक गलियों से होता हुआ अंग्रेजी फैशन में प्रगट हो रहा है। पता नहीं, अब क्या करेगा? इस प्रेम पर देश का एकाधिकार रहा है।

अन्त में हम भावी अबोध-शिशुओं की चर्चा करके इस प्रसंग को समाप्त करना चाहते हैं। शिशु-मन्दिर क्रान्ति के अन्तिम केन्द्र हैं। वर्तमान समाज द्वारा निर्मित विषमता के दानव तथा नेता-तंत्र के पिशाच द्वारा उनका भी गला घोंट दिया गया है। इस वर्तमान ने भविष्य की किरणों को भी बुझा दिया है। प्रतिभा के इस विनाश की करुण-कथा अत्यन्त मर्मान्तक है। इस पाप का प्रायश्चित्त तथा क्षति की पूर्ति असम्भव है। शिशु-मन्दिरों में भीतर से समाज द्वारा, कुछ प्रतिशत ऐसे छात्रों को भेज देना, जो विद्या के कट्टर शत्रु हों और ऊपर से नेता-तंत्र का अजगर। विशेषता तो यह कि फिर पता भी लगाया जाय कि शिक्षा का स्तर निम्न क्यों अथवा अनुशासनहीनता क्यों? यह है जादू का खेल। निर्धन प्रतिभा की कलियाँ खिलने से पहले ही कुचल दी जाती हैं। छात्रों द्वारा मिथ्या प्रशस्तियाँ, झूठे आँकड़े तथा अंग्रेजी के इन्द्रजाल रटाये जाते हैं ताकि राष्ट्र की आँख में धूल झोंक सकें।

समाज की जड़ाराधना के कारण काव्य तथा समाज का सम्बन्ध तो संकट में था ही अब काव्यजगत् स्वयं भी संकटापन्न हो गया है। जीवन में साधना तथा त्याग की सम्भावना घटती जा रही है और नवचिन्तन जैसे विदेशी आवरण बढ़ते जा रहे हैं। उधर चेतना के स्रोत भी सूखते जा रहे हैं, क्योंकि नवीन

शिशुओं की प्रतिभा या तो बीच में नष्ट कर दी जाती है अथवा भौतिकता की अन्ध-दौड़ में ढकेल दी जाती है। वैज्ञानिक युग की अति-भौतिकता से चेतना और रस-विहीन निम्न स्वार्थों को ही शक्ति मिल रही है। इस अन्धड़ और तूफान के युग में हम कैसे यह आशा कर सकते हैं कि यह तुच्छ पुस्तक समाज के ध्यान को तपस्वी साधकों की साधना की ओर आकृष्ट कर सकती है, फिर भी कुछ विश्वास किया जाता है कि बहुत से सतर्क छात्रों को इससे स्वतंत्र चिन्तन की प्रेरणा मिलेगी। हमारी कामना यह है कि साहित्य को समाज का दर्पण नहीं बल्कि प्रेरणा का स्रोत बनना चाहिए और मुक्ति की प्रेरणा को ही महत्त्व दिया जाना चाहिए। अब तो जागरूक साधक कलाकार ही भटकती मानवता के लिए सहारा रह गये हैं। यह सत्य है कि उनके सामने संकटों का पारावार लहरा रहा है, परन्तु अन्तिम पतवार उन्हीं के हाथों में है।

इस पुस्तक में हम डा० नगेन्द्र, डा० बलदेव प्रसाद मिश्र, डा० भटनागर, डा० प्रेमनारायण टण्डन, पं० कृष्णशंकर शुक्ल, श्री तारकनाथ बाली, श्री विजयशंकर मल्ल, श्री श्यामनन्दन प्रसाद सिंह, डा० हीरालाल दीक्षित, डा० विजयेन्द्र स्नातक, डा० व्रजकिशोर मिश्र, आचार्य विद्यासागर तथा श्री गिरिजादत्त शुक्ल प्रभृति अन्य अनेक मनीषियों से ज्योति प्राप्त कर सके हैं। सूर्य सबको स्वभावतः प्रकाश देता है और सृष्टि में प्राण स्पन्दित करता है। जिन उद्धरणों के साथ हम नाम देना भूल गये हैं, उनके लिए, उन्हें करुणा-सागर जानकर क्षमायाचना करते हैं और साथ ही आशीर्वाद माँगने की धृष्टता करते हैं। करुणासिन्धु डा० शम्भुनाथ सिंह, अध्यक्ष हिन्दी विभाग, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी की कृपा के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं। बिना पूर्व-परिचय के उनके सामने मैंने पुस्तक रख दी और उन्होंने बिना कुछ पूछे, सहानुभूतिपूर्वक पढ़कर ऐसी प्रस्तावना लिख दी जिससे मैं स्तब्ध रह गया। ऐसे उदार देवपुरुष की अर्चना किन शब्दों में की जाय ?

अपने अनुभव तथा पाठकों की सम्मति से दूसरे संस्करण में बहुत कुछ परिवर्तन किया जायगा। इस समय जागरूक छात्रों की प्रेरणा से जल्दी में यह तुच्छ उपहार प्रस्तुत किया जा रहा है और यदि इससे उनका थोड़ा भी उपकार हुआ तो मुझे कम प्रसन्नता न होगी। लम्बी अवधि के अध्यापन-काल में मैंने छात्रों की जिन कठिनाइयों का अनुभव किया, उनके निराकरण का प्रयत्न किया है फिर भी अभी बहुत सी त्रुटियाँ रह गयी हैं। युग की विशेषता के अनुसार यद्यपि अधिकांश छात्र परिश्रम से उदासीन हैं; किन्तु जागरूक विद्यार्थी भी हैं

जिन्हें मैं भविष्य की करुण आशा के समान समझता हूँ। मेरी पुस्तक का भविष्य भी उन्हीं पर आधारित है।

इस शोषण के विकट युग में लेखकों के लिए पुस्तकों का प्रकाशन भी एक समस्या है। पं० अवधेश पाठक, महेशपुर; श्री केदारनाथ राय-लउआडीह; श्री गणेशप्रसाद, करीमुद्दीनपुर के अतिरिक्त बलिया जिले के श्री सर्वदेव सिंह, टीकादेवरी तथा श्री भोजदत्त, बद्वलिया का आभारी हूँ जिनकी कृपा से इस पुस्तक का प्रकाशन सम्भव हो सका। श्री सुधाकर तिवारी, प्राध्यापक वसन्त कालेज वाराणसी एवं श्री वालेश्वर तिवारी, भारतधर्म महामण्डल वाराणसी की प्रेरणा तथा सहायता के बिना यह कार्य असम्भव था। अब तो सब कुछ उदार पाठकों पर निर्भर है।

छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई। सुनिहहिं बाल बचन मन लाई॥

गौरीशंकर चतुर्वेदी

विषय-सूची

ज्ञानमार्गी सन्त तथा साहित्य

भारत में 'सन्त' शब्द का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। अपने मूल में इसका अर्थ अँग्रेजी शब्द 'सेंट' से भिन्न है। अँग्रेजी का 'सेंट' शब्द पवित्रता का बोधक है जब कि हिन्दी के 'संत' शब्द में 'अस्तित्व' का भाव है। वैदिक साहित्य में 'सन्त' शब्द 'ब्रह्म' का पर्याय है। बाद में विकसित होकर धम्मपद, महाभारत, कालिदास तथा भर्तृहरि में यह शब्द सदाचारी, शान्त, पवित्र एवं परोपकारी का वाचक हो गया। 'साधु' या 'महात्मा' का आधुनिक अर्थ १००० ई० के बाद सम्भवतः विट्ठल तथा ज्ञानदेव आदि संतों के लिए प्रयुक्त हुआ है।

हिन्दी के संत कवियों ने 'संत' शब्द का प्रयोग बड़े ही व्यापक अर्थों में किया है। ब्रह्म और राम से लेकर विशिष्ट लक्षणों से युक्त सदाचारी साधु और महात्मा तक 'संत' शब्द का अर्थ व्याप्त हो गया। इस प्रकार कबीर, सूर, मीरा तथा तुलसी आदि सभी संत हैं किन्तु इस समय 'संत' शब्द का प्रयोग, विशेषतः आज के आलोचना जगत में, विशिष्ट अर्थों में कबीर और दादू जैसे निर्गुणिया संतो के लिए हो रहा है। आज संत-साहित्य का अर्थ निर्गुणिया संत-साहित्य हो गया है, वह भी ज्ञानमार्गी निर्गुण-संत-साहित्य।

"सन्त-साहित्य की परम्परा बारहवीं शताब्दी से ही प्रारम्भ होती है। बारहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी के बीच सदन कसाई, बेनी, त्रिलोचन, नामदेव, (१२६९-१३५० ई०), रामानन्द (१२९९-१३१०), सेना नाई, कबीर, पीपा जी, रैदास (पन्द्रहवीं शती उत्तरार्द्ध), कमाल धन्ना आदि मुख्य संत हुए। इसके बाद पन्द्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के भीतर नानक, अंगद, रामदास, धर्मदास, दादू (१५४४-१६०३), अर्जुनदेव, गरीबदास (१५३४-१५८१), हरिदास, तेगबहादुर, मलूकदास (१५७४-१६८२ ई०), रज्जब, सुन्दर दास, धरनीदास (सत्रहवीं शती), बूलासाहब (१६३२-१७१३ ई०), गुलाल साहब, दरिया साहब, सहजो बाई (१८ वीं शती उत्तरार्द्ध) आदि मुख्य संत हुए। अठारहवीं शताब्दी के बाद के संतों में पलटू साहब, तुलसी साहब तथा शिवदयाल आदि मुख्य हैं।"—(बा० गुलाब राय)

संत-साहित्य की परम्परा में कबीर का महत्वपूर्ण स्थान है। कबीर तथा दादू में संत-साहित्य का चरम उत्कर्ष हुआ। हिन्दी-साहित्य में सभी संतों का

दान अमूल्य है। इन सन्तों ने भावों में गहराई, अनुभूति में यथार्थता, विचारों में तेज तथा भाषा में व्यापक और स्वाभाविक शक्ति का संचार करके हिन्दी-साहित्य की नींव को अत्यन्त दृढ़ किया।

संत-साहित्य की प्रमुख विशेषताएँ:—

संतों में अधिकांशतः चमार, जुलाहा, नाई और कसाई जैसी जातियों के लोग हुए, जिनका जीवन सरल तथा पवित्र रहा है। वे प्रायः कम पढ़े-लिखे थे किन्तु सत्संग तथा मौलिक चिन्तन के कारण उनमें अपार ज्ञान तथा व्यापक अनुभव था। उन लोगों ने चमत्कार प्रदर्शन के लिए कविता नहीं की। उनके सामने पीड़ित अपार जन-समुदाय था। वे स्वयं भुक्त-भोगी थे। समाज की दुर्दशा देखकर उनकी चेतना तिलमिला उठी। समाज का शोषण करने वाले सामन्तों, पण्डितों, मुल्लों के खोखले आडम्बरों को देखकर उन संतों के हृदय में उबाल आना स्वाभाविक था। फलस्वरूप उन्होंने भ्रष्टाचार और आडम्बरों पर जमकर प्रहार किया।

उन आवश्यक प्रहारों तथा अमर सन्देशों के लिए कविता केवल माध्यम थी, साध्य नहीं थी। बौद्ध-सन्तों की भाँति इन निर्गुणवादी सन्तों ने भी अपने साहित्य में जनवाणी का ही प्रयोग किया। इन सन्तों की भाषा सम्पूर्ण-हिन्दी-क्षेत्र की जनवाणी का प्रतिनिधित्व करती है। उन संतों ने तत्कालीन समाज की जो सेवा की वह चिरस्मरणीय रहेगी। जाति-पाँति के भेदभाव तथा हिन्दू और इस्लाम धर्मों की मौलिक विषमता ने देश में जो भयानक संकट खड़ा कर दिया था, उस संकट का निवारण इन्हीं सन्तों ने किया। वास्तव में वे समाज के उद्धारकर्ता हैं।

इनका दर्शन अद्वैतवादी है। इनकी साधना योग, ज्ञान और भक्ति के समन्वय पर आधारित है। वास्तव में वे सत्य के सच्चे अन्वेषी थे। बौद्ध-दर्शन की भाँति उनका भी दर्शन अतिवाद का विरोधी और मध्यममार्गी है, किन्तु उनमें बौद्ध-धर्म की नास्तिकता नहीं है। उनका ब्रह्म निरंजन, सर्वव्यापी और निराकार है। संत-दर्शन एकेश्वरवादी नहीं, अद्वैतवादी है। इस्लाम-धर्म के एकेश्वरवाद में अल्लाह, इन तुच्छ जीवों से दूर सातवें आसमान में रहता है, किन्तु इन सन्तों का निरंजन कण-कण में व्याप्त है। उनके दर्शन में उस ब्रह्म के सिवा यहाँ कुछ है ही नहीं। जो कुछ हम देखते हैं, सब माया और असत्य है।

इनके छन्द मुक्तक हैं। साखी, सबद, दोहरा, रेखता और गेय पदों में

उनके विचार और भाव अभिव्यक्त हुए हैं। जिस प्रकार दर्शन, विचारों तथा सामाजिक रीति-नीतियों में उन्होंने क्रान्ति की उसी प्रकार साहित्य में उनकी अभिव्यंजना शैली भी क्रान्ति से युक्त है।

कबीर का जीवन-परिचय

जन्म तथा मृत्यु की तिथियाँ :—शुद्ध ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव के कारण कबीर के व्यक्तिगत जीवन तथा काल के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी कह पाना अत्यन्त कठिन है। यद्यपि कबीर के अनेक चित्र, उनके जीवन पर प्रकाश डालने वाले बहुत से ग्रन्थ तथा देशी-विदेशी विद्वानों के मत मिलते हैं फिर भी समस्या ज्यों की त्यों बनी हुई है। वैसे तो डॉ० बड़थ्वाल उनका जन्म सं० १४२७ मृत्यु सं० १५०५, क्षितिमोहन सेन जन्म सं० १४५५ मृत्यु सं० १५०५, डॉ० रामकुमार वर्मा जन्म सं० १४५५ मृत्यु सं० १५५१ तथा डॉ० एफ० ई० के जन्म १४९७ मृत्यु सं० १५७५ में मानते हैं किन्तु कबीर के जीवन की अन्य बातों पर ध्यान देने से उपर्युक्त तिथियाँ अविश्वसनीय हो जाती हैं।

इस सम्बन्ध में कबीर के प्रधान शिष्य धर्मदास की पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—

> "चौदह सै पचपन साल गये, चन्द्रवार एक ठाट ठए।
> जेठ सुदी बरसायत को, पूरनमासी तिथि प्रगट भए॥"

डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने गणना करके देखा है कि ज्येष्ठ पूर्णिमा को चन्द्रवार सं० १४५५ में ही पड़ता है। डॉ० भंडारकर, डॉ० रामकुमार वर्मा, हरिऔध तथा क्षितिमोहन सेन उनका जन्म सं० १४५५ ही मानते हैं। कबीर से गुरु नानक की भेंट सं० १५५२ में और उसी वर्ष उनकी भेंट सिकन्दर लोदी से हुई थी। अतः उनकी मृत्यु उसके बाद ही हुई। यदि उनका जन्म सं० १४५५ और मृत्यु सं० १५७५ में मान लें तो अनेक साक्षियों तथा मतों की पुष्टि हो जाती है और उनकी आयु भी १२० वर्ष ठहर जाती है जैसा कि चित्रों में भी वे वृद्ध दिखाए गये हैं। साथ ही वे रामानन्द जी के समकालीन भी ठहर जाते हैं।

जन्म स्थानः—बनारस गजेटियर में जन्म-स्थान आजमगढ़ जिले का बेलहरा ग्राम बताया गया है। डॉ० त्रिगुणायत ने मगहर बताया है। कबीर ने स्वयं कहा है:—"मैं काशी का जुलाहा" और पुनः कहा है :—

सगल जनम सिवपुरी गवाइया ।
मरती बार मगहर उठि आइया ॥

धर्मदास तथा अन्य कबीर-पन्थी-भक्त और जनश्रुतियाँ भी काशी ही के पक्ष में हैं ।

माता-पिता:— यह कहना बड़ा कठिन है कि कबीर विधवा ब्राह्मणी से उत्पन्न हुए थे अथवा पिता नीरू और माता नीमा के पुत्र थे । डॉ रामकुमार वर्मा, बड़थ्वाल तथा श्यामसुन्दर दास के अनुसार कबीर नीरू-नीमा के औरस पुत्र ठहरते हैं । निम्न पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं ।

(१) हमरे कुल कौने राम कह्यो, (कबीर)
(२) माय तुरकनी बाप जुलाहा, (कबीर कसौटी)
(३) कबीर जुलाहानज़ाद, (दबिस्ताने मजाहिब)

पत्नी और सन्तान:— पन्थ के लोगों का विश्वास है कि कबीर ने विवाह नहीं किया था । जनश्रुति में जिस 'लोई' को लोग उनकी पत्नी बतलाते हैं, पन्थ के लोग उसे शिष्या ठहराते हैं । डॉ० रामकुमार वर्मा उनकी दो स्त्रियां मानते हैं । किन्तु उनके विवाहित होने के प्रमाण ठोस नहीं हैं । जहाँ कबीर ने लोई को सम्बोधित किया है वहाँ उसका अर्थ लोग है यथा (लोक, लोग, लोय, लोई) । अन्य पत्नियों के सम्बन्ध में जो उद्धरण दिये जाते हैं सभी प्रक्षिप्त हैं । इस प्रकार उनके विवाह तथा पुत्र-पुत्री का कोई वास्तविक प्रमाण नहीं है ।

गुरु:—कबीर-पन्थी भक्तों के मतानुसार उनके गुरु रामानन्द जी हैं । सूफी लोग शेख तकी को उनका गुरु बताते हैं । रामानुजाचार्य की शिष्य-परम्परा की चौदहवीं पीढ़ी में रामानन्द जी आते हैं । रामानुजाचार्य की मृत्यु सं० ११९४ में हुई । इस प्रकार एक पीढ़ी के लिए यदि २५ वर्ष ले लें तो कुल १४ × २५ = ३५० वर्ष होते हैं, अतः ११९४ + ३५० = सं० १५४४ के आस पास तक रामानन्द जी का रहना सिद्ध हो जाता है ।

दूसरी बात यह कि कबीर का सम्पूर्ण दर्शन रामानन्द के मत पर आधारित हो सकता है, न कि शेख तकी पर ! कबीर का अद्वैतवाद शुद्ध भारतीय है, न कि एकेश्वरवादी इस्लाम से अनुप्राणित विदेशी सूफीविश्वास के अनुकूल है ! डॉ० मोहनसिंह का मत है कि कबीर का कोई मानव गुरु नहीं था किन्तु यह कैसे हो सकता है जब कबीर स्वयं कहते हैं :—

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागूँ पाय ।

तथा :—रामानन्द रामरस माते। कहहिं कबीर हम कहि कहि थाके ।।
कहै कबीर दुविधा मिटी जब गुरिया मिलिया रामानन्द ।।

यह सम्भव है कि शेख तकी से उनकी भेंट हुई हो और सत्संग भी हुआ हो किन्तु उनके साहित्य से किसी भी प्रकार से तकी का गुरु होना नहीं ठहरता। कबीर की शब्दावली में तकी के प्रति वह श्रद्धा नहीं व्यक्त होती है। यथा:—घट घट अविनासी अहै, सुनहु तकी तुम सेख।

कबीर का व्यक्तित्व:—कबीर अपने जीवन भर क्रान्तिकारी रहे। वे सच्चे सत्यान्वेषी थे। उच्च, प्राचीन, आर्ष, शास्त्र अथवा परम्परा में जहाँ कहीं असत्य या आडम्बर देखा वहीं विद्रोह कर दिया। वे जन्मजात अक्खड़ और मस्तमौला फक्कड़ थे। अत्याचारी लोदी शासकों के राज्य में जहाँ पूजा करने के कारण पुजारी जला दिये जाते थे, कबीर ने जिस साहस से क्रान्ति की आग लगाई, वह साधारण व्यक्तित्व का काम नहीं था। पिछला इतिहास तो यही बतलाता है कि जब कभी मानवता पर संकट आया है और भ्रष्टाचार तथा अत्याचार से पृथ्वी दबी है तभी कबीर जैसे किसी न किसी ज्वालामुखी का उद्गार हुआ है। आज देश की मानवता उससे भी अधिक संत्रस्त है। खद्दर-धारी नेता अजगर बनकर राष्ट्र को उसी प्रकार निगल रहे हैं जिस प्रकार कबीर के युग में धर्माधिकारी कर रहे थे। नीचे से ऊपर तक सारी जनता नेताओं की देखा देखी भ्रष्टाचार में लीन है। उधर देश शत्रुओं से घिरा है। देखें जनता में से कबीर का व्यक्तित्व कब फूटता है।

कबीर का साहित्य

कबीर की प्रामाणिक रचनाओं का पता लगाने के लिए अभी पर्याप्त शोध की आवश्यकता है। उन्होंने जो कुछ कहा या गाया, उनके शिष्यों या सत्संगी लोगों ने लिखा। खेद तो यह है कि उन लोगों द्वारा लिखी मूल प्रतियाँ भी उपलब्ध नहीं हैं। अनेक काल में लिखे गये अनेक स्थलों से जुटाकर उनके साहित्य का कुछ रूप निश्चित किया गया है। उन रचनाओं के मूल पाठ के सम्बन्ध में क्या कहा जा सकता है? अधिकांश विद्वानों द्वारा उनकी लगभग बारह सौ साखियाँ, आठ सौ पद तथा नब्बे रमैनियाँ ही प्रामाणिक मानी गई हैं।

उनकी रचनाओं को कई परम्पराओं से प्राप्त किया गया है जिनमें राजस्थानी, गुरु-ग्रन्थ-साहब और बीजक की परम्पराएँ मुख्य हैं। इनके

अतिरिक्त स्फुट-पदों, साखियों, पुराने संकलनों तथा मौखिक परम्पराओं से प्राप्त साहित्य भी हैं। स्थान-भेद से उनके साहित्य के पाठ-भेद हैं। प्रायः राजस्थानी, पंजाबी और पूर्वी पाठ मिलते हैं। यही कारण है कि सम्पूर्ण हिन्दी-प्रदेश की स्थानीय बोलियों और भाषाओं का प्रयोग हम उनके साहित्य में पाते हैं। फलस्वरूप लोग उनकी भाषा को खिचड़ी या सधुक्कड़ी कहने लगते हैं।

नागरी-प्रचारिणी-सभा ने अपनी खोज से उनके ग्रन्थों की संख्या ६१ बतलाया है। यदि हम सभी स्रोतों पर विश्वास करें तो उनकी संख्या २०० तक पहुँच जाएगी और छन्दों की संख्या सात लाख के लगभग हो जाएगी। इस महासागर में से कबीर की वास्तविक रचनाओं को प्राप्त करना बड़ा कठिन है। अपनी शोधों के पश्चात् विद्वान कुछ रचनाओं की प्रामाणिकता पर एक मत दिखाई देते हैं।

बानी—साखी ८०८ (अंग ५९), पद ४०३ (राग १५), रमैनी ७

आदि ग्रन्थ—पद २२८ (रागु १६), सलोकु २३८

बीजक—रमैनी ८४, सबद ११५, अन्य पद ३५, साखी ३५३

फिर भी उपर्युक्त तीनों ग्रन्थों में न तो पद्यों की संख्या एक सी है और न उनका वर्गीकरण और क्रम। इनमें रमैनी, सबदी, साखी नामक तीन स्थूल भेदों के अन्दर तीनों ही ग्रन्थों के समस्त पद आ जाते हैं और यही इन तीनों ग्रन्थों में साम्य हो सकता है। ऊपर साखी और सलोकु में केवल नाम का अन्तर है। सबद गेय पद ही हैं। रमैनियाँ चौपाई दोहे में हैं।

बानी में पद्यों की संख्या सबसे अधिक है और 'ग्रन्थ' में सबसे कम। यदि हम इन तीनों ग्रन्थों के पद्यों का मिलान करें तो केवल क्रम और वर्गीकरण का ही अन्तर नहीं दिखाई देता अपितु पद्य भी सब में एक ही अथवा एक ही रूप में नहीं हैं। समान पदों की संख्या की दृष्टि से बानी और ग्रन्थ में जितनी समानता है उतनी बीजक और बानी अथवा बीजक और ग्रंथ में नहीं है।

गुरु अर्जुनदेव ने सं० १६६१ में गुरु ग्रन्थ साहब में कबीर के २२८ पदों और २४२ साखियों का संग्रह किया। विल्सन ने कबीर के ग्रन्थों की संख्या ८ बतलाया है। वेंकटेश्वर प्रेस के 'कबीर सागर' में ४० ग्रन्थों का उल्लेख है। मिश्रबंधुओं ने यह संख्या ७५ और वेस्टकटने ८२ कर दी। बहुत से विचित्र ग्रन्थों की गणना भी कबीर के नाम पर की गई है, जैसे—मुहम्मद-बोध, कबीर-

संकराचार्य-गोष्ठी, कबीर-निरंजन-गोष्ठी, कबीर-देवदूत-गोष्ठी, यहाँ तक कि कबीर-गोष्ठी, आरती तथा कर्मकाण्ड ।

बात यह है कि कबीर ने योजना बना कर और कवियों की भाँति तो रचना की नहीं । वास्तव में वे विचारक और क्रान्तिकारी थे । उनका लक्ष्य था समाज का उद्धार । अपनी आवाज को जनता के हृदय तक पहुँचाने के लिए उन्होंने कविता को माध्यम बनाया । स्वयं कुछ लिखा भी नहीं । विभिन्न प्रान्तों से आये हुए सन्तों, शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी अभिव्यक्ति को अपने क्रम, अपनी शैली एवं अपने पाठों में लिपिबद्ध किया । पुनः कब कब और कहाँ कहाँ उन रचनाओं में कितना परिवर्द्धन तथा पाठान्तर होता रहा यह सब कल्पनातीत है । उनके नाम पर चलने वाले विशाल साहित्य का अम्बार लग गया है जिसमें से उनके मूल पाठ को निकाल लेना यद्यपि कठिन कार्य है फिर भी उस पर्वताकार साहित्य की चोटी से उनकी गरजती हुई आत्मा की ध्वनि युग-युग तक सुनाई देती रहेगी ।

कबीर की भक्ति

कबीर की साधना-पद्धति एवं विचार-परम्परा के सम्बन्ध में अनेक मत प्रस्तुत किये जाते हैं । कुछ लोगों का मत है कि कबीर ने अनेक देशी तथा विदेशी मतों और मार्गों का संग्रह करके एक नया पन्थ खड़ा किया और वह भी बेमेल तथा सामंजस्य विहीन है । कुछ लोग कबीर में कहीं ज्ञान की प्रधानता देखते हैं तथा कहीं भक्ति की अनन्यता । कुछ तर्क करते हैं कि कबीर में कहीं निर्गुण की उपासना है तो कहीं सगुण की भक्ति और कहीं सगुण-निर्गुण दोनों से परे परब्रह्म की स्तुति है । कहीं योग को अपनाया गया है तथा कहीं उसी की निन्दा की गई है ।

वास्तव में ऐसी असंगतियाँ उन्ही को दिखाई दे सकती हैं जिन्हें कबीर के व्यक्तित्व तथा पूर्ण साहित्य का बोध न हो अथवा जो व्यक्तिगत वाद विशेष से प्रेरित होकर उनकी समीक्षा करें । प्रत्येक युग में उपस्थित भीषण आवश्यकताएँ ही संयुक्त होकर व्यक्तित्व बनकर जन्म लेती हैं । उस व्यक्तित्व को भक्तजन अवतार तथा सुधरे हुए लोग नेता कहते हैं । राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, मार्क्स, गाँधी तथा अन्य कितने पुष्पो की माला में कबीर भी एक सुगन्धित पुष्प हैं । इन सभी व्यक्तित्वों को युग की आवश्यकता ने जन्म दिया ।

मिथ्याचारों, आडम्बरों, हिंसक प्रवृत्तियों, विद्वेष की चिनगारियों तथा शोषण से पीड़ित मानवता ने ही विराट व्यक्तित्व बनकर कबीर के रूप में जन्म लिया। कोई मत निश्चित करने के पूर्व सत्यान्वेषी आलोचकों को पहले उस विराट के समग्र रूप का दर्शन कर लेना चाहिए। कबीर अपने वास्तविक रूप में सच्चे भक्त हैं तथा बाद में और कुछ। यहाँ 'सच्चे' शब्द पर यदि ध्यान दें तो आलोचकों के मतभेदों की कलई खुल जायगी। कबीर की साधना व्यक्तिगत साधना नहीं थी। कबीर ने देखा कि समष्टि की साधना में कितनी बाधाएँ हैं। उन्हें उन बाधाओं (आडम्बरों, जाति-पाँति के भेदों) पर कठोर प्रहार करने पड़े और भटकती मानवता में आत्म-निर्भरता लाने तथा मिथ्याचारियों से उसकी मुक्ति के लिए ज्ञान का विस्फोट करना पड़ा जिससे समष्टि में सच्ची भक्ति की प्रतिष्ठा हो सके।

कबीर की भक्ति के मूल स्रोतः—

Yet the Bhakti movement to which he (Kabir) belonged was undoubtedly under obligation to Christian ideas.—Keay: Kabir and his followers, Chap. XI 'मि० के' का यह अनुसन्धान कितना हास्यास्पद है। उनके विचार से कबीर का भक्ति-आन्दोलन ईसाई विचारधारा का ऋणी है। उनका विचार है कि प्रथम शताब्दी में ही दक्षिण में ईसाई मत की प्रतिष्ठा हो चुकी थी जहाँ से भक्ति की धारा उत्तरी भारत में आई। अब 'मि० के' से उन्हीं की शैली में पूछा जा सकता है कि क्या ईसाई भक्ति-पद्धति उन उपनिषदों तथा नारद और शांडिल्य के भक्ति सूत्रों से निकली है जिनकी प्रतिष्ठा ईसा से सहस्रों वर्ष पहले ही हो चुकी थी ?

कुछ लोग कबीर की साधना-पद्धति का सम्बन्ध विदेशी सूफी-परम्परा से जोड़ते हैं और उसी से उसकी उपज भी बताते हैं। इन अतिवादों तथा भ्रान्तियों के कई कारण हैं। एक तो यह कि लोगों को भारत के अतिविशाल तथा प्राचीन साहित्य एवं दर्शन का क्रमबद्ध ज्ञान नहीं और दूसरे कबीर की व्यापक प्रतिभा तथा तत्व-ज्ञान से परिचय नहीं।। इससे अच्छा तो यह होता कि उक्त विद्वान् अपने निजी ज्ञान के प्रभाव को ही कबीर के साहित्य में ढूँढ निकालते। सहस्र वर्षों की दासता ने आत्म-ज्ञान को भी देश से मिटा दिया।

कबीर की भक्ति शुद्ध रूप से भारतीय है। जिस भक्ति की झलक गीता और उपनिषदों से निकलकर नारद के भक्ति-सूत्र (दक्षिणी भारत) और

शांडिल्य के भक्ति-सूत्र (उत्तर-भारत) में पूर्ण रूप से प्रकाशित हुई, उसी प्रकाश की धारा ने रामानुज तथा रामानन्द से तीव्र तेज-पुंज पाकर समग्र संत-साहित्यालोक को अपार-आलोक से भर दिया।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो माँ तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥—गीता-१८-५५

यही नहीं—यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुँस्याम् ॥
मुण्डकोपनिषद् मु० ३।२।४

अर्थात् जिसको वह वरण करता है उसी को प्राप्त होता है। 'सात्वस्मिन्परम प्रेमरूपा, भक्ति ईश्वर में परम-प्रेम-रूपा है—नारद भक्तिसूत्र। कर्म, ज्ञान और योग इन सबसे भक्ति श्रेष्ठ है—वही : सूत्र २५। भक्तों में जाति, विद्या, रूप, कुल, धन तथा क्रियादि का कोई भेद नहीं होता क्योंकि सभी भक्त भगवान् के हैं अथवा भगवान् के ही रूप हैं—वही : सूत्र २।३।

कहाँ तक कहा जाय, शांडिल्य के भक्तिसूत्र में भी भक्ति की वैसी ही स्पष्ट व्याख्या है। यथा—'ज्ञान से जीव की यह उपाधि नष्ट नहीं होती क्योंकि संसार मिथ्या नहीं है जो ज्ञान से उसका नाश हो। केवल भक्ति से उसका नाश सम्भव है।' अब इस व्याख्या को छोड़कर स्वयं कबीर के ही कुछ कथनों पर विचार किया जाय।

भगति नारदी रिदै न आई काछि कूछि तन दीना।

पुनः—भगति नारदी मगन सरीरा, ईहि विधि भव तिर कहैं कबीरा।

कहना न होगा कि यह नारदी भक्ति ही वैष्णव या भागवत भक्ति है। यथाः—"वैसनों की छपरी भली ना सापत का बड़ गाउँ।" कितना खुला परिचय है!

कबीर के हृदय में जिस निर्गुण की भक्ति है, वह निर्गुण उपनिषदों से आया हुआ, शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित (अद्वैत-ब्रह्म) तथा रामानुज द्वारा प्रतिष्ठित एवं रामानन्दद्वारा निर्देशित राम ही है।

निर्गुण की भक्ति का स्वरूपः—

यह शंका उठाई जाती है कि जो निर्गुण है उसकी भक्ति कैसे की जा सकती है। यह शंका आज ही की नहीं है। बहुत पहले सूर ने तो उस भक्ति की खिल्ली उड़ाने के लिए 'भ्रमरगीत' ही लिख मारा। समन्वयवादी तुलसी ने भी निर्गुण-भक्त विप्र को निर्गुण-पक्ष पर जोर देने के कारण शाप द्वारा काक बनने के लिए विवश कर दिया। किन्तु उन्हीं सन्तों ने अपने सगुण कृष्ण और

राम को अकल, अनीह, अनाम, निर्गुण तथा निराकार ही नहीं मन और बुद्धि से बाहर बताया।

इसका समाधान यह है कि शंकराचार्य का अद्वैत ब्रह्म भी अनुभूति का विषय है। यदि वह ज्ञान के क्षेत्र में अनुभूति का विषय हो सकता है तो वह भक्ति का विषय क्यों नहीं हो सकता। दूसरी शंका भी कबीर के ज्ञानवाद को लेकर उठाई जाती है। कहा जाता है कि कबीर-दर्शन का मूलतत्व है ज्ञान। वास्तव में सच्ची भक्ति को मिथ्याचारों तथा आडम्बरों से मुक्त करने के लिए ही उन्होंने ज्ञान का दण्ड उठाया। ऐसा करके सचमुच ही चकमे में फँसी हुई जनता को आत्म-बोध द्वारा उबार कर देश की बहुत बड़ी सेवा की।

कबीर का कहना था कि जिसका परिचय ही हमे ज्ञात नहीं उसकी भक्ति कैसी। भक्ति के मार्ग को प्रशस्त करने के लिए ही ज्ञान का प्रकाश उन्होंने किया। तत्वतः ज्ञान और भक्ति में विरोध नहीं है।

आँधी पीछे जो जल वूठा प्रेम हरी रस भीना।

ज्ञान की आँधी से जब मनोविकार उड़ जाते हैं तभी हृदय में भक्ति का संचार हो पाता है। यह तो एक मनोवैज्ञानिक सत्य है।

जिहि कुल पुत्र न ज्ञान विचारी। वाकी विधवा काहे न भई महतारी॥
कहै कबीर नर सुंदर सरूप। राम भगति बिनु कुचल कुरूप॥

इस उदाहरण से कबीर के ज्ञान और भक्ति के स्वरूपों के प्रति तो शंका नहीं रह जानी चाहिए। कबीर के निर्गुण-राम को कोई किसी भी नाम से पुकारे, कबीर को कोई एतराज नहीं। उनका तो बस इतना ही कहना है कि उस आराध्य के सत्य-रूप का सबको अवश्य बोध होना चाहिए। कबीर तो इसलिए हैरान हैं कि सम्प्रदायों और पन्थों का ढोंग खड़ा करके लोग एक ही तत्व (निर्गुण-राम) का भिन्न भिन्न नाम रखकर क्यों आपस में लड़ते हैं।

हमारे राम रहीम करीमा केसो अलह नाम सति सोई।
बिसमिल मेटि बिसंभर एकै और न दूजा कोई॥

भक्ति के प्रतिपादन में वे बराबर ज्ञान (सत्यान्वेषण) की चेतावनी देते हैं।

राम रहीम जपत सुधि गई। उनि माला उनि तसबी लई।
कहै कबीर चेति रे भौंदू। बोलन हारा तुरक न हिन्दू॥

कबीर के आराध्य इस्लाम के एकेश्वर नहीं, जो तुच्छ जीवों से दूर पवित्र सातवें आसमान पर रहते हैं। वह तोः—"रतन पदारथ घट ही माहीं।"

कौन विचार करत हौ पूजा। आतम राम अवर नहिं दूजा।

शंकर के अद्वैतवाद में ब्रह्म और जीव में भेद नहीं। कबीर कहते हैं:—

जल में कुंभ कुंभ में जल है बाहर भीतर पानी।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना यह तत कथौ गियानी॥

कबीर की भक्ति निष्काम है। सच्ची भक्ति से ही मुक्ति मिल सकती है।

क्या जप तप क्या संजमा, क्या तीरथ व्रत असनान।
जो पै जुगति न जानिए, भाव भगति भगवान॥

अतः—कहै कबीर एक राम जपहु रे हिन्दू तुरक न कोई।

ज्ञान ही नहीं योग भी उसी भक्ति का उपकरण है।

सहज सहज सब कोइ कहै, सहज न चीन्है कोय।
जिन्ह सहजै हरि जी मिलैं सहज कहीजै सोय॥

सगुणोपासकों के भगवान् दीनों और भक्तों की रक्षा करते हैं। कबीर का भगवान् की इस करुणा में विश्वास है।

राजा अंबरीष के कारन चक्र सुदरसन जारै।
दास कबीर को ठाकुर ऐसो भगत को सरन उबारै।

किन्तु यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि कबीर के ठाकुर निर्गुण हैं। कबीर के भक्तिपरक पदों तथा छन्दों में हृदय की सच्ची अभिव्यक्ति है। उनकी भक्ति का स्वरूप ज्ञान के प्रकाश में सदा चमकने वाला है। उनकी भक्ति का सारा रहस्य उसकी सच्चाई में है और वह सच्चाई तत्वतः ज्ञान ही है। कबीर के राम उनके माता, पिता, प्रभु तथा स्वामी सब कुछ हैं। वे उनके अपने हैं।

कबीर और रहस्यवाद

यह सृष्टि क्या है? उसका संचालक कौन, कैसा और कहाँ है? सृष्टि के आदि से आज तक इस प्रकार के प्रश्न रहस्य बने हैं। बड़ी साधना और तपस्या के बाद मानव जाति इस निष्कर्ष पर पहुँची है कि कोई अनन्त-अव्यक्त सत्ता है जो सृष्टि का संचालन कर रही है। भारतीय साधकों ने अपनी कठोर साधना द्वारा उस अनन्त सत्ता का प्रत्यक्ष दर्शन अपने भीतर और बाहर सर्वत्र किया। उन्हें यह ज्ञात हुआ कि वह सत्ता यद्यपि हमारी इन्द्रियों की पहुँच से बाहर (अव्यक्त) है फिर भी जीव के लिए बोधगम्य है। वही सत्ता सत्य है तथा शेष सृष्टि माया (मिथ्या) है। यह जीव उसी का अंश है और मुक्त

होकर वह उसी में लीन हो जाता है। जीव और ब्रह्म की तादात्म्यक अनुभूति के लिए ही भारत में योग (हठयोग ?) का जन्म हुआ तथा अनेक ज्ञानवादी दर्शन खड़े हो गये।

किसी भी सत्य का अनुभव करने के लिए हमारी चेतना-शक्ति के पास हृदय और मस्तिष्क दो अद्भुत यंत्र हैं। भक्ति का उत्पत्ति-स्थल हृदय और ज्ञान का मस्तिष्क है। उसी प्रकार काव्य हृदय का विषय है तथा दर्शन मस्तिष्क का। इसीलिए भारतीय साहित्य-शास्त्र में हृदय की रसानुभूति को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि उपर्युक्त युगल अनुभूतियाँ एक दूसरी से एक दम अलग नहीं की जा सकती हैं। किसी एक अनुभूति का प्राधान्य हो, यह दूसरी बात है। ज्ञान और भक्ति एवं काव्य और दर्शन की अनुभूतियाँ एक ही चेतन-शक्ति को होती हैं।

अब देखना है कि रहस्यवाद है क्या ? यह कहाँ की उपज है ? वास्तव में कोई रहस्यवादी कवि वाद की प्रतिष्ठा करने के लिए कविता करता है इसमें सन्देह है। 'वाद' को जन्म तो विचारकों तथा आलोचकों ने दिया है। रहस्य-वादी आलोचक जिस रचना में रहस्यानुभूति पाते हैं उसके कर्ता को रहस्यवादी कहने लगते हैं।

अवस्थी जी की एक परिभाषा जो शुक्ल जी के नाम से प्रसिद्ध हो गई है, यह है : "चिन्तन के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है, भावना के क्षेत्र में वही रहस्यवाद है।" शुक्ल जी का विचार है कि ज्ञान-क्षेत्र के अद्वैतवाद का संचार जब भाव-क्षेत्र में होता है तब उच्चकोटि के भावात्मक-रहस्यवाद की प्रतिष्ठा होती है। पुनः वे कहते हैं कि हमारे यहाँ का योगमार्ग साधनात्मक-रहस्यवाद है। उनके इस विवेचन से दो बातें स्पष्ट होती हैं। साधनात्मक-अनुभूति को भी रहस्यवाद की वस्तु मानते हैं और दूसरी यह कि भावात्मक-रहस्यवाद ही उच्चकोटि का होता है। यहाँ शुक्ल जी का 'उच्चकोटि' शब्द भ्रम उत्पन्न करने वाला है। वास्तव में रहस्यानुभूति अपने मूल में जीव की उच्चतम स्थिति की परिचायिका नहीं है। शुक्ल जी ने ऐसा पक्षपात भावुक-काव्यालोचक होने के कारण ही किया है तात्विक चिन्तन की पृष्ठभूमि पर नहीं। भावात्मक-रहस्यवाद काव्यलोक में उच्च मोहक आकर्षण और ब्रह्मानन्द सहोदर रस की सृष्टि करने वाला तो अवश्य होता है किन्तु तात्विक दृष्टि से रहस्यानुभूति की अपेक्षा जीव की एक ऐसी उच्चतम अवस्था होती है जहाँ पहुँचने पर उसे रहस्य जैसा भ्रम नहीं रह जाता और जहाँ वह ब्रह्म में मिलकर एकाकार हो जाता है। साधक

अपनी साधना द्वारा इसका अनुभव करते हैं। तब तो उनमें ऐसा प्रकाश आ जाता है कि उनके लिए कुछ रहस्य ही नहीं रह जाता है। अतः यह 'वाद' भावुक आलोचकों की एक लहक है जो उन्हें रस प्रदान करता है। यहाँ हम काव्य की रसानुभूति का तिरस्कार नहीं कर रहे हैं। साधक प्रत्यक्षदर्शी होता है।

अब कुछ व्यापक दृष्टि से विचार करना चाहिए। इतना तो स्पष्ट है कि इस रहस्यानुभूति का कारण ब्रह्म की अव्यक्तता है। रहस्यानुभूति एक मनोवैज्ञानिक स्थिति है। जब तक ब्रह्म और जीव के बीच द्वैतानुभूति की खाई है तब तक मिलने के पहले जीव को कई स्थितियों से गुजरना पड़ता है, उसे क्या क्या प्रयत्न करने पड़ते हैं। कभी वह उसे ज्ञान से पकड़ना चाहता है कभी हृदय से 'सम्बन्ध' जोड़ना चाहता है। भक्ति के मूल में यही 'सम्बन्ध' होते हैं। स्वामी-सेवक सम्बन्ध से दास्य-भक्ति मित्र-मित्र के सम्बन्ध से सख्य-भक्ति और पति-पत्नी सम्बन्ध से मधुरा-भक्ति की उत्पत्ति होती है, इसी मधुरा-भक्ति के उन्माद में जो रहस्यानुभूति हुई उसी ने हमारे प्रिय वाद को जन्म दिया। अन्य सम्बन्धों में खुली हुई स्थिति रहती है किन्तु कान्ताभाव में लज्जा के कारण गोपनीयता या रहस्य की स्थिति शायद रहती है ?

एक स्थान पर डॉ० भोलानाथ तिवारी कहते हैं: 'इस प्रकार निर्गुण एवं मधुरा-भक्ति का समन्वित रूप रहस्यवाद है।' पुनः आगे कहते हैं: 'इनकी समन्वित भावभूमि पर आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध-विकास की विभिन्न स्थितियों की साहित्यिक-अभिव्यक्ति ही रहस्यवादी साहित्य है।' यहाँ 'साहित्यिक' शब्द शुक्ल जी के 'भाव-क्षेत्र' का प्रतिनिधि है।

कबीर निर्गुण-भक्त हैं। अपनी भक्ति में उन्होंने अनेक सम्बन्ध जोड़कर अपने निर्गुण को अपनाने का प्रयत्न किया है। कभी दास बनकर और कभी दीन बनकर अपने आराध्य की 'सरन' में गिरते हैं तथा कभी वियोगिनी पत्नी बनकर विरह में तड़पते हैं। उनकी इसी स्थिति का सम्बन्ध यहाँ विवेचना के लिए प्रस्तुत है। कबीर के साहित्य में जहाँ इसकी अभिव्यक्ति हुई है आलोचक (सभी नहीं) वहाँ पर कबीर को सूफियों का ऋणी बताते हैं। ऐसा भ्रम इसलिए होता है क्योंकि न तो उन्हें भारतीय साहित्य और साधना-परम्परा का ज्ञान है और न कबीर के स्वरूप का बोध है। हो भी कैसे ?

कबीर की यह भक्ति भागवत की मधुरा-भक्ति की परम्परा में आती है जहाँ गोपिकाएँ आत्मा का प्रतिनिधित्व करती हैं और कृष्ण तो ब्रह्म हैं ही। इसी भक्ति का चरम उत्कर्ष यद्यपि सूर के 'भ्रमरगीत' में है जहाँ कृष्ण के वियोग में

गोपिकाएँ अपार वेदना सहती हैं किन्तु वहाँ सूर ने इस प्रकरण में अपनी सगुण-भक्ति को पुष्टि दी है हालाँकि गोपिकाएँ और स्वयं सूर भी स्पष्ट ही वहाँ पर आत्माओं का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं।

जिस प्रकार भारतीय-परम्परा में कृष्ण पति हैं और गोपिकाएँ पत्नियाँ उसी प्रकार निर्गुण पति हैं और कबीर स्वयं पत्नी। कबीर का यह आदर्श शुद्ध भारतीय है न कि विदेशी सूफी और फारसी। सूफी आदर्श शीरीं-फरहाद और लैला-मजनूँ के इश्क के ढर्रे पर चलने वाला है जहाँ पारलौकिक चेतना की तुलना में इहलौकिक ऐन्द्रिय-विलास अधिक मुखरित है तथा भारतीय मर्यादा तथा शैली के विपरीत जहाँ जीव ही पति और आशिक है तथा ब्रह्म पत्नी और माशूका है। दूसरी ओर भारतीय मर्यादा में पत्नी प्रेम-पथ में सचेष्ट है तथा सूफी-धरातल पर पति ही मजनूँ बना है। पता नहीं कैसे लोग कबीर की प्रेम-पद्धति को सूफियों की देन मानते हैं ?

कबीर की प्रेम-व्यंजना में कहीं भी ऐन्द्रियता की गन्ध नहीं है। उसकी दिव्य-अनुभूति हमारे अन्तर में इस असार संसार के प्रति विरक्ति तथा उस अलौकिक-सत्ता के प्रति आकर्षण उत्पन्न करती है। यदि रहस्यवादी नामका कोई साहित्य है तो निश्चित ही विश्व के सम्पूर्ण रहस्यवादी साहित्य में कबीर का पद उच्चतम है। केवल तात्त्विक दृष्टि से ही नहीं अनुभूति की दृष्टि से भी उनका स्थान दिव्यतम है। उनकी रहस्यवादी अभिव्यंजना में अनुरक्ति-विरक्ति, सत्य-असत्य, सार-असार, श्रेय-प्रेय के मोहक और भयानक रूपों के अतिरिक्त, काव्य-जगत की तथाकथित रसानुभूति ऐसी है, जिसकी प्रबलधारा भव के संतप्त जीवों को वेग से बहाकर ऐसे लोक के तट पर पहुँचा देती है जहाँ उस प्रिय के सिवा कुछ है ही नहीं। प्रिया और प्रिय मिलकर एक हो जाते हैं फिर केवल एक प्रिय ही रह जाता है। अब कहाँ है रहस्य और कहाँ रहस्यवाद ? यही कबीर के रहस्यवाद का रहस्य है। उनकी रहस्यानुभूति भी उनकी भक्ति का ही अंग है।

शुक्ल जी के समान कुछ आलोचकों ने कबीर के रहस्यवाद को साधनात्मक कहकर निम्नकोटि का बताया है। ऊपर की समीक्षा से उनके मतों का थोथापन कई दृष्टियों से सिद्ध हो गया। अब उनकी एक और दलील पर विचार करना चाहिए। जायसी से तुलना करते हुए वे कहते हैं: 'कबीर के रहस्यवाद में हमें प्रकृति के विविध चित्रों का माधुर्य नहीं दिखाई देता।' पुनः आगे कहते हैं: 'इसलिए जायसी का रहस्यवाद कबीर के रहस्यवाद से श्रेष्ठ है।'

ऐसा मूल्यांकन भावुकता के कारण किया है। सूफी साहित्य में प्रकृति की व्यापकता के साथ आराध्य की व्यापकता दिखाई गई है। जिस व्यापकता में हमको नाना प्रकार की अनुभूतियों का भी विस्तार मिलता है किन्तु कबीर के हृदय का झुकाव प्रियतम की ओर अधिक है और विश्व-प्रकृति की ओर कम। हृदय की तल्लीनता में वे सृष्टि की असारता तथा मिथ्यात्व का ज्ञान कभी नहीं खोते। इस प्रकार उनकी अनुभूति दिव्य और उच्चकोटि की है उनकी अनुभूति की तीव्रता और गहराई की उपेक्षा नहीं की जा सकती। कबीर की काव्य-रचना बनावटी नहीं और न प्रकृति-चित्रण के लिए उन्होंने किसी प्रबन्ध-काव्य की रचना की। उनके हृदय की सच्ची अनुभूतियाँ ज्यों की त्यों उनकी वाणी में फूट पड़ीं। उनके साहित्य में उमड़ने वाली वास्तविक रसधारा का अनुभव करने वाला कोई मर्मज्ञ कैसे कह सकता है कि कबीर का रहस्यवाद केवल साधनात्मक है ?

हठयोगियों ने अपनी साधना में जिस रहस्यानुभूति की प्राप्ति की थी कबीर ने उस स्थिति का बोध किया था। अकेले उस बोध की अभिव्यक्ति को ही देखकर सम्भवतः वैसा निर्णय किया गया होगा। कबीर सच्चे साधक थे, अतः उनकी अनुभूतियों में सच्चाई है। उनका सम्पूर्ण जीवन प्रियतम के रंग में रँगा था।

लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल।

इस लाली को देखने की सर्व प्रथम प्रेरणा गुरु से मिली (जिस काम को पद्मावत में हीरामन ने किया।) वह लाली एक ही स्थान पर नहीं है।

लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल।

राम के वियोग में कभी चैन नहीं मिल रहा है।

वासुरि सुख ना रैंणि सुख ना सुख सुपिनै माहिं।
कबीर बिछुट्या राम सूँ ना सुख धूप ना छाँह॥

विरहावस्था में संतप्त नारी का यह आर्तनाद किसको विचलित नहीं करेगा ?

है कैसा पर उपगारी हरि सौं कहै सुनाइ रे।
ऐसा हाल कबीर भए हैं बिन देखे जिव जाइ रे।

विरहिणी का करुणा-क्रन्दन कौन सह सकता है। वह कभी कुंज पक्षी के समान विलाप करती है और कभी रात भर तड़पने वाली चकई से भी बुरी दशा उसकी हो जाती है।

रात्यूँ रूनी विरहनी ज्यूँ वंचौ कूँ कुंज।
कबीर अंतर प्रजल्या प्रगट्या विरहा पुंज॥
चकवी बिछुटी रैणि की आइ मिली परभाति।
जे जन बिछुटे राम के ते दिन मिले न राति॥

यह कैसी व्याकुलशता है ? एक ओर विवशता और दूसरी ओर निष्ठुरता है।

आइ न सकौं तुझ पै, सकौं न तुझ बुलाइ।
जियरा यों ही लेहुगे, विरह तपाइ तपाइ॥

इस पीड़ा के मर्म को सभी लोग नहीं समझते। आलोचक ध्यान दें।

या बड़ विथा सोइ भल जाने, राम विरह सर मारी।
कै सो जाने जिनि यहु लाई कै जिन चोट सहा री॥

क्या पीड़ा हृदय फाड़कर दिखाई जाती है ? इससे अधिक वाणी क्या कह सकती है ?

यहु तन जालौं मसि करूँ ज्यों धूवाँ जाइ सरग्ग।
मति वै राम दया करैं, बरसि बुझावैं अग्गि॥

विश्व-प्रकृति अर्थात् इस संसार की असारता का भंडाफोड़ वहाँ तो एक दम हो जाता है जहाँ कबीर प्रियतम के घर की यात्रा प्रारम्भ करते हैं। शव यात्रा ही कबीर की मंगल यात्रा है। उस समय वे सखियों से अपनी माँग सँवारने के लिए कहते हैं।

कबीर की विरहिणी, प्रिय से मिलने के लिए शृंगार करती है और बहुत सी आशाएँ भी करती है। मिलन ही अन्तिम लक्ष्य है। विश्व में बेजोड़ है।

अबको बेर मिलन जो पाऊँ, कहै कबीर भौ जलि नहीं आऊँ।

अब उनके प्रिय मिल गये:—

चरननि लागि करौं बरिआई। प्रेम प्रीति राखौं उरझाई।

कबीर : काव्य-कला

समझ में साफ आ जाये फसाहत उसको कहते हैं।
असर हो सुनने वालों पर बलागत उसको कहते हैं॥

जो कविता किसी के मस्तिष्क में न समाये और उसमें चमत्कार तो हो किन्तु अन्त में हृदय में उसका कोई प्रभाव न रह जाय, ऐसी कविता को उत्कृष्ट भले ही कहा जाय जन-मानस में अमर बनकर नहीं रह सकती।

अच्छे-अच्छे मर्मज्ञों ने अलंकार-छन्द विहीनता, शुष्कता तथा संकीर्णता का दोष दिखाकर कबीर के साहित्य की उपेक्षा की है। निश्चित ही उन लोगों ने उनके साहित्य का सही मूल्यांकन नहीं किया है। इस कार्य के लिए कबीर के युगप्रवर्तक रूप को पहले समझना आवश्यक है। कबीर जिस प्रकार तत्त्व-ज्ञानी, सन्त, सूक्ष्मदर्शी, युगद्रष्टा, समाज-उद्धारक, नेता, योगी, फकीर तथा सशक्त क्रान्तिकारी योद्धा हैं उसी प्रकार युग-प्रवर्तक क्रान्तिकारी कवि और साहित्यकार भी हैं। कबीर शताब्दी के नहीं अपितु सहस्राब्दी के महान् व्यक्तित्व हैं। समाज की ज्वालामुखी के भीतर की वह अग्नि हैं, जो कभी बुझ नहीं सकती।

वीरगाथा काल के कवि प्राकृत जन (राजाओं) को रिझाने के लिए उनकी झूठी प्रशंसा में कविता-कामिनी का शृंगार करते आ रहे थे। उनकी दृष्टि में सामान्य जनता भेड़ बकरी के समान थी। कबीर ने रूढ़िवादी तथा अप्राकृतिक काव्य-परम्परा पर कठोर प्रहार किया। उन्होंने तिरस्कृत समाज के लिए रूढ़ियों के भीषण रण-क्षेत्र में वाणी के अस्त्र को लेकर कठिन समय में पदार्पण किया। कविता उनके उद्देश्य की दासी थी सर्वस्व नहीं। उनकी कविता में मीरा की दिव्यता और पवित्रता थी न कि वैजन्तीमाला और सुरैया का आकर्षण ?

आलोचक उनकी कविता में प्रकृति के नाना चित्र, जीवन के बहुरंगी रूप तथा काव्य के अनेक आकर्षक गुणों की खोज करते हैं। उन्हें सोचना चाहिए कि कबीर ने तो ऐसे ही आडम्बरों के विरुद्ध क्रान्ति की। क्या सरलता में अलंकारों से अधिक आकर्षण नहीं होता ? जिस साहित्य में सम्पूर्ण सृष्टि की असत्यता, समाज के मिथ्याचारों तथा वास्तविक सत्य तत्त्व पर प्रकाश डाला गया है उसके विषय को संकीर्ण कहना केवल बुद्धि और रुचि की संकीर्णता है। उन्होंने विश्व के सम्पूर्ण समाज को सामने रखकर उसी के लिए कविता की। इसके अतिरिक्त अपनी अनुभूतियों तथा चेतना को जनता के मस्तिष्क और हृदय में उतारने के लिए जनवाणी के माध्यम को महत्त्व प्रदान किया, यह उनकी दूसरी क्रान्ति थी। आडम्बरों के पर्दे को फाड़कर अनुभूति तथा चेतना की सत्यता को महत्त्व प्रदान करके उन्होंने तीसरी क्रांति की।

लौकिक रसानुभूति को दिव्यानुभूति में परिवर्तित करके उन्होंने चौथी क्रान्ति की। शास्त्रीय छन्दों के साथ लोक प्रचलित छन्दों को स्थान देते हुए यत्र-तत्र पिंगल के नियमों को भंग करके कवि के भावों की स्वतंत्रता का उद्घोष किया। उनके छन्दों में अतुकान्त छन्दों से क्या कम सौन्दर्य है ? कबीर के इस

क्रान्तिकारी दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए उनकी काव्य-कला की समीक्षा होनी चाहिए।

जटा बाँधि बाँधि जोगी मुये, इनमें किनहूँ न पाई।
कवि कवीनै कविता मुये, कापड़ी केदारों जाई॥

यहाँ कवि और कविता के सम्बन्ध में कबीर के दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाते हैं। कबीर की रचनाएँ चार प्रकार की हैं, उपदेशात्मक, योग से संबद्ध, रसात्मक और उलटवासियाँ। उपदेशात्मक रचनाओं के विषय दर्शन, धर्म, आचार, समाज, व्यवहार और नीतियाँ हैं और कला की दृष्टि से मध्यम कोटि की रचनाएँ हैं फिर भी स्पष्टता, अनुभूति की गहराई और प्रभविष्णु अभिव्यक्ति की दृष्टि से उच्चकोटि की हैं। योगपरक छन्दों तथा उलटवासियों में यद्यपि कलात्मक गुण नहीं हैं किन्तु उनमें अद्भुत रस तथा आकर्षण शक्ति पर्याप्त है। अपने स्थान पर उनका भी विशेष महत्व है।

काव्य में साधारणीकरण की अवस्था रस की चरमावस्था है। यह वह धरातल है जहाँ आश्रय, कवि तथा पाठक के हृदय एकाकार हो जाते हैं। कबीर की कविता में बौद्धिक और हार्दिक दोनों प्रकार के साधारणीकरण होते हैं। उनके काव्य का मेरुदण्ड बुद्धितत्त्व माना जाता है। कबीर की कल्पना भी उर्वरा है। उपमा, रूपक, उदाहरण तथा दृष्टान्त आदि के लिए उपमानों तथा प्रतीकों को देखकर उनकी कल्पना-शक्ति का पता चलता है। वाणी का स्तर तथा कला का वही रूप उन्हें मान्य था जो उनकी अनुभूतियों तथा विचारों को सामान्य जनता के हृदय तथा मस्तिष्क तक पहुँचाने में सहायक हो सके। उनकी उलटवासियाँ मिथ्याभिमानी पंडितों के लिए एक चुनौती थीं तथा सामान्य जनता में रुचि तथा जिज्ञासा उत्पन्न करने के लिए संबल थीं।

कबीर के काव्य में रस :—

वियोग शृंगार :—

हूँ तेरा पंथ निहारूँ स्वामी। कब रे मिलहुगे अंतरजामी॥
जैसे जल बिना मीन तलपै। वैसे हरि बिन मेरा जियरा कलपै॥

शान्त :—हरि संगत सीतल भया मिटी मोह की ताप।
निसि वासर सुख निधि लह्या, अंतरि प्रगट्या आप॥

वीभत्स :—जे जारे तो होइ भसम तन रहित किरस जल खाई।
सूकर स्वान काग को भखिन तामें कहा भलाई॥

अद्‌भुत :—एक अचंभा देखा रे भाई। ठाढ़ा सिंघ चरावै गाई॥
वीर :—गगन दमामा बाजिया पड्या निसानैं घाव।

अलंकारों के स्वाभाविक प्रयोग :—

रूपक :—नैनों की करि कोठरी पुतली पलंग बिछाय।
पलकों की चिक डालिकै पिय को लिया रिझाय॥

अन्योक्ति :—माली आवत देखिकै कलियाँ करी पुकार।
फूले फूले चुनि लिए काल्हि हमारी बार॥

विभावना :—बिन मुख खाइ चरन बिन चालै। बिन जिभ्या गुण-गावै॥

उलटबासियाँ:—इनकी परम्परा का प्रारम्भ वेदों से ही हो जाता है। सिद्धों ने अपने गूढ़ तथ्यों की अभिव्यक्ति के लिए इस शैली का खूब प्रयोग किया। कबीर ने भी इस शैली का पर्याप्त प्रयोग किया। सूर के दृष्टिकूट भी कुछ इसी प्रकार के हैं।

कबीर की भाषा :—

कबीर की भाषा को लोग खिचड़ी और सधुक्कड़ी कहते हैं। वह सधुक्कड़ी इसलिए है कि कबीर स्वतंत्र प्रकृति के मस्तमौला फकीर थे जिनके व्यक्तित्व की छाप शैली और भाषा पर पड़ी। खिचड़ी होने के दो कारण थे। पहला तो यह कि व्यापक पर्यटन और सत्संग के कारण उनकी वाणी का भंडार विशाल हो गया था और दूसरा यह कि अपने उद्‌गारों को उन्होंने स्वयं नहीं लिखा बल्कि विभिन्न प्रान्तों से आये शिष्यों और भक्तों ने उन्हें लिपिबद्ध किया। उनकी भाषा के सम्बन्ध में एक स्थान पर शुक्ल जी कहते हैं: 'साखी की भाषा सधुक्कड़ी अर्थात् राजस्थानी पंजाबी मिली खड़ी बोली है, पर रमैनी और सबद में गाने के पद हैं, जिनमें ब्रजभाषा और कहीं कहीं पूरबी बोली का भी व्यवहार है।'

बा० श्यामसुन्दर दास ने लिखा है : 'कबीर में केवल शब्द ही नहीं क्रियापद, कारक चिह्नादि भी कई भाषाओं के मिलते हैं। क्रियापदों के रूप अधिकतर ब्रजभाषा और खड़ी बोली के हैं। कारक चिह्नों में से, कै, सन, सा आदि अवधी के हैं।'

डॉ० रामकुमार वर्मा लिखते हैं : "कबीर के काव्य का व्याकरण पूर्वी हिन्दी रूप ही लिये हुए है। उसमें स्थान स्थान पर पंजाबी प्रभाव अवश्य दृष्टिगत होता है किन्तु प्रधान रूप से अवधी व्याकरण के रूप ही मिलते हैं।"

डॉ० उदयनारायण तिवारी का कहना है : "वास्तव में कबीर की मातृ-भाषा बनारसी बोली थी जो भोजपुरी का ही मूल रूप है।" सूर्यकरण पारिख ने बड़े जोरदार शब्दों में लिखा है : "विषमता होने पर भी हम यहाँ पर यह कहने का साहस करते हैं कि कबीर की भाषा राजस्थानी है एवं कबीर को वैसे ही राजस्थानी का कवि कहा जा सकता है जैसा कि ढोला मारू काव्य के कर्ता को।" नीचे एक दोहा है। पता नहीं किसी अन्य का है अथवा कबीर स्वयं कहते हैं :

बोली हमरी पूरब की हमै लखै नहिं कोय।
हम को तो सोई लखै धुर पूरब का होय॥

कुछ उदाहरण :—

ब्रज : 'मेरो मन लागो तोहि रे।' 'को काको बाप।'

राजस्थानी: 'गोव्यंदे तुम थैं डरपौं भारी।'

खड़ीबोली : 'आऊँगा न जाऊँगा मरूँगा न जीऊँगा।'

अवधी : 'साध संगत मिलि करहु विचारा।'
'तू पंडित का कथसि गियाना।'

भोजपुरी : 'फुलवा भिनसि गैल भौंरा निरासल।'

विकास की दृष्टि से नाथों की भाषा का विकसित रूप ही कबीर की भाषा है। कबीर के विचार से 'संस्कृत कूप-जल' और 'भाषा बहता नीर' है। नफर, अहला, सुन्नत जैसे अरबी-फारसी के क्लिष्ट शब्दों के प्रयोग भी कबीर ने किये हैं। हंस (ज्ञानी, संत), अंकुर (अहंकार), कंत (ब्रह्म), तेल (प्रेम), पांडव (इन्द्रियाँ), मोती (मन), चूल्हा (चित्त), चौरासी (योनियाँ), मकड़ी (माया), मूस (मन), तथा बढ़ई (गुरु) जैसे प्रतीकात्मक शब्दों के प्रयोग उनके साहित्य में प्रचुरता से मिलते हैं। उनकी भाषा स्वाभाविक और प्राणयुक्त है।

समाज-सुधारक कबीर

युग-विशेष की उत्कट आवश्यकताएँ ही घनीभूत और विकल होकर व्यक्तित्व के रूप में जन्म लेती हैं, इतिहास, पुराण और अनुभव इसके साक्षी हैं। उसी व्यक्तित्व को भक्त लोग अवतार और सुधरे हुए लोग नेता कहते हैं।

राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा और मुहम्मद वही व्यक्तित्व हैं जो मानवता में प्रकाश बनकर आए। महात्मा कबीर भी उसी कड़ी के एक प्रकाश-स्तम्भ हैं। यह ध्यान में रखना चाहिए कि यह प्रकाश की कड़ी, विश्व-मानवता की एक अमूल्य निधि है जिसकी चमक को देश, जाति और काल की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। वे युग-प्रवर्तक थे।

खेद की बात है कि विश्व-समाज ने अपने को विरोधी वर्गों में बाँट रखा है। उससे भी अधिक घृणा की बात यह है कि प्रत्येक कल्पित वर्ग अपने प्रकाश-स्तम्भ को अवतार मान कर उसी के नाम पर जाति, सम्प्रदाय या पन्थ खड़ा करके अपने अवतार की कल्पनाओं के विरुद्ध आचरण करता है फिर भी उसकी श्रेष्ठता के नाम पर अपने को अन्य से श्रेष्ठ समझता है।

प्रत्येक नेता और अवतार ने सम्पूर्ण शक्ति से जन्म भर मानव-समाज में ज्योति फैलाने का प्रयत्न किया। बहुतों की तो जान ही इस समाज ने ले ली। क्राइस्ट, कृष्ण, लिंकन, गाँधी और केनेडी की मृत्यु कैसे हुई? भारत की वर्तमान व्यवस्था जो गाँधी-दर्शन के आधार पर खड़ी है, देश का रक्षक बनकर सारे देश को निगल चुकी है। भिक्षुओं के भ्रष्टाचार तथा अतिचारों से पीड़ित मानवता ने शंकराचार्य को जन्म देकर जिस प्रकार युग-प्रवर्तन किया उसी प्रकार हो सकता है कि शीघ्र ही समाज में कोई ज्योति फूटे जो अपनी करुणा द्वारा इन भ्रष्टाचारियों से देश को मुक्त कर दे और यह नेता-तंत्र भी इतिहास की सामग्री बन जाय। समय बताएगा।

कबीर मानवता की वही पुकार हैं, ज्योति के वही स्तम्भ हैं और हैं वही प्राणियों के उद्धारक। कबीर ऐसे अवतार और नेता हैं जिन्होंने ज्ञान का दीपक लेकर समाज के कोने कोने की छानबीन की। जहाँ अन्धकूप था वहाँ प्रकाश रखा, जहाँ ऊँचा-नीचा या ऊबड़-खाबड़ था बड़े श्रम से बराबर किया, जहाँ हिंसक विषैले तत्व थे अथवा जहाँ भीतर तक रोग समाये हुए थे शल्य-क्रिया अथवा अच्छी औषधियों द्वारा शमन किया, सड़े-गले दुर्गन्धित तत्वों को जलाया, अमर-बेलियों को सींचा और मृतक तत्वों में प्राण का स्पन्दन तथा संचार किया। उनके तेजस्वी तथा करुणा-हृदय से निकली रस-धारा ने दुर्बलों-दुखियों के लिए संजीवनी (विटामिन कम्प्लेक्स) का काम किया। इस सन्त ने पीड़ित समाज के लिए क्या नहीं किया?

कबीर का हृदय विशाल था जिसमें दुखी समाज के लिए व्यापक जगह थी। उनके भीतर-बाहर सर्वत्र प्रकाश था, अतः उन्होंने समाज के प्रत्येक अंग को साफ साफ देखा। उनमें शंकर की प्रलयकारी प्रहारक शक्ति थी। वे मंगल-

कारी गणेश और कल्याणकारी शिव थे। वे सृजनकारी ब्रह्मा और दुखी-दीनों के विष्णु थे। वे विराट के मुख थे जिसमें सभी वाद-सम्प्रदाय, वेद-पुराण से लेकर लोक-अलोक तथा अण्ड-ब्रह्माण्ड सभी समा सकते थे।

कबीर की कविता-कामिनी पीड़ित-समाज रूपी भगवान् के चरणों में समर्पित थी। उनके ज्ञान में विस्फोटक ज्वाला थी जो समाज के अन्धकार को उड़ा देने वाली थी। रुढ़ियों, मिथ्याचारों तथा आडम्बरों के नाग-पाश से जनता को मुक्त करने वाले वे समर्थ गरुड़ थे। जनता-राम के कार्य साधने वाले वे वीर और भक्त हनुमान थे। मुट्ठी भर ठटरियों मे कितनी अद्भुत शक्ति थी!

कबीर ने जो सोचा वही सिखाया और स्वयं भी किया। उस अपार तत्त्व-दर्शी ने मृत्यु के समय मगहर को वरण किया। उन्हें पता था कि असत्य पर आधारित कथनी और करनी का अन्तर समाज को ले डूबता है! उनकी दृष्टि कितनी पैनी थी। आज भी हम गाँधी-दर्शन की दुहाई देने वाले नेताओं की करनी को देखकर देश तथा समाज के भविष्य का अन्दाजा लगा सकते हैं।

कथनी कथी तो क्या भया, जो करणीं ना ठहराइ।

अतः—जैसी मुख ते नीकसै तैसी चालै चाल।

उन्होंने स्पष्ट देख लिया थाः—

'एक न भूला दोइ न भूला भूला सब संसारा'।

समाज की विचित्र दशा थी:—

इक जंगम इक जटाधार। इक अंग विभूति करै अपार॥
इक आराधे सकति सीव। इक परदा दै दै बधै जीव॥
इक पढ़हिं पाठ, इक घूमहिं उदास। इक नगन निरंतर रहै निवास॥
इक हूँहि दीन इक देहिं दान। इक करैं कपाली सुरा पान॥
इक तीर्थ व्रत करि काया जीत। ऐसे रामनाम से करैं न प्रीत॥
पंडित जन माते पढ़ि पुरा। जोगी माते धरि-धरि धियान॥
सन्यासी माते अहमेव। तपा जु माते तप के भेव॥
सब मदमाते कोऊ न जाग। संग ही चोर घर मूसन लाग॥

वेषधारियों से कहाः—केसों कहा बिगाड़िया जो मूड़े सौ बार।
मन को काहे न मूड़िये जामें विषै विकार॥

रंगे हुए वैष्णवोंसे कहाः—वैस्नो भया तो क्या भया, बूझा नहीं बवेक।
छापा तिलक बनाइ करि दग्ध्या लोग अनेक॥

शाक्तों के घृणित समाज-विरोधी आचरण से वे बहुत दुखी थे।

(अ) पापी पूजा वेस करि भषे मांस मद दोइ।
(आ) साकत ते सूकर भला, सूचा राखे गावँ।
(इ) साकत संग न कीजिए, दूरहि जइये भागु।
बासन कारो परसिये, तउ कछु लागे दागु॥

दूसरी ओर प्रेम और रहम पर आधारित इस्लाम के पाक मजहब के अनुयायी इस्लाम की पाकियत से दूर रहते हुए भी अपने को मुसलमान कहते थे। उनके ढोंग की पोल खोलना भी कबीर ने आवश्यक समझा।

सुन्नत :—सुन्नत किये तुरुक जो होइगा औरत को क्या कहिए।

हज्ज-काबा :—सेख-सबूरी बाहिरा, क्या हज काबै जाइ।
जाका दिल साबत नहीं ताको कहा खुदाइ॥

अजान :—काँकर पाथर जोरि कर, मस्जिद लया चिनाय।
ता चढि मुल्ला बाग दै क्या बहिरा हुआ खुदाय॥

हिंसा :—(अ) स्वारथ अरथ वधें ए गाई।
(आ) जाको दूध धाइ कर पीजै। ता माता को बध क्यों कीजै॥

अन्त में कहते हैं :—कहै कबीर एक राम जपहु रे हिन्दू तुरक न कोई॥

यहाँ ध्यान में रखना चाहिए। इन खंडनों में कबीर का दृष्टिकोण विघटनकारी नहीं था। वे सत्य के धरातल में समन्वय करने पर तुले हुए थे। जिस मानवधर्म की कल्पना आज विश्व कर रहा है आज से ५०० वर्ष पूर्व ही कबीर खुले मैदान में उसकी प्रतिष्ठा कर चुके थे। उनके समन्वय का लक्ष्य यही मानववाद था। उसकी आधार-शिला कमजोर नीवँ पर नहीं थी। अद्वैत वाद की वज्र-चट्टान स्वयं आधार-शिला थी।

सामाजिक और व्यक्तिगत दोनों जीवनों में आचरण की सत्यता पर उन्होंने सर्वाधिक बल दिया। सत्याचरण पर ही समाज टिकता है। आडम्बर पर खड़ा समाज धराशायी हो जाता है। इसीलिए उन्होंने आडम्बरों की धज्जी उड़ाकर सत्याचरण का द्वार मुक्त किया।

सन्ध्या-गायत्री :—

'संध्या प्रातइस्नान कराहीं। जिउ भए दादुर पानी माहीं।'

श्राद्ध-तर्पण :—

'कहि कबीर मोहि अचरज आवै। कउवा खाय पित्र क्यों पावै।'

तीर्थाटन :—

'लउकी अटसटि तीरथ न्हाई। करुआपन तऊ न जाई॥'

जप-माला :—

'माला तो कर में फिरे, जीभ फिरे मुख माहिं।
मनुवाँ तो दस दिस फिरे, यह तो सुमिरन नाहिं॥'—कैसा कठोरसत्य है ! इस प्रकार कपट, परनिन्दा, धन-संग्रह, वाचालता, छुआछूत तथा हिंसा आदि समाज-विरोधी तत्त्वों पर कबीर ने बार बार प्रहार किया है।

कबीर का साहित्य विश्व-समाज का साहित्य है। जिस समता के धरातल में उन्होंने मानव-समाज का विश्लेषण किया है वह बहुत व्यापक और शाश्वत है। उनके इस समत्ववाद की तुलना में कोई भी सामाजिक वाद निम्नकोटि का है। इस व्यापक प्रश्न की थोड़ी समीक्षा भी यहाँ अपेक्षित है। आगे विचार करने के लिए कबीर की पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं।

कबीर जे धन्धे तौ धूलि, बिन धन्धै धूलै नहीं।
ते नर बिनठे मूलि, जिनि धन्धे में ध्याया नहीं॥

अर्थात् समाज में जो काम नहीं करता (केवल नेतागीरी करता या शोषण के बल पर जीता है अथवा भीख माँगता है !) वह पवित्र नहीं होता और वह मनुष्य तो समूल नष्ट हो जाता है जो केवल काम में लीन रहता है (केवल भौतिक वादी हो जाता है) तथा ध्यान- चिन्तन नहीं करता।

आज विश्व में समता का सबसे बड़ा उद्घोषक साम्यवाद माना जाता है। जारशाही से पीड़ित परिस्थियों ने मार्क्स के उग्र व्यक्तित्व को जन्म दिया। इस व्यक्तित्व का अंकुर जिस धरती से निकला उसकी मिट्टी में प्राचीन भारतीय-मिट्टी के पोषक तत्त्व नहीं थे अथवा वह इससे भिन्न थी। यह भी ठीक है कि उस व्यक्तित्व की वहाँ आवश्यकता थी। क्या वह साम्यवाद विश्व और समाज की समस्याओं को हल कर सका है ! मानव क्या यंत्र मात्र है ! यदि पुनर्जन्म की बात हम छोड़ भी दें तो देखेंगे कि मानव की आशाएँ-आकांक्षाएँ न केवल ज्यों की त्यों हैं बल्कि चीनी साम्यवाद संगठित होकर अपना तथा विश्व का सर्वनाश करने पर तुला हुआ है। यह है भौतिकवाद की माया।

मानवता का दूसरा बड़ा शत्रु इस समय पूँजीवाद है। व्यष्टि को समान-अवसर देने वाले सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करके इसमें शोषकों का द्वार खोल दिया

गया है शोषण और भ्रष्टाचार संवैधानिक धारा बन गये हैं। कबीर के अहिंसा सत्य एवं ज्ञान के मंत्रों द्वारा जगी हुई मानवता ही विश्व, समाज तथा जीवन समस्याओं का समाधान कर सकती है। देखें कब इस समाज में कबीर की शूरता तथा तेज से भरी हुई करुणा व्यक्तित्व बनकर फूटती है और डूबे हुए समाज का उद्धार करती है। आज उद्धार ही विश्व तथा राष्ट्र की मुख्य समस्या है।

सूफी-मत तथा साहित्य

सूफी लोग विलास-रहित सरल जीवन व्यतीत करते थे। मोटे सफेद ऊन का चोगा पहनते थे। फारसी में ऊन को सूफ कहते हैं अतः उन सन्तों को सूफी कहा गया। कुछ लोगों का मत है कि यूनानी शब्द Sophos का अर्थ बुद्धिमान या ज्ञानी है। ज्ञानी होने के कारण वे सूफी कहलाये। अंग्रेजी के शब्द फिलासोफी Philosophy में यही Sophos शब्द है। जहाँ तक सम्भव है ऊनी चोगा ही के कारण उन्हें सूफी कहा गया होगा।

सूफी दर्शन का मेरुदण्ड है प्रेम की पीर और 'सूफी' शब्द का सम्बन्ध इस अनुभूति से नहीं है। सूफियों का सफेद ऊनी वस्त्र उनकी सादगी, सरलता तथा पवित्रता का द्योतक है। सूफी मत का प्रचलन प्रायः मुहम्मद साहब के दो सौ बरस बाद हुआ। इस्लाम-धर्म के अनुयायियों की कट्टरता से पीड़ित परिस्थितियों ने ही सम्भवतः मंसूर को जन्म दिया जिन्होंने अनलहक (मैं ब्रह्म हूँ) का नारा बुलन्द किया, जैसा कि इस पतित समाज ने इतिहास में बार बार किया है 'मंसूर को भी सूली दी गई। सूफी दर्शन का ब्रह्म भी लगभग अद्वैतवादी सर्वव्यापी ब्रह्म ही है जो इस्लाम के एकेश्वरवादी (सब जीवों का सम्राट तथा सबसे अलग निवास करने वाले) ब्रह्म से सर्वथा भिन्न है। इसका दर्शन भारतीय वैज्ञानिक-दर्शन से मेल खाता है।

दूसरी भिन्नता सूफी आचरण में है। उनका प्रेम, उनकी सरलता तथा करुणा भारतीयता के अधिक निकट है। इस प्रकार सूफी साहित्य का शरीर फारसी (कुछ सीमा तक ?) हो सकता है कि किन्तु उसकी आत्मा नितान्त भारतीय है। इस मत की सहिष्णुता यद्यपि अकबर के दीन-इलाही-मत में (झलक मात्र ही सही) थोड़ी सी एक क्षण के लिए दिखाई पड़ी परन्तु मंसूर से लेकर अन्त तक ध्यान से देखा जाय तो यही निष्कर्ष निकलता है कि इस्लाम के अनुयायियों की कट्टरता इतनी निर्मम और कठोर थी कि उसे इस पवित्र सम्प्रदाय की करुणा तनिक भी पिघला न सकी।

भारत में सूफी सम्प्रदाय का सर्व प्रथम प्रवेश लगभग बारहवीं शताब्दी में

हुआ। इस सम्प्रदाय में अनेक सन्त, प्रसिद्ध कवि भी हुए जिनकी कविता से निकली रस-धारा ने सूखे हुए हृदयों को सींचा और वह आज भी सूखी नहीं है। उन सभी सन्तों के साहित्य का प्रतिनिधित्व जायसी का अमर साहित्य करता है। जायसी की भूमिका में अन्य कुछ सन्तों के साहित्य का सामान्य परिचय देना अप्रासंगिक न होगा। यहाँ हिन्दी के सूफी अवधी-साहित्य का ही परिचय देना उचित है।

कुतुबन :

इन्होंने 'मृगावती' की रचना सं० १५५८ में की। इसमें प्रेम-मार्ग की कठिनाइयों का मार्मिक चित्रण है। मृगावती उड़ने की विद्या जानती थी। चन्द्रगिरि के राजा गणपतिदेव के राजकुमार से उसका प्रेम-सम्बन्ध हो गया। राजा को छोड़कर वह उड़ गई। राजा उसके वियोग में वन वन की ठोकरें खाने लगा। इसी बीच उसने एक राक्षस के चंगुल से रुक्मिन नामक कन्या का उद्धार किया तथा उससे विवाह कर लिया। पुनः मृगावती भी मिल गई। तीनों सुख से रहने लगे। इसी बीच हाथी से गिरकर राजा की मृत्यु हो गई। बस दोनों रानियाँ भी सती हो गईं।

मंझन : (सं० १५५०–९५) :

इनके ग्रन्थ 'मधुमाल्ती' में कलेसर के राजा सूरजमान के पुत्र मनोहर तथा महारस नगर की राजकुमारी मधुमाल्ती के प्रेम तथा वियोग की कथा है। अप्सराएँ पहले मधुमाल्ती के पास मनोहर को पहुँचा देती हैं जहाँ दोनों परस्पर आकर्षित होते हैं। पुनः वनमें वियोग होता है और बड़ी कठिनाइयों के बाद फिर दोनों का मिलन होता है।

जायसी : (सं० १५५०–१६००) :

इनके २० ग्रन्थ बताए जाते हैं जिनमें पद्मावत, अखरावट तथा आखिरी-कलाम तीन ही ग्रंथ उपलब्ध हैं। जायसी की चर्चा आगे विस्तार से की जायेगी।

उसमान :

गाजीपुर निवासी शेख हुसेन के पुत्र तथा हाजी बाबा के शिष्य थे। इन्होंने जहाँगीर के शासन-काल में सं० १६५३ में 'चित्रावली' की रचना की। चित्रावली तथा नेपाल के राजकुमार धरनीधर के बीच पूर्वानुराग चित्र-दर्शन से हुआ फिर बड़ी कठिनाइयों के बाद दोनों का विवाह हुआ।

उपर्युक्त प्रेम-काव्यों के अतिरिक्त सं० १६७६ में शेख नबी ने 'ज्ञान-दीप', सं० १७९२ में कासिमशाह ने 'हंस जवाहर', सं० १८०१ में नूर मुहम्मद ने 'इन्द्रावती', सं १८८७ में ख्वाजा अहमद ने 'नूरजहाँ' और सं० १९७४ में गाजीपुर (जमानियाँ) निवासी नसीर ने 'प्रेम-दर्पण' की रचना की। जायसी के समय में जो ग्रन्थ प्राप्त थे उनकी चर्चा एक स्थान पर स्वयं उन्होंने की है जो महत्वपूर्ण है।

विक्रम धँसा प्रेम के धारा। सपनावति कहँ गयउ पतारा॥
मधूपाल मुगधावति लागी। गगनपूर होइगा बैरागी॥
साथे कुँवर मनोहर जोगू। मधुमालती कर कीन्ह वियोगू॥
प्रेमावति कहँ सुर-वर साधा। उषा लागि अनिरुध वर बाँधा॥

स्पष्ट है कि बहुत से सन्तों की रचनाएँ काल-कवलित हो गईं। इन्हीं सन्तों की साधना का फल है कि सूफी सम्प्रदाय तथा उसके सन्तों का गुण-गान कम से कम हिन्दीजगत में आदर पूर्वक अब तक किया जाता है। कला और अनुभूति का जो दान उन लोगों ने हिन्दी-संसार को दिया वह प्रत्येक युग में अमर रहेगा।

सामान्य विशेषताएँ :

कुछ ऐसे सामान्य-तत्त्व हैं जो सम्पूर्ण-सूफी-साहित्य में एक समान हैं। सभी काव्य दोहे-चौपाई में लिखे हुए छोटे या बड़े प्रबन्ध-काव्य हैं जिनके मुख्य विषय प्रेम, वियोग तथा कठिनाइयाँ और प्रयत्न हैं। इन सन्तों ने लौकिक कथानक की रचना अपने आध्यात्मिक-तत्त्वों की ओर संकेत देने के लिए की है। उनकी काव्य-शैली का सबसे बड़ा रहस्य यही है। जिस प्रकार उनका माशूक (ब्रह्म) विश्व-प्रकृति के कण-कण में रहस्य की भाँति छिपा हुआ है उसी प्रकार उनके लौकिक कथानकों में आध्यात्मिक संकेत भी रहस्य की भाँति छिपे हुए हैं। सूफी रहस्यवाद का अध्ययन करने के लिए सभी तथ्य बड़े उपयोगी हैं।

सूफी-साहित्य में गुरु का बड़ा महत्व है। ज्ञानवादी-साहित्य में भी गुरु का ऐसा ही महत्व है। ज्ञानवादी-साहित्य में गुरु ज्ञान का दीपक हाथ में लिए हुए मिलता है जो माया के अन्धकार को हटाकर बाहर-भीतर प्रकाश से भर देता है तथा सूफी-साहित्य में वही हृदय में प्रेम की आग लगा देता है। फिर

तो उसी आग में प्रकृति का कण-कण जलने लगता है। सूफी प्रेम-कथानकों में कहीं अप्सरा और कहीं तोता आदि गुरु का प्रतिनिधित्व करते हैं।

ज्ञानमार्गी-सन्तों का सम्पूर्ण साहित्य मुक्तकों में है जिनमें दोहे और गेय-पद मुख्य हैं। सूफी-साहित्य कथा-प्रधान दोहे-चौपाइयों में तो लिखा गया है किन्तु रचना फारसी की मसनवी शैली में की गई है, भारतीय सर्गबद्ध-शैली में नहीं। इनमें ईश्वर-वन्दना, पैगम्बर की स्तुति तथा तत्कालीन बादशाह की प्रशंसा के साथ कथा का आरम्भ किया गया है। प्रायः सूफी काव्यों की भाषा अवधी है। सभी कथाएँ हिन्दू जीवन से ली गई हैं। इस सम्प्रदाय के सन्तों का सरोकार किसी भी सम्प्रदाय के खण्डन-मण्डन से नहीं था।

आगे चलकर सर्वसाधारण में इनके मत का प्रसार उतना न हो सका जितना होना चाहिए था। उनके ग्रन्थ फारसी लिपि में लिखे गये थे। अतः अधिकांश हिन्दू लाभ उठाने में असमर्थ रहे। कट्टर मुसलमान इसके आध्यात्मिक-दर्शन को अपना नहीं सकते थे। उधर आगे चल कर सगुणोपासक सन्तों के व्यापक तथा समर्थ साहित्य एवं आकर्षक-दर्शन से इस मत के प्रसार को बड़ा धक्का लगा। जैसा कि ऊपर कहा गया है इनके साहित्य का शरीर (कथारम्भ तथा मसनवी शैली) विदेशी तथा आत्मा देशी थी, अतः इनके मत के सम्बन्ध में यहाँ यही हुआ कि 'न इधर के रहे न उधर के रहे।'

सूफी-साहित्य की कला तथा अनुभूतियों का मूल्य इससे कभी घट नहीं सकता। कुछ कवियों के, विशेषतया जायसी के, वियोग-चित्रण की मार्मिकता, गहराई, गम्भीरता तथा प्राकृतिक-शक्ति विश्व-साहित्य की अमूल्य निधि हैं। प्रत्येक युग में काव्य-मर्मज्ञ उन स्थलों पर नत मस्तक होते रहेंगे। इन सन्तों का ऋण हिन्दी पर बराबर रहेगा। वे विश्व-साहित्य में हिन्दी को सदा ही गौरव से मण्डित करते रहेंगे।

जायसी का जीवन-परिचय

जन्म तथा रचनाकाल :—

जायसी की रचनाओं में अनेक स्थानों पर उनके आत्मकथन मिल जाते हैं, जिनसे उनकी जीवनी तथा उनके व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़ता है। उनके कथनानुसार उनका जन्म मुहम्मद साहब की नवीं सदी (ईसा की १५ वीं शताब्दी) में हुआ। उनका कहना है कि जन्म के समय बड़ा भूकम्प आया था और कुछ दिनों बाद सूर्यग्रहण पड़ा था।

१—भा औतार मोर नौ सदी।
२—धरती दीन्ह चक्र-विधि भाई। फिरै अकास-रहँट की नाईं॥
३—सो अस बपुरे गहने लीन्हा। औ धरि बाँधि चंडालै दीन्हा॥

इण्डियन कलेण्डर के अनुसार वह सूर्यग्रहण १० दिसम्बर १५०२ ई० में पड़ा था। सन् १५०५ में भूकम्प हुआ था।

नौ सौ बरिस छत्तीस जब भए। तब एहि कथा के आखर कहे॥—(आखिरी कलाम) फिर उसी पुस्तक में जायसी अपनी अवस्था तीस वर्ष बतलाते हैं। इस कथन से तो उनका जन्म ९०६ हिजरी (सन् १५०० ई०) में होना ठहरता है। जायसी ने पद्मावत का रचनाकाल ९४७ हिजरी (१५४१ ई०) लिखा है। उसी ग्रन्थ के आरम्भ में उन्होंने शाहे वक्त शेरशाह की प्रशंसा भी परम्परानुसार की है। सन् १५४१ में दिल्ली पर शेरशाह का अधिकार था भी।

१—सेरसाह दिल्ली सुलतानू।
२—सन नौ सै सैंतालीस अहा। कथा अरंभ बैन कवि कहा॥

कुछ विद्वान् पद्मावत के रचनाकाल को ९४७ हिजरी के स्थान पर ९२७ पढ़ते हैं। सम्भवतः वे लोग ऐसी भूल इसलिए करते हैं क्योंकि 'आखिरी कलाम' के नाम से उन्हें अन्तिम रचना का भ्रम होता है। वास्तव में 'आखिरी कलाम' में क़यामत का वर्णन है। यह जायसी की प्रौढ़ रचना नहीं है। इसके चित्रण कट्टर इस्लामी विश्वासों पर आधारित हैं। 'अखरावट' में जायसी के परिपक्व विचार हैं। सम्भव है यह उनकी अन्तिम रचना हो। इन सभी साक्ष्यों पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि उनका जन्म ९०० हिजरी (सन् १४९४) में हुआ और ३० वर्ष की अवस्था तक उन्होंने कवि-प्रसिद्धि प्राप्त कर ली। सन् १५३० में 'आखिरी कलाम' और १५४१ में 'पद्मावत' का आरम्भ किया।

जन्म-स्थान तथा सम्बन्धी:—

जायस नगर मोर अस्थानू। नगर क नाँव आदि उदयानू॥
तहाँ दिवस दस पहुने आएउँ। भा बैराग बहुत सुख पाएउँ॥

इस प्रकार सिद्ध होता है कि उनका जन्म कहीं अन्यत्र हुआ और वहाँ से वे जायस में पहुँचे थे। उस नगर को उन्होंने धर्म-स्थान बतलाया है। कुछ लोग उनका जन्म-स्थान गाजीपुर बतलाते हैं। मानिकपुर (प्रतापगढ़) उनका

ननिहाल बताया जाता है। अपने माता-पिता के सम्बन्ध में जायसी मौन हैं। लगता है वे लोग इनके बचपन में ही मर गए थे। उन्होंने अपने चार मित्रों का उल्लेख किया है।

गुरु तथा शिक्षा-दीक्षा:—

जायसी पढ़े लिखे तो अवश्य थे किन्तु तुलसी की भाँति दर्शन तथा साहित्य-शास्त्र के प्रगाढ़ पण्डित नहीं थे। फिर भी सत्संग, चिन्तन तथा अध्ययन से उनमें इस्लामी तथा भारतीय दर्शन और काव्य-रस की अच्छी अनुभूति थी।

वे कालपी के सैय्यद अशरफ को बड़ी श्रद्धा से याद करते हैं। जायसी, उनके गुरुभाई शेख नूर की शिष्य परम्परा में आते हैं। उस शिष्य परम्परा की छठवीं पीढ़ी में शेख बुरहान मोहदी हुए जिनसे जायसी ने दीक्षा ली।

पाएऊँ गुरु मोहदी मीठा। मिला पंथ सो दरसन दीठा॥
नावँ पियार सेख बुरहानू। नगर कालपी हुत गुरु थानू॥

व्यक्तित्व:—

१—मुहमद बाईं दिसि तजा, एक स्रवन एक आँखि।
२—एक नयन कवि मुहमद गुनी। सोइ बिमोहा जेहि कवि सुनी॥

सम्भवतः चेचक के कारण उनकी बाईं आँख और बायाँ कान जाता रहा। वे कुरूप थे किन्तु उनके गले का स्वर मोहक था। कहा जाता है कि एक भिखारी के स्वर में उनकी मार्मिक रचनाओं को सुनकर अमेठी के राजा मुग्ध हो गये और उन्होंने जायसी को आदरपूर्वक अमेठी में ही बुलवा लिया। जिस युग में जायसी का प्रादुर्भाव हुआ, वास्तव में पहले से ही सन्तों और साधकों द्वारा समाज में सहिष्णुता और समन्वय की प्रतिष्ठा का प्रयास चल रहा था। उस प्रयत्न में जायसी का योगदान ऐतिहासिक महत्व रखता है। इसीलिए हिन्दू-समाज में भी जायसी पूज्य दृष्टि से देखे जाते थे।

जायसी का साहित्य

कबीर की भाँति ही जायसी पहले साधक हैं और बाद में कवि या अन्य कुछ। सच पूछा जाय तो उन साधकों की सच्ची साधना ने ही उनकी वाणी को ऐसा बल दिया कि आज तक भारतीय जनता के हृदय से उनके साहित्य का प्रभाव मिट नहीं सका है। ईरान से लेकर बंगाल तक और हिमालय से लेकर कन्या कुमारी तक कट्टर इस्लाम की तलवार रक्त की धारा बहाती रही, ईसाइयत

के घातक इंजेक्शन चलते रहे किन्तु इन सन्तों के हृदय से निकले निर्झर बचे हुए प्राणियों को प्राण और शीतलता प्रदान करते रहे । उनकी करुणा की धारा कभी टूटने वाली नहीं ।

हिन्दी-साहित्य ही नहीं सम्पूर्ण विश्व-साहित्य में आज उसी साधना का अभाव है । यही कारण है कि आज का साहित्य विद्वान् बना सकता है, किन्तु वह मानव-चरित्र को स्पर्श नहीं कर सकता, उसे शक्ति-प्रदान करना तो दूर रहा । जायसी की अनुभूति ही उनका साहित्य है । उसके मूल तत्त्व हैं प्रेम, करुणा और सदाचार । जायसी की सहिष्णुता और मधुरता विश्व-साहित्य में अद्वितीय है । विदेशी तत्वों द्वारा पोषित-जायसी के साहित्य भारतीय जीवन की सच्ची अभिव्यक्ति आश्चर्य जनक है । जायसी की तीन रचनाएँ प्राप्त और प्रसिद्ध हैं ।

आखिरी कलामः—

विषय-सामग्री तथा अभिव्यक्ति की दृष्टि से यदि विचार करें तो यह जायसी का प्रथम ग्रन्थ प्रतीत होता है । यदि हम जायसी के परवर्ती ग्रन्थों के बौद्धिक स्तर पर ध्यान दें तो स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रारम्भिक रचना में जायसी का ज्ञान निकृष्ट कोटि का था । कयामत के समय कैसे सूर्य काला होगा, कैसे आग बरसेगी, अल्लाह के सामने हजरत कैसे अपने अनुयायियों को माफ करा-एँगे, कैसे लोग नरक और स्वर्ग में जाएँगे, कैसे बहिश्त में सबको हूरें मिलेंगी आदि प्रसंगों का वर्णन उस ग्रन्थ में हुआ है । यहाँ जायसी की एक स्वर्ग कल्पना दी जा रही है ।

नित पिरीत नित नव-नव नेहू । नित उठि चौगुन होइ सनेहू ॥
तहाँ न मीचु न नींद दुख, रह न देह महँ रोग ।
सदा अनन्द मुहम्मद सब सुख मानै भोग ॥

पद्मावत : काव्य-कलाः—

कला और अनुभूति की दृष्टि से यह जायसी की उत्कृष्टतम रचना है । यह वही ग्रन्थ है जिसने उनको इतना लोकप्रिय और अमर बना दिया । इस में लौकिक तथा अलौकिक तत्त्वों का मधुर समन्वय हुआ है । शास्त्रीय दृष्टि से भले ही इसे महाकाव्य की कोटि मे न रखा जाय फिर भी रसिक-पाठकों के हृदय पर पड़ने वाले इसके महाप्रभाव को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता । जायसी ने सतर्क होकर महाकाव्य नहीं लिखा है । जायसी ने मसनवियों के अनुरूप

एक ऐतिहासिक कथा को अपनी साधना का आधार मात्र बनाया है। जायसी का पद्मावत एक उत्कृष्ट महाकाव्य है।

इस ग्रन्थ में कुल ५७ खण्ड हैं। पूर्वार्द्ध की रचना लोक प्रचलित कथाओं के आधार पर की गई है जिसमें नागमती की विरह-कथा और रत्नसेन पद्मावती की कथा ही मूल तत्व हैं। सूफी-दर्शन का मूलतत्व है प्रेम की पीर। नागमती और पद्मावती की लोक प्रचलित प्रेम-कथाओं में जायसी को वेदना का अपार तत्त्व मिला। अतः उन्होंने इनको अपनी अभिव्यक्ति का आधार बनाया। उत्तरार्द्ध का पद्मावत में विशेष महत्त्व नहीं है। सम्भवतः अपने आध्यात्मिक रूपक की पूर्णता के लिए जायसी ने इस भाग की रचना की। इसकी कथा कुछ हेर फेर के साथ ऐतिहासिक है।

हमारे देश में कथा-काव्यों की एक परम्परा अपभ्रंश काल से बराबर चली आ रही है। जैन साहित्य के रासा तथा वीरगाथाकालीन रासो में चलने वाली परम्परा के साथ साथ जनता में भी कथाएँ गाई जाती रही हैं। उन कथाओं के मूल-रस वीर और शृङ्गार हैं। सूफी सन्तों को उन लोक-प्रचलित प्रेम-कथाओं में संयोग और वियोग के ऐसे व्यापक क्षेत्र मिले जिनमें उन्होंने अपना समूचा दर्शन ही प्रतिष्ठित कर दिया।

उधर फारस में मसनवी शैली में कथा-काव्य लिखने की परम्परा थी। इस शैली में ५ या ७ बन्दों के बाद एक बैत रहता था। इधर भारत में सिद्धों के समय से चौपाई और दोहा छन्द चले आ रहे थे। अपने कथा काव्यों के लिए सूफियों ने मसनवी शैली के अनुकूल इन्हीं छन्दों को अपना लिया। सूफी कथा-काव्यों में चौपाई-दोहे की जो शैली अपनाई गई उसका ऐतिहासिक महत्त्व है। तुलसी ने जायसी के ३४ वर्ष बाद अपनी राम-कथा के लिए इसी पद्धति को अपनाया। पद्मावत की कथा में लोक-कथा, जोगियों की प्रसिद्ध कथा तथा ऐतिहासिक-कथा की त्रिवेणी है। उस त्रिवेणी का संयोग, रूपक के प्रयाग में हुआ है।

पद्मावत की कथाएँ पंचसन्धियों पर पूरी उतरती हैं। पूरी कथावस्तु रोचक और संगठित है फिर भी लोक और इतिहास की दो कथाएँ एक केन्द्र पर नहीं आ सकी हैं। पूर्वार्द्ध में शुद्ध-प्रेम की सफलता और उत्तरार्द्ध में वासनात्मक लोभ की असफलता दिखाई गई है। शुद्ध-प्रेम का प्रेरक गुरु (हीरामन) है और वासनात्मक-लोभ का प्रेरक शैतान (नारद : राघवचेतन) है। इस्लामी इबलीस की प्रतिष्ठा राघवचेतन में की गई है।

सूफी काव्यों की शैली प्राचीन क्लासिकल परम्परा से भिन्न है। हम उन्हें रोमांटिक काव्य कह सकते हैं। कल्पनातिरेक, परम्परा के विरुद्ध एक नवीन काव्य-सृष्टि, नारी के प्रति भावुकता, प्रकृति के प्रति रहस्यवादी और अतिरंजित दृष्टिकोण आदि उन काव्यों की प्रमुख विशेषताएँ हैं। पद्मावत सम्पूर्ण सूफी काव्यों का प्रतिनिधित्व करता है। इस काव्य में शृङ्गार के अतिरिक्त करुण, वीर, शान्त, वात्सल्य और वीभत्स रसों का भी समावेश हुआ है। उत्तरार्द्ध के युद्धों में वीर, जोगी-खण्ड और सतीखण्ड में करुण रस का अच्छा निर्वाह हुआ है।

रस-योजना :—

सूफी-दर्शन का मूलाधार वियोग है। पद्मावत के वियोग-चित्र विश्व-साहित्य की अमूल्य निधि हैं। कृष्ण-काव्यों के गोपी-विरह चित्रों से किसी भी अर्थ में वे घटकर नहीं हैं। उनमें पीड़ा की ऐसी अनुभूतियाँ हैं जिन्हें रसिक हृदय सह नहीं पाते। हृदय को चूर चूर कर देने की उनमें शक्ति है।

सारस जोरी कौन हरि, मारि बिधाता लीन।
झुरि झुरि हौं पिंजर भई, बिरह काल मोहि दीन॥

विरह की वेदना विरहिणी तक ही सीमित नहीं, विश्व-प्रकृति के कण-कण में फैल गई है। प्रकृति ने पीड़ा को इतना बाँट लिया है फिर भी उधर यातना में कमी नहीं। वह तो बढ़ती ही जाती है। भादों की दशा का एक चित्र यहाँ है।

बरसै मघा झकोरि झकोरी। मोर दुइ नैन चुवैं जस ओरी॥
रहौं अकेलि गहे एक पाटी। नैन पसारि मरौं हिय फाटी॥

अगहन में :—

बज्र अगिनि विरहिन हिय जारा। सुलुगि सुलुगि दगधै होइ छारा॥
पिउ सौं कहेहु संदेसड़ा, हे भौंरा हे काग।
सो धनि बिरहै जरि मुई, तेहि क धुआँ हम्ह लाग॥

पूस में :—

चकई निसि बिछुरै दिन मिला। हौं दिन राति विरह कोकिला॥
रकत दुरा माँसू गरा, हाड़ भए सब संख।
धनि सारस होइ ररि मुई, पीउ समेटहिं पंख॥

फारसी पद्धति के अनुसार यद्यपि यहाँ 'रक्त,' 'माँस' तथा 'हाड़' के वीभत्स चित्र हैं किन्तु पीड़ा की भयंकर सत्यता के द्योतक हैं। पीड़ा की अनुभूतियाँ पद्मावत में बिखरी पड़ी हैं।

जेहि पंखी के नियर होइ, कहै बिरह कै बात।
सोई पंखी जाइ जरि, तरिवर होइ निपात॥

इन पंक्तियों की अनुभूति किसे सह्य होगी ? नागमती अपनी सौत के पास सन्देश भेज रही है।

मोहिं भोग सौं काजन वारी। सौंह दीठि कै चाहनिहारी॥

भारतीय परम्परा में स्वीकृत अनेक उपमानों के द्वारा कवि, पद्मावती की विरह-व्यथा का चित्र खींचता है।

जरेउँ बिरह जस दीपक बाती। पंथ जोहत भइ सीप से बाती॥
डाढ़ि डाढ़ि जिमि कोइल भई। भइउँ चकोर नींद निसि गई॥

काव्य की सम्पूर्ण विरह-व्यथा जीव तथा ब्रह्म के वियोग की पीड़ा का प्रतिनिधित्व करती है। कबीर की भाँति जायसी भी ब्रह्म को काया के भीतर ही ढूँढ़ते हैं। उनके विचार से इसी काया में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड है।

पद्मावत के सभी खण्ड सरस और महत्वपूर्ण नहीं हैं। विरह के प्रसंग और प्रकृति के चित्र अद्वितीय हैं। कहीं कहीं तो भोज्य पदार्थों, घोड़ों, हाथियों तथा नारी के प्रकारों की अनावश्यक नामावली गिनाते गये हैं और कहीं कहीं संयोग के वीभत्स चित्र प्रस्तुत करने में ही जायसी उलझ गये हैं। उन वीभत्स चित्रों से ब्रह्म तथा जीव के महामिलन की ध्वनि कदापि नहीं निकलती और न रसिक पाठक ही उनका सम्मान कर सकते हैं। ऐसे वाहियात प्रसंगों से कथा के रस में काफी बाधा पड़ी है।

प्रकृति-चित्रण :— सब कुछ होते हुए भी उस समय तक हिन्दी में लिखे गये सम्पूर्ण प्रबन्ध-काव्यों में श्रेष्ठतम काव्य पद्मावत ही है। जायसी के प्रकृति चित्रणों से मुग्ध हो कर शुक्लजी ने हिन्दी के कवियों में उन्हें उच्च स्थान दिया है। इसी उत्साह में 'त्रिवेणी' की रचना हुई जिसमें शुक्ल जी जायसी की प्रशंसा करने से नहीं अघाते। कुछ प्रकृति-चित्र यहाँ प्रस्तुत हैं। इनकी व्यापकता में विचित्र आध्यात्मिक संकेत भरे पड़े हैं।

घन अमराउ लाग चहुँ पासा। उठा भूमि हुत लागि अकासा॥
ओही छाँह रैनि होइ आवै। हरियर सबै अकास दिखावै॥
पथिक जो पहुँचै सहिकै घामू। दुख बिसरै सुख होइ बिसरामू॥

यही नहीं :—

जेइ यह पाई छाँह अनूपा। फिर नहि आइ सहै यह धूपा ॥
खिरनी पाकि खाँड़ असि मीठी। जामुन पाकि भँवर अस दीठी।
पुनि महुआ चुआ अधिक मिठासू। मधु जस मीठ पुहुप जस बासू॥

पक्षियों के चित्र :—

भोर होत बोलहिं चुहचूही। बोलहि पंडुक एकै तूही ॥
कुहू कुहू करि कोइल राखा। औ भिंगराज बोल बहुभाखा ॥
जावत पंखी जगत के, भरि बैठे अमराइँ।
आपनि आपनि भाषा लेहिं दई कर नाइँ॥

पुनः विभिन्न फलों की नामावली देते हुए बहुत दूर तक चले जाते हैं। डॉ० रामरतन भटनागर ने इस नामावली को जायसी की एक दुर्बलता बताया है। रोमांटिक कवियों की भाँति जायसी प्रकृति-चित्रण में कल्पनातिरेक से अज्ञात लोक तक पहुँच जाते हैं। ऐसी कल्पना की स्वच्छन्द उड़ान बहुत दिनों के बाद हिन्दी के छायावादी कवियों में दिखाई पड़ी।

ताल तलाव बरनि नहिं जाहीं। सूझै वारपार किछु नाहीं ॥
फूले कुमुद सेत उजियारे। मानहुँ उए गगन महँ तारे ॥
उतरहिं मेघ चढ़हिं लेइ पानी। चमकहिं मच्छ जुबी कै बानी ॥

छायावादी कविता में प्रकृति के जो सजीव चित्र मिलते हैं बहुत दिनों पूर्व ही जायसी वैसे चित्र खींच चुके हैं।

सरवर रूप विमोहा हिये हिलोरहिं लेइ।
पावँ छुवै मकु पावौं, एहि मिस लहरहिं देइ ॥

हिन्दी-साहित्य में उपमानों के लिए प्रकृति का प्रयोग जायसी के समान किसी कवि ने नहीं किया है। दूसरी बात यह कि जायसी काव्य-शास्त्र के पण्डित नहीं थे किन्तु उनके स्वाभाविक अलंकार वन-पुष्पों की भाँति अद्वितीय हैं।

व्यथा का चित्र :—

कित करमुहैं नैन भए, जीउ हरा जेहि बाट।
सूखा नीर बिछोह जिमि, दरकि दरकि हिय फाट ॥

एक स्थान पर :—

तुम मुख चमकै बीजुरी, मोहि मुख बरसै मेह।

अद्वितीय चित्रः—

सरग सीस धर धरती, हिया सो प्रेम समुन्द।
नैन कौड़िया होइ रहे, लेइ लेइ उठहिं सो बुन्द॥

जायसी ने प्रकृति-चित्रण में परिगणन, रोमांटिक, रहस्यवादी तथा प्रतीक शैलियों का प्रयोग किया है। उनका प्रयोग उन्होंने काव्योपयोगिता, उपदेश, नखशिख तथा मानवीय भावनाओं के लिए किया है।

उपसंहारः—

पद्मावत की भाषा ठेठ अवधी है। जायसी ने उसकी रचना लोक-कथा के सहारे, लोक के लिये लोकभाषा में की है। उनकी भाषा, छन्द तथा उनके कथा-काव्य ने आगे चलकर रामचरितमानस का मार्ग प्रशस्त कर दिया। पद्मावत की सजावट फारसी है किन्तु उसकी काया और आत्मा भारतीय है। सूफी दर्शन के अद्वैतवाद को विवश होकर एकेश्वरवाद की तलवार के सामने सिर झुकाना पड़ा किन्तु वह तलवार उसकी आत्मा को नहीं काट सकी। वे लोग भारतीय ही थे जिन्हें यहाँ के भारतीयों की भाँति तलवार के नीचे अपना धर्म परिवर्तित करना पड़ा। वहाँ के सूफी सन्तों ने बहुत यत्न करके अपने दर्शन का मेल विजेता के दर्शन से बिठाया, किन्तु सीप में समुद्र कहाँ समा सकता था। उफन कर उसे इस धरती पर आना पड़ा। पद्मावत की लोक-भाषा हिन्दी साहित्य में बेजोड़ है।

काव्य के अन्त में जायसी ने सम्पूर्ण काव्य को आध्यात्मिक संकेत कह दिया है। वह रूपक इस प्रकार है।

चित्तौड़ = तन
रत्नसेन = मन = सालिक (साधक)
हीरामन = गुरु = मुरशिद
सिंहलद्वीप = हृदय = कल्ब
पद्मिनी = सहजबुद्धि = प्रज्ञा = मुआरिफ
नागमती = दुनिया धन्धा = नफ्स

यह ध्यान में रखना चाहिए कि पद्मिनी ब्रह्म की प्रतीक नहीं बल्कि प्रज्ञा की प्रतीक है जिसमें अल्लाह के जमाल की झलक मिलती है। रूपक में नफ्स भी सुन्दर है तथा मुआरिफ भी सुन्दर है किन्तु हीरामन (गुरु) की सहायता जहाँ साध्य और साधक के बीच ली जाती है वहाँ नागमती उसको मार डालने का उपक्रम करती है।

अन्त में पद्मावत के आध्यात्मिक-रूपक की सर्वांग पूर्णता पर ध्यान देना ठीक नहीं। यह काव्य-कला तथा अनुभूति की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य में अनूठा है। इस काव्य की अनुभूतियाँ जीवनदायक रस को बरसाने वाले उन बादलों के समान हैं, जिनमें आध्यात्मिक चेतना की बिजलियाँ कौंधा करती हैं। विदेशी धर्म तथा वातावरण में पले हुए एक साधक और कलाकार द्वारा भारतीय हृदय और आत्मा की ऐसी अभिव्यक्ति आश्चर्यजनक है। पूरा भारतीय समाज एवं सम्पूर्ण हिन्दी-जगत उस महान साधक का सदा ही ऋणी रहेगा।

अखरावट : सूफी-दर्शनः—

प्रेम और रहस्य की अभिव्यक्ति यद्यपि पद्मावत में स्थान स्थान पर हुई है किन्तु आध्यात्मिक विचारों के व्यापक प्रकाशन के लिए जायसी ने अलग इस ग्रन्थ की रचना की है। दोहे और चौपाइयो में लिखा हुआ यह एक छोटा सा ग्रन्थ है किन्तु जायसी के दर्शन को समझने के लिए इसका अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। अखरावट पर उपनिषदों के ब्रह्मवाद का गहरा प्रभाव है।

पद्मावत में हठयोग तथा प्रेम-साधना का सुखद समन्वय है। उसी प्रकार अखरावट में भी कायागढ़, कुण्डलिनी, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना तथा चक्रभेद का उल्लेख है किन्तु पद्मावत की भाँति यहाँ उनका विस्तार नहीं है। अखरावट में ब्रह्मवाद, योग तथा सूफी मत का अच्छा समन्वय है।

उपनिषदों का ब्रह्म न सत् था न असत्। उपनिषदों के ब्रह्म से भिन्न बौद्ध-दर्शन का परमतत्त्व 'शून्य' है। कबीर का निरंजन भी राम-रहिम तथा सत् असत् से परे है।

जायसी का ब्रह्म :—

हुता जो सुन्न-म-सुन्न नावँ ठावँ ना सुर सबद।
तहाँ पाप नहिं पुन्न, मुहमद आप हि आपु महँ॥

आगे चलकर :—चौदह भुवन पूरि सब रहा।

वही एक कर्ता है :—

वै सब किछु करता किछु नाहीं। जैसे चलै मेघ परछाहीं॥

सूफी-दर्शन का मूलः—हुता जो एकहि संग, हौं तुम्ह काहे बीछुरा।
अब जिउ उठै तरंग, मुहमद कहा न जाइ किछु॥

ब्रह्म-जीव का अभेदत्वः—

बुन्दहि समुद समान, यह अचरज कासौं कहौं।
जो हेरा सो हेरान, मुहमद आपुहि आप महँ॥

यः पिण्डे स ब्रह्माण्डे :—

माटी माँसु रकत भा नीरू। नसैं नदी हिय समुद गँभीरू॥
सातो दीप नवो खंड, आठो दिसा जो आहि।
जो बरम्हंड सो पिंड है, हेरत अन्त न जाहि॥

आगे चलकर कवि इस्लामी तत्त्वों की प्रतिष्ठा काया में करता है। माया-मक्का, हृदय-मदीना, कान-आँख-नाक-मुख चारों फरिश्ते, नाभिकमल में शैतान है। उनके विचार से हज तो काया के भीतर है। कबीर भी काया के भीतर ही तत्त्व ढूँढ़ने का उपदेश करते हैं।

मूलतः सूफी साधना, प्रेम तथा विरह की साधन है। प्रेम का सौदा 'सिर' का सौदा है। कबीर भी साधक को अपना घर फूँककर चलने तथा ऊँचे खजूर के पेड़ पर चढ़ने की बात कहते हैं।

जायसी कहते हैं :—'जो सिर सेंती खेल, मुहमद खेल सो प्रेम रस।'

उस प्रेम रस को पाने के लिए रत्नसेन को जान की बाजी लगानी पड़ी। जायसी का दृष्टिकोण संकुचित नहीं और न वे हठधर्मी हैं।

जेइ हेरा तेइ तहँवे पावा। भा सन्तोष समुझि मन भावा॥

ज्ञान के दीपक वाले रूपक में जायसी और तुलसी के बीच विचित्र समानता है। तुलसी इस रूपक के लिए अवश्य जायसी के ऋणी हैं। यहाँ थोड़ी सी तुलना दी जा रही है।

जायसीः—जो मन मथन करै तन खीरू। दुहै सोइ जो आपु अहीरू॥
माखन मूल उठै लै जोती। समुद माहँ जस उलथै कोती॥
जस घिउ होइ जराइकै, तस जिउ निरमल होइ।
महै महेरा दूरि करि, भोग करै सुख सोइ॥

तुलसी:—सोइ निवृत्ति पात्र विश्वासा। निर्मल मन अहीर निजदासा॥
परम धर्म मय पय दुहि भाई। अवटै अनल अकाम बनाई॥
तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता। विमल विराग सुभग सुपुनीता॥
जोग अगिनि करि प्रगट तब, कर्म सुभासुभ लाइ।
बुद्धि सिरावै ज्ञान-घृत, ममता मल जरि जाइ॥

जायसीः— दीपक बरत जैस हिय आरे। सब घर उजियर तेहि उजियारे॥
तेहि मह अस समानेउ आई। सुन्न सहज मिलि आवै जाई॥
तहाँ उठै पुनि आउंकारा। अनहद सबद होइ झनकारा॥
मन जल टेम प्रेम जम दीया। आसु तेल दम बाती कीया॥
सुनहु बचन एक मोर, दीपक आरे बरे।
सब घर होइ अँजोर, मुहमद तस जिउ हीय महँ॥

तुलसीः—एहि विधि लेसै दीप, तेज रासि विग्यानमय।
जातहिं जासु समीप, जरहिं मदादिक सलभ सब॥
सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा। दीप सिखा सोइ अनल प्रचंडा॥
तब सोइ बुद्धि पाइ उजियारा। उर गृह बैठि ग्रन्थि निरुआरा॥

इस ग्रन्थ में जायसी के मूल विचार निम्नलिखित हैंः—

(अ) आदि में एक ही चित्सत्ता का अस्तित्व, उसी से द्विधा युत जग का निर्माण।

(आ) शैतान (नारद : माया) के भुलावे से जीव-ब्रह्म में भेद।

(इ) इसी भेद से जीव में वियोग की तड़पन।

(ई) जायसी का मत न शास्त्रीय सूफी पंथ है न केवल भावनात्मक रहस्यवाद, वह उनका अपना है।

(उ) उसमें योग की भाँति कायानिष्ठ ब्रह्म की भावना है जिसकी प्राप्ति योग से भी सम्भव है।

(ऊ) 'प्रेम की पीर' की साधना।

अध्यात्म-दर्शन में जायसी उपनिषदों के ब्रह्मवाद के मार्ग पर बहुत आगे बढ़ जाते हैं।

जो किछु है सो है सब, ओहि बिनु नाहिन कोइ।
जो मन चाहा सो किया, जो चाहे सो होइ॥

जीव, ब्रह्म और प्रकृति को जायसी तत्त्वतः एक मानते हैं। जहाँ वे प्रकृति को ब्रह्म की छाया मानते हैं वहाँ प्रतिबिम्बवाद की झलक है। दृश्य जगत उसी ब्रह्म की बाह्य अभिव्यक्ति है

ओहि जोति परछाहीं नवौ खंड उजियार।
सूरज चाँद कै जोती, उदित अहै संसार॥

पुनः—सरग आय धरती महँ छावा।

जायसी का दर्शन अद्वैतवादी है जो मूलतः भारतीय है । कैसा स्पष्ट चित्र है:—

दरपन बालक हाथ मुख देखै दूसर गनै ।
तस भा दुइ एक साथ, मुहमद एकै जानिए ॥

इस प्रकार अखरावट में भारतीय अद्वैतवाद तथा सूफी प्रेमवाद (इश्क) का मधुर समन्वय है । यह ध्यान देने की बात है कि सूफीमत के विकास के लिए भारत की भूमि में ही शरण मिली । जिसके महान-चिन्तन तथा अनन्त-दर्शन के आकाश में विश्व के लाखों करोड़ों दर्शन शरण पा सकते हैं । शोक की बात है कि वह धरती अपने अस्तित्व की रक्षा न कर सकी । वह धरती आज संकीर्ण रूढ़ियों, पाश्चात्य फैशनों, भौतिकवादी चरित्रहीन तथाकथित नेताओं की भयंकर लूट से कराह रही है । पूर्व की भाँति कश्मीर, कच्छ तथा बंग-असम की सीमा पर शामी तल्वार उसी प्रकार प्रहार कर रही है । नागाप्रदेश ही क्या सम्पूर्ण धरती पर चीन, पाकिस्तान तथा ब्रिटेन के संयुक्त कुचक्र चल रहे हैं । तिब्बत को निगल कर हिमालय के इस पार अजगर जीभ लपलपा रहा है किन्तु क्या कहा जाय ?

इस पावन राष्ट्र के अंग-अंग में नेता समाकर कुष्ट बन गये हैं । अब प्रश्न यह है कि कुष्ट की यह भीषण पीड़ा इन सन्तों के शीतल मलहम से शान्त होगी अथवा गलित अंगों को कबीर के प्रहारों से उड़ाना होगा । देखें पीड़ित परिस्थितियाँ किस प्रकार के व्यक्तित्व को जन्म देती हैं । विशेषता तो यह है कि राष्ट्र की बहुसंख्यक जनता अपने कुष्ट की खाज में आनन्द ले रही है ।

जायसी के लिखे हुए बीसों ग्रन्थ बताए जाते हैं किन्तु आखिरी कलाम, पद्मावत और अखरावट ही प्राप्य अथवा प्रामाणिक हैं । पद्मावत में जायसी ने अपने हृदय का रस ढाला है और अखरावट में उनका समग्र रूप है ।

जायसी की भाषा

रस तथा अनुभूति की जो स्वाभाविक अभिव्यक्ति जायसी की कला में हुई है, हिन्दी-साहित्य में उसका महत्वपूर्ण स्थान है । अकृत्रिमता, सादगी, मधुरता और पवित्रता सूफी-चरित्र की मुख्य विशेषताएँ हैं । यही विशेषताएँ जायसी की कला में भी पाई जाती हैं । इसीलिए जायसी का साहित्य जनता का साहित्य है । इनका मुख्य उद्देश्य अपनी अनुभूतियों को जन-मानस तक पहुँचाना था । अतः इस कार्य को उन्होंने जन-वाणी के द्वारा ही सम्पन्न किया । अवध-प्रदेश की जन-वाणी इनकी कृपा से धन्य हो गई ।

रस और भाषा का ऐसा स्वाभाविक संयोग विश्व-साहित्य में दुर्लभ है। यह निर्णय करना कठिन है कि जायसी के काव्य में रस की मधुरता ने भाषा को स्वाभाविक तथा मधुर बनाया है अथवा उनकी भाषा ने रस को ऐसा अलौकिक प्रवाह दिया है। आश्चर्य तो यह है कि उनकी भाषा सर्वथा लौकिक है किन्तु रस अलौकिक है। लौकिक धरातल पर अलौकिक की प्रतिष्ठा करके इन सन्तों ने अद्भुत कार्य किया है।

विरह के ताप से जायसी के मानस से जो भाव के बादल उठते हैं वे उनकी कल्पना के आकाश में छा जाते हैं और उनकी भाषा की शीतलता पाकर वही शब्दों की बूँदों में रस बरसाने लगते हैं। ऐसी ही प्राकृतिक क्रिया जायसी के काव्य-जगत में पाई जाती है। यहाँ हम डॉ० देवकीनन्दन श्रीवास्तव का एक उद्धरण दे रहे हैं।

'जायसी की शब्दावली अनेक मनोरम भावचित्रों का निर्माण अनयास ही करती चलती है। उनका शब्द-भंडार इस दिशा में रूढ़िबद्ध काव्यशास्त्रीय ढाँचे का अनुसरण नहीं करता वरन् कवि को भाव ग्राहिणी छन्द योजना के उन्मुक्त प्रवाह में निखरता चलता है। उनका वैशिष्ट्य किसी बाहरी प्रकार सजाव-सिंगार में नहीं, वरन् ठेठ अवधी की बोलचाल की मिठास में ही अपनी सम्पूर्ण क्षमता के साथ उद्घाटित होता है। इसी प्रकृत भाषा-शक्ति की संजीवनी के योग से जायसी की काव्य-कला स्थूल विवरणों के प्रसंग में भी अनूठे भावचित्र खींचने में समर्थ हुई है।'

शुक्ल जी लिखते हैं—"जायसी की भाषा बहुत ही मधुर है, पर उसका माधुर्य निराला है। वह माधुर्य "भाषा" का माधुर्य है, संस्कृत का माधुर्य नहीं। वह संस्कृत की कोमलकान्त पदावली पर अवलम्बित नहीं। उसमें अवधी अपनी निज की स्वाभाविक मिठास लिए हुए है। 'मंजु' 'समन्द' आदि की चाशनी उसमें नहीं है। जायसी की भाषा और तुलसी की भाषा में यही बड़ा अन्तर है। जायसी की पहुँच अवध में प्रचलित लोक-भाषा के भीतर बहते हुए माधुर्य-स्रोत तक ही थी, पर गोस्वामी जी की पहुँच दीर्घ संस्कृत-परम्परा द्वारा परिपक्व चाशनी के भँडागार तक भी पूरी पूरी थी।"

पुनः शुक्ल जी ने दोनों कवियों की भाषा का अन्तर स्पष्ट करने के लिए उद्धरण प्रस्तुत किये हैं :—

(१) भइउँ चकोरि तो पंथ निहारी। समुद सीप जस नयन पसारी॥
भइउँ विरह जरि कोइलि कारी। डार डार जिमि कूकि पुकारी॥
(जायसी)

(२) सुकृत संभु तन विमल विभूती । मंजुल मंगल मोद प्रसूती ॥
जन-मन मंजु मुकुर मल हरनी । किए तिलक गुनि गन बस करनी ॥
(तुलसी)

वे कहते हैं कि यदि गोस्वामी जी ने अपने 'मानस' की रचना ऐसी ही भाषा में की होती जैसी कि इन चौपाइयों की है—

कोउ नृप होउ हमैं का हानी । चेरि छाँड़ अब होब की रानी ॥
जारै जोग सुभाउ हमारा । अनभल देखि न जाइ तुम्हारा ॥

तो उनकी भाषा पद्मावत की भाषा होती और यदि जायसी ने पद्मावत की रचना ऐसी भाषा में की होती जैसी कि इस चौपाई की है—

उदधि आइ तेइ बंधन कीन्हा । हति दसमाथ अमर पद दीन्हा ॥

तो उसकी और 'मानस' की एक भाषा होती। पर जायसी में इस प्रकार की भाषा ढूँढ़ने को एकाध जगह मिल सकती है । तुलसी में ठेठ अवधी की मधुरता भी प्रसंग के अनुसार जगह जगह मिलती है । अवधी की खालिस बेमेल मिठास के लिए पद्मावत का नाम बराबर लिया जायगा ।

सोलहवीं शताब्दी की अवधी भाषा का लोक-व्यवहृत रूप हमें जायसी में मिलता है । उसी के द्वारा हम स्वयंभू के अपभ्रंश काव्य से अपनी भाषा की परम्परा जोड़ सकते हैं । इस दृष्टि से जायसी का ऐतिहासिक महत्त्व और बड़ा हो जाता है । सूरदास और तुलसीदास शास्त्रज्ञ पण्डित थे । उनके अधिकांश काव्य में भाषा का सामान्य रूप नहीं मिलता ।

जायसी ने लोक-वाणी में ऊँचे-ऊँचे भाव तथा विचार भर कर अद्भुत कला का प्रदर्शन किया है । लोक-भाषा का इतना पुष्ट और सार्थक प्रयोग हिन्दी के किसी कवि ने नहीं किया है । सामान्य-भाषा की जनगंगा को काव्यतीर्थ तक लाने का भगीरथ प्रयास जायसी ने किया । अवधी को संस्कृत तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं और विदेशी भाषाओं से मुक्त रखते हुए जायसी ने उसे रस, रीति, धर्म तथा दर्शन की अभिव्यक्ति के योग्य बनाया । इस ऋण को इतिहास भुला नहीं सकता । जिस प्रकार कला और दर्शन के क्षेत्र में जायसी की मौलिक देन अमूल्य है, उनकी धार्मिक सहिष्णुता में समाज और मानवता की सेवा है उसी प्रकार भाषा के क्षेत्र में उनकी हिन्दी-सेवा ऐतिहासिक महत्त्व रखती है । उनकी कला कला के लिए नहीं, जीवन के लिए है । उनके दर्शन के सत्य को कला में ऐसी सुन्दर अभिव्यक्ति मिली कि वह दिव्य-शिव बनकर जनता के मानस-मन्दिर में शाश्वत आसन पर आसीन हो गया ।

जायसी का रहस्यवाद

भूमिकाः

कबीर-साहित्य के विवेचन में रहस्यवाद की कुछ चर्चा हो चुकी है। काव्य की यह रहस्यानुभूति एक देशीय नहीं। संसार के अनेक देशों के साहित्य में हमको ऐसी अनुभूति मिलेगी। यहाँ विश्व-साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन के लिए स्थान नहीं है। इतना तो स्पष्ट है कि एशिया ही क्यों सम्पूर्ण विश्व में भारत ही ऐसा देश है जहाँ सर्वप्रथम दर्शन का उदय हुआ। वेदों तथा उपनिषदों से ही इस अनुभूति के सूत्र प्रारम्भ हो जाते हैं। पुनः आगे चलकर इस अनुभूति को भागवत के गोपिका-प्रेम में ठोस आधार मिल जाता है जहाँ रहस्य मिट सा जाता है और प्रेम ही प्रेम छा जाता है।

सिद्धों और नाथों के योग में पुनः उस रहस्य के दर्शन होते हैं। वहाँ पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड में छिपी अव्यक्त सत्ता ही रहस्य-युक्त नही है वलिक पिण्ड में स्थित जीव एवं ब्रह्म को संयुक्त करने वाली यौगिक क्रियाएँ भी रहस्यात्मक हैं। सब कुछ रहस्य ही रहस्य है। योगियों भी वह आनन्दपूर्ण रहस्यानुभूति, योग की क्लिष्टता के कारण, सर्व-सुलभ नहीं। काव्य की रसानुभूति सर्व ग्राह्य होती है अतः रहस्यानुभूति ने जहाँ हृदय के धरातल को स्पर्श किया वहाँ काव्य की वस्तु बनकर सर्व-साधारण को आनन्द देना प्रारम्भ कर दिया।

विश्व सत्य की अव्यक्तता तथा मानव की जिज्ञासा ने ही सर्वप्रथम इस अनुभूति को जन्म दिया। यदि पक्षपात न माना जाय तो यह जोर देकर कहा जा सकता है कि इस अनुभूति की उत्पत्ति बौद्धिक चेतना की धरती से ही पहले हुई। जब मानव की बुद्धि को यह ज्ञान अथवा बोध हो सका कि वह सत्य एक सत्ता भी है जिसके द्वारा इस सृष्टि का संचालन होता है तब जीव, ब्रह्म, माया एवं प्रकृति के सम्बन्धों का प्रश्न उपस्थित हुआ। ज्ञान, ज्ञान के बाद विश्वास तथा उसके बाद उस सत्ता के प्रति आकर्षण की उत्पत्ति हुई। इसीलिए कबीर ने कहा—'साहब से परचै नहीं, पहुँचोगे किहि ठौर।'
सगुणोपासक तुलसी ने भी स्वीकार किया :—

> जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहीं प्रीती॥
> प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई॥

जब यह निश्चित हो गया कि सम्पूर्ण सृष्टि अनित्य तथा माया है और जीव तथा ब्रह्म ही नित्य तत्व हैं तो प्रश्न उठा कि जीव के दुखों का अन्त कैसे

हो सकता है ? निष्कर्ष यह निकला कि ब्रह्म को पाकर ही यह जीव दुखों से पार जा सकता है। उसे पाने के लिए साधकों ने प्रयत्न आरम्भ किये। कर्म, योग एवं भक्ति उन्हीं प्रयत्नों के अंग हैं। भारत की भक्ति में जीव-ब्रह्म के अनेक सम्बन्धो की कल्पना की गई। उन सम्बन्धों में मादन-भाव अर्थात् कान्ता-भाव की रहस्यानुभूति हमें कबीर के साहित्य में मिलती है जिसका उल्लेख पीछे हो चुका है।

उस रहस्यात्मक सत्ता के प्रति मादन-भाव की अभिव्यक्ति ही रहस्यवादी साहित्य है। किसी ने उस भाव की अनुभूति अपने ही भीतर की है, किसी ने बाहर-भीतर सर्वत्र। कबीर तथा जायसी ने उसका अनुभव सर्वत्र किया है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि वह निर्गुण ब्रह्म तथा जीव के बीच का ही सम्बन्ध रहस्यवादी साहित्य का मूलाधार है। यह भी ऐतिहासिक सत्य है कि फारस के सूफी दर्शन का मूल स्रोत भारतीय ही है। जो कुछ अल्प भेद दिखाई देता है वह इस्लाम की संकीर्ण खूनी तलवार तथा देश-काल के अन्तर के कारण ही लक्षित होता है। मूल तो एक ही है।

एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि फारस के सूफी रहस्यानुभूति ने संकीर्ण और व्यापक के बीच बड़े ही परिश्रम से समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की। खेद की बात है कि संकीर्णता ने उस समन्वय को स्वीकार नहीं किया और अन्त तक उस चेष्टा को प्रछन्न गति से ही चलने के लिए विवश रहना पड़ा। जायसी के अखरावट में भी उसी समन्वय की चेष्टा है। जायसी के साहित्य में तो इस्लामी एकेश्वरवादी विश्वासों की संकीर्ण रूढ़ि, सूफियों की प्रेममूलक-साधना तथा भारतीय अद्वैतवादी हठयोगियों की साधना के समन्वय की विचित्र त्रिवेणी है। उस त्रिवेणी को भारत-भूमि पर उतारने वाले जायसी की तुलना किस भगीरथ से की जाय ? अब हम इसी सन्दर्भ में जायसी के प्रेम-प्रधान रहस्यवादी साहित्य पर विचार करेंगे।

जायसी की रहस्यानुभूति :

जायसी की कला में एक उदार साधक की अभिव्यक्ति है। कबीर की भाँति ही उनकी अभिव्यंजना में अनुभूतियों की सचाई है। यही कारण है कि उनकी कला, मर्म को स्पर्श करने वाली है। सूफी दर्शन का मूल-तत्त्व है, प्रेम की पीर। उसी पीड़ा को सर्वसाधारण के हृदय में पहुँचाने के लिए अन्य सूफी कवियों की भाँति जायसी ने लोक प्रचलित रत्नसेन-पद्मावती की

लौकिक प्रेम-कथा का सहारा लिया है। पद्मावत नामक प्रसिद्ध काव्य की रचना उन्होंने इसी उद्देश्य से की।

जीव तथा ब्रह्म के वियोग ने ही इस पीड़ा को जन्म दिया है। जायसी का विश्वास है कि विरह की वेदना ही इस जीव को उस ब्रह्म तक पहुँचा सकती है। वे योगियों की साधना के महत्त्व को भी स्वीकार करते हैं किन्तु वेदना की साधना को उससे श्रेष्ठ मानते हैं। योगियों की भाँति इन्द्रिय-निग्रह तथा अहं के नाश को वे भी आवश्यक समझते हैं। फिर भी अपनी साधना की परिणति प्रेम-मिलन में ही चाहते हैं।

उस मिलन से पहले जीव को सात मुकामात (अबूदिया, इश्क, जहद, मुआरिफ, वज्द, हकीक और वस्ल) से गुजरना पड़ता है। इस रहस्यमयी यात्रा में वस्ल के बाद अहं का नाश हो जाता है और बक़ा का आनन्द प्राप्त होता है। ब्रह्म की दृष्टि से जो बक़ा है, जीव की दृष्टि से वही फ़ना है। इसी बक़ा और फ़ना की स्थिति को मिलन कहते हैं। इस बीहड़-यात्रा के पथ को मुरशिद (गुरु) ही बता सकता है।

हीरामन (गुरु) से ज्ञान प्राप्त करने के बाद रत्नसेन (जीव) ने सिंहल (माधुर्य लोक) की रहस्यमयी यात्रा की है। बड़े कष्टों के बाद वह मिलन सम्भव हो सका है।

जो अस कोई जिउ पर छेवा। देवता आइ करहिं निति सेवा॥
दिन दस जीवन जो दुख देखा। भा जुग जुग सुख जाइ न लेखा॥

कबीर ने भी कहा है :—'हाँसी खेलौं हरि मिलै, तो कौण सहै षरसान।'

सच्चे प्रेमी के लिए सूली का क्या भय है :—

जस मारै कहँ बाजा तूरू। सूरी देखि हँसा मंसूरू॥

जीव में भी उसी ब्रह्म का जमाल है। इसीलिए जब रत्नसेन हँसता है :—

चमके दसन भएउ उजियारा। जो जहँ तहाँ बीजु अस मारा॥

कबीर भी अपनी मृत्यु की यात्रा को मंगल-यात्रा कहते हैं :—

उठो री सखी मोरि माँग सँवारो, दुलहा मोसे रूठल हो।

यहाँ जायसी का रत्नसेन भी सूली को देख कर बड़ा प्रसन्न है :—

आजु नेह सों होइ निवेरा। आजु पुहुमि तजि गगन बसेरा॥
आजु देह सों होइ निनारा। आजु प्रेम संग चला पियारा॥

प्रेमी को तो बस अपने आराध्य की रट है :—

रकत क बूँद कया जस अहही। 'पद्मावति पद्मावति' कहही

प्रेम के रोम-रोम में बस उसी की धुन है :—

रहै त बूँद बूँद महँ ठाऊँ। परै त सोई लेइ लेइ नाऊँ॥

यही नहीं :—रोवँ रोवँ तन तासों ओधा। सूतहिं सूत बेधि जिउ सोधा॥

नीचे फारसी शैली की कैसी तीव्र अभिव्यक्ति है :—

हाड़हि हाड़ सबद सो होई। नस नस माँह उठै धुनि सोई॥

यहाँ प्रेमी तथा प्रिय के अभेदत्व तथा वेदना की कैसी अभिव्यंजना है:—

जागा बिरह तहाँ का गूद माँसु कै हान।
हौं पुनि साँचा होइ रहा, ओहि के रूप समान॥

अगर जीव में सच्चा विरह है तो ब्रह्म में भी कम व्याकुलता नहीं है :—

काढ़ि प्रान बैठी लेइ हाथा। मरै त मरौं जियौं एक साथा॥

ब्रह्म से अलग जीव और प्रकृति का क्यों प्रादुर्भाव हुआ? ब्रह्म को अपना जमाल देखने की इच्छा हुई। सगुणोपासक दार्शनिकों ने उस जमाल को लीला की संज्ञा दी। पद्मावती का सौन्दर्य ब्रह्म के सम्पूर्ण सौन्दर्य का प्रतिनिधित्व करता है। उधर प्रकृति में वही सौन्दर्य छाया हुआ है। जायसी के माधुर्य-लोक (लाहूत) में वही ऐश्वर्य उमड़ रहा है।

(१) बेनी छोरि झार जो बारा। सरग पतार होइ अँधियारा॥
सहस किरिन जो सुरुज दिपाई। देखि लिलार सोउ छपि जाई॥
जग डोलै डोलत नैनाहाँ। उलटि अड़ार जाहिं पल माहाँ॥
हीरा ले सो बिद्रुम धारा। बिहँसत जगत होइ उजियारा॥
जेहि दिन दसन जोति निरमई। बहुतै जोति जोति ओहि भई॥

[सगुणोपासक तुलसी ने भी उस विराट का दर्शन किया है :—

रोम रोम प्रति लागे, कोटि कोटि ब्रह्मांड॥
अगनित रवि ससि सिव चतुरानन।
बहु गिरि सरित सिन्धु महि कानन॥]

(२) घन अमराउ लाग चहुँ पासा। उठा भूमि हुत लागि अकासा॥
पथिक जो पहुँचे सहिके घामू। दुख बिसरै सुख होइ बिसरामू॥
रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती॥

पुनः—सबै जगत दरपन कै लेखा। आपुहि दरपन आपुहि देखा॥

माधुर्य-लोक में :—

(३) नित पिरीत नित नव नव नेहू। नित उठि चौगुन होइ सनेहू॥

तहाँ न मीचु न नींद दुख, रह न देह महँ रोग।
सदा अनन्द मुहम्मद, सब सुख मानें भोग॥

सूर भी कुछ ऐसी ही कल्पना कर रहे हैं :—

जहँ भ्रम निसा होत नहीं कबहूँ, सो सायर सुख योग।

पीछे समन्वय के प्रसंग में संकीर्ण और व्यापक तथा अद्वैतवादी हठयोग की चर्चा हो चुकी है। यहाँ उसकी एक झाँकी दी जा रही है :—

माटी मोसुर कत भा नीरू। नसैं नदी, हिय समुद गँभीरू॥

सातौ दीप नवौ खंड, आठौ दिसा जो आहिं।
जो बरम्हंड सो पिंड है, हेरत अन्त न जाहिं॥

घट घट जगत बराबर जाना। जेहि महँ धरती सरग समाना॥
माथ ऊँच मक्का बन ठाऊँ। हिया मदीना नबी क नाऊँ॥
भावै चार फिरिस्ते जानहु। भावै चारि यार पहिचानहु॥

आगेः—सुन्नहि ते उपजे सब कोइ। पुनि बिलाइ सब सुन्नहि होई॥
कंथा पहिरि दण्ड कर गहा। सिद्ध होइ कर गोरख अहा॥

किन्तुः—मरै सोइ जो होय निगूना। पीर न जाने बिरह बिहूना॥

यही अन्तिम पंक्ति जायसी के समग्र दर्शन तथा रहस्यवाद का मेरुदण्ड है। उनके विरह की पीर उन्हीं तक (अथवा नागमती, पद्मावती, रत्नसेन) सीमित नहीं। उसी पीर की अभिव्यक्ति पर जायसी का सारा काव्यत्व तथा वास्तविक रहस्यवाद टिका है। व्यापकता, गहराई, प्रभाव की तीव्रता तथा वास्तविकता, उसकी मुख्य विशेषताएँ हैं।

उन बानन्ह अस को जो न मारा। बेधि रहा सगरौ संसारा॥
भा बसन्त रातीं बनसपती। औ राते सब जोगी जती॥
सूरुज बूड़ि उठा होइ ताता। औ मजीठ टेसू बन राता॥
अगिनि उठी जरि बुझी निआना। धुआँ उठा उठि बीचि बिलाना॥

गिरि समुद्र सांस मेघ रवि, सहि न सकहिं वह आगि।
मुहमद सती सराहिए, जरै जो अस पिउ लागि॥

उस विरह की पीड़ा की चर्चा हम काव्यकला के प्रसंग में कुछ कर चुके हैं। अखरावट के दार्शनिक प्रसंग में इसी मूल तत्त्व की व्याख्या की गई है। जायसी की रहस्यानुभूति संसार के थके जीवों को सरस शीतलता

प्रदान करने वाली है। उस अनुभूति का प्रेम-तत्त्व आज भी मानवता की सेवा करने योग्य है। विश्व को भीषण संहार से बचाने वाले जिस मानववाद की कल्पना आज की जा रही है उसके मूल स्रोत उन्हीं अनुभूतियों में हैं। खेद की बात है कि उस पवित्र वाद की दुहाई देने वाले, उसी की आड़ में, आज विश्व को एक ओर चीनी अजगर निगल रहा है, दूसरी ओर अमेरिका तथा ब्रिटेन संयुक्त षड्यंत्र कर रहे हैं, तीसरी ओर उस वाद का बाना पहने हुए देश के भक्षक नेता मानवता का रक्त चूस रहे हैं। ऐसे सन्तों की सच्ची साधना से निःसृत अनुभूतियाँ, क्या विश्व की रक्षा कर सकेंगी?

कृष्ण-भक्ति-शाखा

भूमिकाः—

पन्द्रहवीं शताब्दी से भारतीय जन-मानस में जिस भक्ति-आन्दोलन का सूत्रपात हुआ उसका सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक महत्त्व है। हिन्दी के सन्त-कवि उस क्रान्ति के अग्रदूत हैं। उस क्रान्ति में भारतीय आत्मा का विस्फोट है। वैसे तो उस क्रान्ति की अग्नि शाश्वत है। उस युग की परिस्थितियों के कारण उसका रूप विस्फोटक हो गया। भारतीय शाश्वत अध्यात्मवाद के लिए संकीर्ण इस्लामी तल्वारें अप्रत्याशित तअज्जुब थीं। यह मानवता के ऊपर दानवता का आघात था। कम से कम यहाँ की मानव जाति ऐसे रक्त-रंजित-दमन की कल्पना नहीं कर सकती है। जंगली जातियों की कल्पना से भी बाहर वह नर-संहार था जिसका क्रम टूटने वाला भी नहीं था।

ऐसी ही दुर्घटना बहुत पहले ईरान में हो चुकी थी। हमने देखा कि किस प्रकार सूफी चिन्तन की रक्षा इस उदार भूमि में हुई। प्रायः प्रत्येक देश और काल में देखा गया है कि परिस्थितियों ने व्यक्तित्व को जन्म दिया है। भौतिक-दमन से पीड़ित परिस्थितियों ने मार्क्स को जन्म दिया था किन्तु इन रक्तपातों तथा दमनों के पीछे धार्मिक उन्माद था। अतः उस उन्माद का आघात सीधे संस्कृति एवं धर्म पर हो रहा था। करुणा से प्रेरित मानवता के भक्त-सन्तों के सामने (ईरान ही की भाँति यहाँ भी) उस समय रोटी से अधिक धर्म और संस्कृति अथवा दूसरे शब्दों में मानवता की रक्षा का प्रश्न था। प्रगतिवादी समग्र-सन्त-साहित्य को हत-दर्प-जाति की पलायनवादी अभिव्यक्ति कहते हैं। इस दृष्टि से क्या हम मार्क्सवाद को जीवन-सत्य से पलायन कह सकते हैं !

व्यास के साहित्य में मानवता के रक्षक, कर्म और भक्ति दो तत्त्वों की व्याख्या हो चुकी है। ये दोनों तत्त्व भारतीय संस्कृति के मेरुदण्ड हैं। हमारी संस्कृति के ये दोनों तत्त्व दो ज्ञान-चक्षु हैं। जिस युग में जिस चक्षु की ज्योति मन्द पड़ी, व्यक्तित्वों ने जन्म लेकर उसे ज्योति प्रदान की। वीरगाथा-काल का भारत अन्धा और बहरा था। उसके कर्मों की सीमा आपसी युद्धों तक सीमित थी और उसकी भक्ति नारी-सौन्दर्य पर केन्द्रित थी। दुर्भाग्य से

कोई ऐसा चारण-व्यक्तित्व भी नहीं उत्पन्न हुआ जो कृष्ण की भाँति अथवा व्यास की भाँति गीता प्रदान करता।

आगे चलकर सन्तों और सूफियों के साहित्य में वह आवश्यक क्रान्ति हुई। वह क्रान्ति भौतिक कम, आध्यात्मिक अधिक थी क्योंकि मानवता के सामने पहला संकट आध्यात्मिक था। भूत काल में देश ऐसी भूलें कर चुका था कि अब ये सन्त तलवार से रक्षा के लिए तलवार उठाने की शिक्षा यदि देते तो भयंकर भूल करते। तलवार और हृदय के बीच समन्वय स्थापित करना भी सरल काम नहीं था। इसी असम्भव कार्य का बीड़ा उन सन्तों ने उठाया। इसी सन्दर्भ में यदि हम उस क्रान्ति का मूल्यांकन करें तो देखेंगे कि कैसे उन्होंने हम को सर्वनाश से बचाया। इस दिशा में सन्तों और सूफियों, दोनों ने ही अद्भुत प्रयत्न किये।

एक ने कर्म के आडम्बरों पर प्रहार किया और ज्ञान का प्रकाश दिया दूसरे ने बगल से करुणा के समन्वय से मैदान ठीक किया। आगे भी यह क्रान्ति रुकी नहीं। करुणा और भक्ति की धारा का वेग कृष्ण-भक्ति-साहित्य में बाँधों को तोड़ कर वह निकला। वह वेग इतना प्रबल था कि उसमें रहीम रसखान जैसे कितने मुसल्मान आ गये। राम-भक्ति शाखा के तुल्सी में हम रावणत्व पर रामत्व की विजय का उद्घोष सुनते हैं। राम के दुर्बल बन्दर भारतीय असहाय जनता का प्रतिनिधित्व करते हैं। तुल्सी का यह प्रकाशन, संगठन की शाश्वत विजय का विश्वास दिलाता है किन्तु साथ ही यह भी चेतावनी देता है कि ऐसा संगठन वही कर सकता है जो अपार वैभव को भी लात मार सके तथा प्राणों को हथेली पर लिए वन-वन की खाक छानने को तैयार हो।

पता नहीं इस देश की नीवें में कहाँ पर सनातन सड़न है। इस स्वर की ललकार अकेले भूषण में ही आगे चलकर सुनाई पड़ी। वीरगाथा काल की वही ऐन्द्रियता और निद्रा पुनः रीतिकाल में छा गई। गाँधी के प्रकाश में राष्ट्रीय और प्रगतिवादी गीत तथा सुभाष का भीमगर्जन सुननेवाले तथा भगत-सिंह जैसे लालों को फाँसी पर लटकते हुए देखने वाले हमारे देश के खद्दरधारी ठेकेदारों ने अब भी सर्वनाश का वही ठेका ले रखा है। विशेषता यह है कि अब की बार देश पर, तिहरी तल्वारें बरस रही हैं। आज विशेष व्यक्तित्व की माँग है।

कृष्ण-भक्तों के साहित्य में जो रस की धारा बही उसके आलम्बन, व्यास ही

के कृष्ण और राधा हैं। खेद है कि ये मानवता के शत्रुओं के संहार करनेवाले होते हुए भी यहाँ चक्र को सर्वथा भूलकर हाथ में मुरली लिए हुए, रस बरसाने के लिए उतर सके हैं। पिछले साधकों ने विषमता को मिटाकर बहुत हद तक समन्वय स्थापित कर दिया था तथा दूसरी ओर खूनी पंजे वैभव पाकर विलासिता में लीन रहते हुए सहिष्णुता का प्रदर्शन कर रहे थे। ऐसा प्रतीत होता है कि इन कृष्ण-भक्तों ने उस समन्वय को भारतीय विश्व-बन्धुत्व के धरातल पर प्रतिष्ठित करके मानवीयता को रस से सिक्त करना ही धर्म समझा। उनके रस की यमुना में दोनों सम्प्रदायों ने स्नान भी किया।

ये महात्मा, ब्रह्म और जीव के गूढ़ रहस्यों को न समझने वाली जनता को भी साथ लेकर चलना चाहते थे। परम्परा से प्राप्त भगवान् के उस सगुण-रूप को लेकर वे आगे बढ़े, जो सबके लिए ग्राह्य और वाल्मीकि तथा व्यास द्वारा पहले ही से सर्वसाधारण को ज्ञात था। इस क्षेत्र में रामानन्द तथा वल्लभाचार्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। हिन्दी के कृष्ण-भक्ति-साहित्य को मूल प्रेरणा वल्लभाचार्य से मिली।

कृष्ण-भक्ति-साहित्यः—

इस साहित्य में अष्टछाप (आठ महात्मा कवियों) का विशेष स्थान है। सूरदास, कुम्भनदास, परमानन्ददास तथा कृष्णदास महाप्रभु वल्लभ के शिष्य थे तथा नन्ददास, गोविन्दस्वामी, छीतस्वामी और चतुर्भुजदास गोस्वामी विट्ठल के शिष्य थे। इस अष्टछाप की स्थापना स्वामी विट्ठलनाथ ने सं० १६०२ में की थी। इस वर्ग में सूरदास महान् गायक थे।

इनके अतिरिक्त महान कृष्ण-भक्त कवियों में राधावल्लभीय सम्प्रदाय के हितहरिवंश तथा वृन्दावनदास, गौड़िया सम्प्रदाय के गदाधर, टट्टी सम्प्रदाय के संस्थापक हरिदास के स्थान मुख्य हैं। मीरा, रसखान, घनानन्द में कृष्ण-भक्ति की सच्ची पुकार है। इस परम्परा में अकबर के दरबारी कवि रहीम, गङ्ग, नरहरि, बीरबल, टोडरमल, बनारसीदास, सेनापति, तथा नरोत्तम बहुत जन-प्रिय हुए।

नन्ददास—(जन्म सं० १५१० और १५७० के बीच):—इनकी रचनाओं में काट-छाँट और नगीने का सौन्दर्य है। उनमें शब्दचयन, संगठन और ध्वन्यात्मक अर्थ-गाम्भीर्य है। उनकी रासपञ्चाध्यायी में अलौकिक गोलोक की रासलीला के चित्र हैं। उनके भ्रमरगीत, अनेकार्थमञ्जरी, मानसमञ्जरी

रसमञ्जरी, श्याम-सगाई, रुक्मिणीमंगल, तथा भाषा दशम स्कन्ध आदि ग्रन्थ बहुत ही आकर्षक और उत्कृष्ट काव्य हैं।

परमानन्ददास—(जन्म कन्नौज सं० १५५०) :—दानलीला, उद्धवलीला ध्रुवचरित्र, संस्कृत रत्नमाला ओर परमानन्दसागर इनकी मुख्य कृतियाँ हैं। ये बाल-योगी थे।

कृष्णदास—(जन्म सं० १५५३) :—भ्रमरगीत, जुगलमन चरित्र तथा प्रेमतत्त्व-निरूपण इनकी मुख्य रचनाएँ हैं।

छीतस्वामी—(जन्म सं० १५७५) :—ये कोमल स्वभाव के भक्त थे। इनकी रचनाओं में कृष्ण और ब्रजभूमि के प्रति अनन्य भक्ति झलकती है।

गोविन्दस्वामी—(जन्म सं० १५६०) :—इनके साहित्य में ब्रज की प्रकृति की अनूठी छटा है।

हितहरिवंश—(रचनाकाल सं० १६००-४०) :—इनकी भक्ति में सम्प्रदाय की सखी तथा किंकरी भावना की प्रधानता है। ये राधा के भक्त हैं। हित चौरासी इनकी सरस रचना है।

वृन्दावनदास—(जन्म सं० १७६५) :—इनके ४५-४६ ग्रन्थ बताए जाते हैं। इनमें भागवत की लीला के सरल तथा सरस गान हैं।

गदाधर—(रचनाकाल सं० १५८० से १६००):—इनके विनय, होली और झूला के पद बड़े ही मनोहर हैं।

हरिदास—(रचनाकाल सं० १६००-१७) :—ये तानसेन के गुरु एवं प्रसिद्ध गायक थे। इनकी वाणी में सरस गीत हैं।

आगे हम मीरा, रसखान, रहीम तथा नरोत्तक की कुछ विशेष चर्चा करेंगे। अकबर स्वयं रसिक बादशाह था। वह राज्य का लोभी था, रक्त का प्यासा नहीं। उसकी सहिष्णुता और कला-प्रेम की प्रशंसा की जाती है। कला, अनुभूति, नीति, सरसता तथा अनुभव की दृष्टि से उसके दरबारी कवियों की रचनाएँ अत्यन्त उत्कृष्ट हैं।

सामान्य-विशेषताएँ :—

काव्य-कला की सम्पूर्ण विशेषताओं की दृष्टि से सारा कृष्णसाहित्य अनूठा है। रस का ऐसा मधुर प्रवाह, अलंकारों की ऐसी प्राकृतिक छटा तथा भाषा की ऐसी अभिव्यंजनाशक्ति विश्व-साहित्य में दुर्लभ है। इन संन्तों के मधुर-समर्पण तथा हृदय की सच्ची अनुभूतियों ने उनके साहित्य को ऐसा मोहक

बना दिया है कि आज भी सामान्य जनता उनके पदों को गाकर अपने सांसारिक दुखों को भुला देती है। उनका प्रभाव जनता के हृदय को पार करके आत्मा तक प्रविष्ट हो गया है। उनके रस की धारा, शाश्वत गति से लोक तथा परलोक के धरातल को समान रूप से सींचने वाली है।

यद्यपि 'मानस' का अनुकरण करके 'कृष्ण-चन्द्रिका' जैसे प्रबन्ध-काव्य भी लिखने के प्रयत्न हुए किन्तु उन्हें सफलता न मिली। वास्तव में यह साहित्य प्रायः मुक्तक गेय पदों में ही लिखा गया है। इस साहित्य पर वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत तथा बालकृष्ण की उपासना-पद्धति और साथ ही जयदेव, विद्यापति तथा चण्डीदास के प्रेम-प्रधान गीत-काव्य-पद्धति के स्पष्ट प्रभाव हैं। इस साहित्य के वात्सल्य और शृङ्गार मुख्य रस हैं। यह दोनों रस काव्य के धरातल पर बहते हैं किन्तु इनका उद्गम गोलोक का अध्यात्म-गिरि है।

कृष्ण की बाल चेष्टाएँ, गोचारण, दान-लीला, माखन-चोरी; चीरहरण, पनघटलीला, रास तथा प्रेम-क्रीड़ाएँ ही इस साहित्य के मुख्य विषय हैं। स्पष्ट है कि कृष्ण-जीवन के ये सभी प्रसंग मधुर-रस की ही वस्तु हैं। इन कवियों का मूल-तत्त्व है भक्ति किन्तु आगे चलकर रीतिकाल में इस तत्त्व का लोप हो गया तथा समस्त लीलाएँ ऐन्द्रिय जगत् तक सीमित रह गईं। फल स्वरूप उसमें जीवन का प्रवाह कुण्ठित हो गया।

सूर का जीवन-परिचय

जन्म तथा मृत्यु तिथियाँ :—

डॉ० राम कुमारवर्मा ने इनका जन्म सं० १५४२ तथा मृत्यु सं० १६२० निश्चित किया है। मिश्र बन्धुओं के अनुसार इनका जन्म सं० १५४० है। भारतेन्दु जी ने जन्म सं० १५३५ और मृत्यु सं० १५८७ माना है। 'प्राचीन वार्ता रहस्य' में वल्लभाचार्य तथा सूरदास का जन्म सम्वत् एक ही बताया गया है। इस प्रकार सं० १५३५ ठहरता है। उनकी जन्म तिथि वैशाख शुक्ल ५ है। इनकी मृत्यु पारसोली नामक ग्राम में स्वामी विट्ठलनाथ के सामने ही सं० १६२० में हुई थी।

जन्म-स्थान :—

वार्ता टीकाकार हरिनाथ जी इनकी जन्मभूमि दिल्ली के निकट सीही नामक ग्राम बताते हैं। उनका निवास स्थान आगरा-मथुरा सड़क पर रुनकता ग्राम में होना बताया जाता है।

वंश-परम्परा :—

गोकुलनाथ कृत 'चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता' के आधार पर इनको सारस्वत ब्राह्मण कहा गया है। इनके पिता का नाम रामदास बताया गया है किन्तु डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है कि 'वार्त्ता' में इसका उल्लेख नहीं है। साहित्य-लहरी के एक पद के आधार पर एक मत है कि ब्रह्मभट्ट चन्दवरदाई के वे वंशज हैं। इनके पिता का नाम हरिश्चन्द्र था। यह भी कहा जाता है कि इनके छः भाई मुसलमानों के साथ युद्ध में मारे गये।

क्या सूर जन्मान्ध थे ?

प्रकृति के नाना रूपों तथा मानव चेष्टाओं के सूक्ष्म चित्रणों को उनकी रचनाओं में देखकर यह निश्चित प्रतीत होता है कि वे जन्मान्ध नहीं थे। मिल्टन की भाँति उनकी ज्योति, जीवन के Half days में ही समाप्त हो गई थी। 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' में लिखा है :—

'जो सूरदास श्री गोकुल को दर्शन करो।' 'सूरदास ऊपर आउ स्नान करिके श्रीनाथ जी कौ दर्शन करि।' 'सो देख सूरदास जी के संग के भगवदीय हैं।'

इन्हीं सन्दर्भों के आधार पर डॉ० जनार्दन मिश्र लिखते हैं :— This statement does not leave any doubt that Surdas was not blind. He could see people playing dice and he could observe also that they were absorbed in the play (Surdas, P. 25)

सूर का साहित्य

सूरदास की रचनाओं की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में बहुत शोध की आवश्यकता है। नागरी-प्रचारिणी-सभा की खोज में उनके १६ ग्रन्थों की सूचना दी गई है। उसमें गोवर्धनलीला बड़ी, दशम स्कन्ध की टीका, नागलीला, पद-संग्रह, श्यामसगाई, व्याहलो, भागवत, सूरपचीसी, सूरदासजी का पद, सूरसागर, एकादशी माहात्म्य, राम जनम, सूरसारावली, साहित्यलहरी, नल-दमयन्ती और सूरसागरसार के नाम गिनाये गए हैं।

नलदमयन्ती को डॉ० मोतीचन्द ने सं० १८६५ में किसी अन्य सूरदास का लिखा हुआ सूफी प्रेमकाव्य सिद्ध किया है। साहित्यलहरी में सूरसागर के

ही कूटपद संग्रहीत दिखाई देते हैं। सूरसारावली किसी अन्य कवि की रचना सी लगती है। एकादशी माहात्म्य तथा ब्याहलो तो नाम ही से संदिग्ध ग्रन्थ प्रतीत होते हैं जिनके विषय से भी सूर की प्रवृत्तियों का मेल नहीं बैठता। शेष ग्रन्थ सूरसागर के ही भाग होंगे। जो कुछ भी हो सूर की मूल कृतियों तथा मूल-पाठों पर शोध अभी होनी चाहिए।

सूरसागर के सम्बन्ध में भी अभी कई प्रकार की खोजें बाकी हैं। देखना है कि उस ग्रन्थ के कितने पद प्रक्षिप्त हैं, प्रामाणिक पदों के मूल पाठ क्या हैं तथा उसके कितने और कौन से पद अप्राप्य हैं। अब भी यह अनेक रासो ग्रन्थों की भाँति प्रमाणिकता के लिए व्यापक शोध चाहता है।

भावों की गहराई, कल्पना की तरंगों तथा विशालता की दृष्टि से निश्चित ही सूरसागर एक महान सागर है। यह 'मानस' की भाँति प्रवाहयुक्त क्रमबद्ध प्रबन्ध-काव्य तो नहीं है किन्तु भागवत की कथा का एक क्षीण संगठन इसमें अवश्य है। यह भागवत का अनुवाद भी नहीं है। सूरसागर के स्कन्धों के विस्तार भी कथा के विकास के अनुसार नहीं है फिर भी दृश्य तथा घटनाएँ एक क्रम में हैं। इसे खण्ड-काव्यों का संग्रह भी हम नहीं कह सकते।

कृष्ण के जीवन के जो मनोहर अंश सूर के कोमल हृदय को भावाभिभूत कर देते थे उन्हीं की अभिव्यक्ति, गीतों में फूट पड़ती थी। तुलसी की गीतावली में हम ऐसी ही अभिव्यक्ति देखते हैं। लगता है बाद में उन गीतों को क्रम में सजाया गया। सूरसागर में मार्मिक पदों को क्रम में सजाने के लिए बीच-बीच में वर्णनात्मक-छन्दों के भी प्रयोग किये गये हैं। जिन प्रसंगों में सूर का हृदय नहीं रमा वे भी उन्हीं छन्दों में वर्णित हैं।

डॉ० रामरतन भटनागर ने सूरसागर को कथात्मक-गीतिकाव्य अथवा गीतात्मक-कथाकाव्य कहा है। सूरसागर भागवत की ही परम्परा को लेकर चलता है परन्तु उसमें सर्वत्र ही सूर की मौलिकता और स्वतंत्रता लक्षित होती है। भागवत के बहुत से प्रसंग उन्हें नहीं भाते, जिन्हें वे एक दम छोड़ देते हैं तथा बहुत से नवीन सरस-प्रसंगों की कल्पना वे स्वयं कर लेते हैं। भागवत विषय-प्रधान है तथा सूर सागर भाव-प्रधान। भागवत की बाललीला, गोचारण तथा गोपीप्रेम का सूर ने मौलिक विस्तार किया है। सूर की सारी प्रतिभा तथा सरस अभिव्यक्ति के वास्तविक दर्शन इन्हीं प्रसंगों में पाये जाते हैं।

सूरसागर की राधा का विकास भी मौलिक है। भ्रमरगीत की कथा का विकास अत्यन्त मौलिक है जिसमें सूर ने नवीन उद्देश्यों की सृष्टि तथा पुष्टि

की है। संयोग, वियोग तथा रूप-सौन्दर्य के मोहक चित्र नितान्त मौलिक हैं। सिद्धर बाभन, महराने के पाँडे और कागासुर की कथाएँ सूर की मौलिक उद्भावनाएँ हैं। शकटासुर का रूप भी भागवत से भिन्न है। भागवत में वत्सासुर का वध कृष्ण करते हैं किन्तु सूरसागर में बलराम। प्रायः असुर-वधों के वर्णन लम्बे वर्णनात्मक छन्दों में हैं। भागवत में नागलीला जल के ऊपर होती है किन्तु सूरसागर में जल के भीतर।

सूरसागर में वसन्तलीला, फागुलीला और होलीलीला अत्यन्त मौलिक हैं। ये लीलाएँ कला, तन्मयता तथा भक्ति की दृष्टि से अन्य लीलाओं की अपेक्षा उत्कृष्ट हैं। इनमें प्रकृति के आकर्षक चित्र हैं। सूरसागर की राधा का भागवत में कोई अस्तित्व नहीं है। ब्रह्मवैवर्त पुराण की राधा को ही सूर ने मौलिक रूप दिया है। सूर ने कृष्ण के भावगम्य रूप को लेकर अपने सागर की रचना की है। सूरसागर में भागवत के दशम स्कन्ध के ही प्रसंग घटा बढ़ाकर अधिकतर चित्रित हैं। भागवत का एक रूप खड़ा करने के लिए दस-दस पाँच-पाँच छन्दों या पदों में अन्य स्कन्धों के प्रसंगों की झलक मात्र दे दी गई है। सूरसागर हिन्दी का श्रेष्ठ महाकाव्य है।

सूर के कूट-पदों को हम उलटवासियों की परम्परा में रख सकते हैं। कूट एक प्रकार की कवि-क्रीड़ा हैं। जनता इन्हें कौतूहल से याद करती है। उलटवासियों के लक्ष्यार्थ हठयोग की क्रियाओं में ढूढ़ने पड़ते हैं और कूटों के अर्थ पुराणों तथा रीति ग्रन्थों में। इन कूटों में हृदय की नैसर्गिकता कम तथा बुद्धि का चमत्कार अधिक है। ये कूट भी अपने स्थान पर साहित्य के एक अंग की पूर्ति करते हैं।

सूर की भक्ति

सूरदास पुष्टिमार्ग के प्रणेता वल्लभाचार्य के शिष्य हैं। पुष्टि का अर्थ है अनुग्रह, अनुकम्पा। कृष्ण की अनुकम्पा ही भक्त का लक्ष्य है। वेदान्त के अद्वैतवाद का विश्लेषण करके वल्लभाचार्य ने अपने नवीन शुद्धाद्वैत की स्थापना की। इस नवीन वाद में माया के मिथ्यात्व का कोई स्थान नहीं। ब्रह्म ही प्रकृति बनकर भोग्य तथा स्वयं भोक्ता बनता है। वह अपनी लीला में अपने गुणों का विस्तार तथा संकोचन करता है।

इस दर्शन में पूर्णब्रह्म में सत्, चित्, आनन्द तथा रस चार गुण होते हैं। अक्षर ब्रह्म में सत्, चित्, तथा कुछ आनन्द के गुण होते हैं। उसी ब्रह्म में जब आनन्द तथा रस का तिरोभाव होता है तब जीव बनता है। केवल

सत् के रूप में वह जगत् बनता है । इस प्रकार वह ब्रह्म ही इस सृष्टि का उपादान कारण भी है । ब्रह्म के सिवा कुछ नहीं । जो है सब ब्रह्म ही है ।

यह ध्यान में रखना चाहिए कि सूरदास ने कोई भक्ति-सिद्धान्त-ग्रन्थ नहीं लिखा । पुष्टिमार्ग की मान्यताओं को मानते हुए उन्होंने स्वतंत्र भक्ति की । उन्होंने माया के अस्तित्व को स्वीकार किया है । शुद्धाद्वैतवादी अविद्या को भी स्थान दिया है ।

(१) हरि तुम माया को न बिगोयौ ।
नारद मगन भये माया में ज्ञान बुद्धि बल खोयौ ॥
(२) कहा करौं तेरी प्रबल माया देखि मन भरमाइ ।
सूर प्रभु की सबल माया देति मोहि भुलाइ ॥

तुलसी की भाँति ही सबको नचाने वाली माया, सूर के विचार से भी भगवान् की दासी है । वल्लभाचार्य के अनुसार प्रवाह (संसारी), मर्यादा (कर्मकाण्डी तथा ज्ञानी) और पुष्टि-प्राप्त भक्त तीन श्रेणियाँ हैं । इनमें ज्ञानी अक्षर ब्रह्म को प्राप्त होते हैं किन्तु भक्त पूर्णब्रह्म को । लीला के लिए पूर्णब्रह्म ने ही चारो गुणों से युक्त कृष्ण का अवतार लिया है ।

सूर की भक्ति का अध्ययन उनके इस पद से प्रारम्भ करना चाहिए :—

अविगत गति कछु कहत न आवै ।
रूप-रेख-गुन-जाति जुगति बिनु निरालम्ब कित धावै ।
सब बिधि अगम बिचारहिं तातें सूर सगुन लीला पद गावै ॥

एक स्थान पर कहते हैं :—'भक्त हेतु अवतार धरयो ।'

सूर के भगवान् भक्तवत्सल, कष्टहारी, शरणागत के रक्षक, दीन बन्धु तथा अभय देने वाले हैं । तुलसी की सारी मान्यताएँ भी यही हैं ।

प्रनतपाल रघुबंसमणि, करुणा-सिन्धु खरारि ।
गये शरण प्रभु राखिहैं, सब अपराध बिसारि ॥

सूर भी कहते हैं :—
(१) हरि सौं ठाकुर और न जन को ।
(२) जब जब दीनन कठिन परी ।

भक्ति का आधार विश्वास पर टिका है । विश्वास के लिए प्रमाण तथा अनुभव होने चाहिए । इसकी स्पष्ट व्याख्या तुलसी ने की है ।

बिनु बिस्वास भगति नहीं, तेहि बिनु द्रवहिं न राम ।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ, जीव न लह बिश्राम ॥

यहाँ 'राम की कृपा' वल्लभाचार्य की पुष्टि ही है।

प्रकृति पार प्रभु सब उर वासी। ब्रह्म निरीह विरज अविनासी॥
भगत हेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तन भूप।
किए चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप॥

सूरदास कहते हैं:—

(१) भक्त हेतु अवतार धर्‌यो।
(१) पिछली साख भँरू संतन की अड़े सँवारे काम।

प्रमाण स्वरूप:—

"द्रुपद सुता निर्बल भई ता दिन तजि आए निज धाम॥"

सूरसागर के विनय के पदों को देखकर ऐसा लगता है कि इन पदों की रचना 'विनयपत्रिका' के रचयिता द्वारा ही की गई है। वही आत्म-समर्पण, वही दीनता, वही विश्वास तथा मान्यताएँ इन पदों में विद्यमान हैं। आदि से अन्त तक सम्पूर्ण निर्गुण-सगुण के भक्ति साहित्य में 'समर्पण' का एक विचित्र समान आदर्श पाया जाता है।

भक्ति-काल के सभी सन्तों में एक तीव्र मुक्त भावना मिलती है जो भक्त को वेग से आराध्य की ओर खींचने वाली है। कबीर, दादू, मीरा, तुलसी तथा सूर आदि भक्तों ने विभिन्न सम्प्रदायों में दीक्षा ली। विभिन्न सम्प्रदायों के दार्शनिक सिद्धान्त भी भिन्न हैं किन्तु भक्ति के धरातल पर सभी भक्त एक पंक्ति में बैठे दिखाई देते हैं। सबके हृदय के अन्तराल से एक ही पुकार उठ रही है वे कभी अड़ते हैं कभी शरण में गिर पड़ते हैं। उनके हृदय इतने मुक्त और व्याकुल हैं कि शास्त्रों तथा सम्प्रदाय के सिद्धान्तों में बाँधे नहीं जा सकते।

एक बात और ध्यान देने योग्य है। दर्शन के सिद्धान्तों में ब्रह्म के जिन निर्गुण तथा सगुण रूपों की व्याख्या और स्थापना की गई है, इन्हीं सन्तों ने उन रूपों को मोहक एवं ग्राह्य बनाया। उनको मठों तथा मन्दिरों से लेकर जन-मन के मस्तिष्क तथा हृदय-मन्दिरों में प्रतिष्ठित किया। दार्शनिक मान्यताओं को शिरोधार्य करते हुए भक्ति का स्वतंत्र विकास किया। सांसारिक सुखों को तिलाञ्जलि देकर इस विकास और अनुसन्धान में अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर दिया। उनकी साधना धन्य है।

फलस्वरूप हिन्दी के भक्ति-साहित्य की तुलना में संसार की किसी भी भाषा का साहित्य नहीं रखा जा सकता। संस्कृत का आध्यात्मिक चिन्तन जिस प्रकार

विश्व में अद्वितीय है उसी प्रकार हिन्दी का भक्ति साहित्य भी सर्वथा अनुपम है अनुभूतियों की ऐसी सूक्ष्मता तथा समर्पण की ऐसी धुन एवं साधना की ऐसी कठोर कोमलता, विश्व साहित्य में कहाँ उपलब्ध है। इन भक्तों की साधना व्यक्तिगत होते हुए भी लोक-मंगल के लिए थी।

वैज्ञानिक दृष्टि से इस भक्ति का अपना सामाजिक पहलू भी है। समाज के चरित्र से इसका सीधा सम्बन्ध है। पश्चिम की भौतिकवादी ऐन्द्रियता, इस्लाम की कट्टरता तथा मार्क्सवादी जड़ता की तुलना में हम भक्ति की पवित्रता तथा सदाशयता का मूल्यांकन कर सकते हैं। भक्ति का आधार प्रेम है जो केवल मनुष्य-मनुष्य ही नहीं बल्कि जीव-जीव को एक मधुर सम्बन्ध में जोड़ने वाला है। उस धरातल पर सभी भेद मिट जाते हैं। वह भक्ति भव-बन्धन को 'छोरने' वाली है, ऐन्द्रियता की सड़न को साफ करनेवाली है, तलवार की धार को मोड़ने वाली तथा सय्याद के बनाए हुए कफ़स को तोड़ फेंकने वाली है।

यहाँ सूर की भक्ति के सन्दर्भ में कुछ अन्य भक्तों की पंक्तियाँ दी जा रही हैं।

सूर :—(१) मेरो मन अनत कहाँ सचु पावै।
जैसे उड़ि जहाज कौ पंछी फिरि जहाज पै आवै॥
(२) तुम तजि और कौन पै जाऊँ।
(३) अब की राखि लेहु भगवान।
हौं अनाथ बैठ्यो द्रुमडरिया पारधि साधे बान॥
(४) जा दिन मन पंछि उड़ि जैहैं।
ता दिन तेरे तन तरुवर के सबै पात झरि जैहैं॥
(५) रे मन जग पर जानि ठगायो।
धन मद, कुल मद, तरुनी के मद, भव मद, हरि बिसरायो।
(६) नर तैं जनम पाइ कह कीनो।
उदर भरयो कूकर सूकर लौं, प्रभु कौ नाम न लीनौ॥
(७) अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल।
काम क्रोध कौ पहिरि चोलना कंठ विषय की माल॥
सूरदास की सबै अविद्या दूर करौ नन्दलाल॥

कबीरः—(१) साहिब तुमहिं दयाल हौ, तुम लगि मेरी दौर।
जैसे काग जहाज कौ, सूझै और न ठौर॥

(२) मै अपराधी जनम का, नख सिख भरा विकार।
तुम दाता दुख भंजना, मेरी करो उधार॥

(३) भवसागर भारा भया, गहरा अगम अथाह।
तुम कृपाल करुना करो, तब पाऊँ कछु थाह॥

(४) राजा अम्बरीष के कारन चक्र सुदरसन जारै।
दास कबीर का ठाकुर ऐसो, भगत को सरन उबारै॥

तुलसी :-(१) ऐसो को उदार जगमाहीं।

बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोऊ नाहीं॥
सो संपदा विभीषण कहँ अति सकुच सहित प्रभु दीन्ही॥

(२) मो सम दीन न दीन हित तुम समान रघुबीर।
अस विचारि रघुबंसमनि हरहु विषम भवभीर॥

(३) स्रवन सुजसु सुनि आयउँ, प्रभु भंजन भव भीर।
त्राहि त्राहि आरति हरन, सरन सुखद रघुबीर॥

(४) निदरि गनी आदर गरीब पर करत कृपा अधिकाई।

संत रैदास :—

प्रभुजी तुम घन-घन हम मोरा। जैसे चितवत चन्द चकोरा॥
प्रभुजी तुम स्वामी हम दासा। ऐसी भगति करै रैदासा॥

संत मलूकदास :—

(१) तेरोइ एक भरोस मलूक को तेरे समान न दूजो जसी है।
एहो मुरारि पुकारि कहौं अब मेरी हँसी नहिं तेरि हँसी है।

(२) दया करै धरम मन राखै, घर में रहै उदासी।
अपना सा दुख सबका जाने ताहि मिलै अबिनासी॥

मीरा :—

(१) मेरो तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई।
(२) मीरा प्रभु संतन सुखदाई भक्त वछल गोपाल॥
(३) दासि मीरा लाल गिरिधर जीवना दिन चारि।
(४) दासि मीरा लाल गिरिधर अगम तारन तरन॥

सम्पूर्ण भक्ति-साहित्य में हृदय की एक-रसता आश्चर्य जनक है। बड़ी साधना से इन सन्तों ने हिन्दी-साहित्य में भक्ति के दिव्यलोक की एक सृष्टि

की है। उस दिव्यलोक के टिमटिमाते तारा-समुदाय में सूरदास एक चमकते तारा हैं 'निराला' ने कहा है :—

भक्ति-भावना में रचना आलोक समन्वित
हुई उसी स्वाधीन चेतना से उत्कलचित। —(तुलसी के लिए)
मीरा की मानसी गीतिका सहृदयता की
छवि से भरी हुई, निरवधि कलियों की राखी। —(मीरा के लिए)
सूरदास के गीत, रसों के स्रोत निरन्तर
फूटीं सरिताएँ उमड़ा शशधर से सागर।

सूरदास की भक्ति सख्य भाव की कही जाती है। ऊपर हमने उनकी दीन भावना पर विचार किया है। सूर के साहित्य में बाल-चित्रण तथा भ्रमर-गीत की मनोहरता को देख कर स्पष्ट लक्षित होता है कि पुष्टिमार्गीय वात्सल्य-रस तथा श्रृङ्गार-रस के प्रसंगो में उनका हृदय मुक्तगति से प्रवाहित हो रहा है। इन्हीं स्थलों पर सूर की कला का चरम उत्कर्ष दिखाई देता है। यहीं हृदय के क्षितिज पर (निर्गुण की भाषामें आत्मा-परमात्मा का, सूफियों की भाषा में धरती और गगन का तथा सगुण की भाषा में—) लोक तथा गोलोक का मिलन हो रहा है। सूर एक बुद्धिमान रसिक हैं। कृष्ण उनकी भक्ति के आलम्बन हैं। कभी नन्द, कभी यशोदा, कभी गोप तथा कभी सखा में स्वयं स्थित होकर आश्रय बनते रहते हैं। उद्दीपन की सामग्री वहीं ब्रज-भूमि में उपस्थित है।

यह पुष्टिमार्ग का भक्ति-रस ही है जो सूर-साहित्य में कभी वात्सल्य-रस का वेग पकड़ता है तथा कभी श्रृङ्गार रस का। यहाँ 'रस' शब्द का पुष्टि-भक्ति में विशेष अर्थ है और काव्य में भी यह 'रस' अभिप्रेत गुण है। 'रस' के धरातल पर दर्शन और काव्य का ऐसा समन्वय, विश्व-साहित्य में कहीं नहीं मिलेगा। इन रसों का कुछ विशेष अध्ययन हम आगे 'वात्सल्य-रस' तथा 'भ्रमरगीत' में करेंगे।

सूर की काव्यकला

रस तथा ध्वनि :—

सूर प्रायः शान्त, वात्सल्य तथा श्रृङ्गार के कवि हैं। शान्त-रस की धारा उनके विनय के पदों में है। संसार तथा शरीर की नश्वरता, माया के प्रपञ्च तथा जन्म-मृत्यु के चित्रों के भीतर वह धारा प्रवाहित हो रही है। भौतिक

संसार के प्रति विरक्ति वहाँ स्थायी भाव है। सूर के भगवान् आलम्बन हैं तथा सृष्टि के नश्वर रूप उद्दीपन हैं। पदों की गेयता उस धारा में और भी वेग प्रदान करती है। ऐसे पदों की रचना सूर ने तभी तक की जबतक वल्लभाचार्य के सम्पर्क में नहीं आये।

दीक्षा के बाद उनके महाप्रभु ने विनय के पदों में 'घिघियाने' को निरर्थक बताया। उन्होंने कृष्ण के लीला-पद गाने का उपदेश किया। ब्रह्म के सत्, चित्, आनन्द तथा रसादि गुणों में, रस को पूर्णब्रह्म की चरम अनुभूति बताया। कृष्ण स्वयं भोग्य तथा भोक्ता दोनों हैं। उस रस के वे ही अधिकारी हैं जिन पर उनका अनुग्रह होता है। आगे हम देखते हैं कि सूर के बाल-चित्रणों में वात्सल्य-रस की, कृष्ण-गोपिका प्रसंगों में शृङ्गार-रस की ऐसी धारा बही है जो विश्व-साहित्य की अमूल्य सम्पत्ति है। इन रसों पर अलग शीर्षकों में विचार किया जायेगा।

सूर की मधुर भक्ति में वीर, रौद्र तथा भयानक रसों के लिए प्रकृति से ही स्थान नहीं था। वैराग्य लेने के बाद सूर को ऐसे सत्संग में रहने का अवसर मिला जहाँ नित्य भक्त कवियों तथा गायकों का सम्पर्क रहता था। सूर स्वयं कुशल गायक थे। उनमें कवि की श्रेष्ठ प्रतिभा थी। यही कारण है कि उनके पदों में उत्कृष्ट कलात्मकता पाई जाती है। प्रसाद एवं माधुर्य गुण उनमें पाये जाते हैं। उनके पदों में ध्वन्यात्मकता की सभी शक्तियाँ पाई जाती हैं। मुरली और स्व-नेत्रों के प्रति उपालम्भ, दान और मान-लीला-प्रसंग, विरह-चित्रण तथा उद्धव-गोपिका-संवाद प्रसंगों में सूर की लाक्षणिक वक्रता देखने योग्य है।

(१) वह पापिनी दाहि कुल आई देखि जरति है छाती।

(२) एक बात की बीस बनाई

(३) वे बातें छतिया लिखि राखीं जे नन्दलाल कही।

(४) सिर पर सौति हमारैं कुबिजा, चाम के दाम चलावै।

इनमें अभिधार्थ के पीछे लक्ष्यार्थ भी लगे हुए हैं। छाती जलना (दुख होना), बीस बात बनाना (एक झूठी बात की रक्षा के लिए अनेक झूठ बोलना), छाती पर बातें लिखना (याद रखना) आदि प्रयोगों से उनकी रचनाएँ सशक्त हो उठी हैं।

सूर की कला में वहाँ तो और भी चमत्कार आ जाता है जहाँ लक्ष्यार्थों के

बाद अलग से व्यंग्यार्थ भी ध्वनित होने लगते हैं। वहाँ तिहरे अर्थों की त्रिवेणी में रसिक डूबने उतराने लगते हैं।

किधौं घन गरजत नहिं उन देसनि।
किधौं उहि देस बगनि मग छाँड़े, धरनि न बूँद प्रवेसनि॥
चातक मोर कोकिला उहिं बन, बधिक न बधे बिसेषनि।
किधौं उहि देस बाल नहिं झूलहिं गावत्ति सखिन सुबेसनि॥

इसका सीधा वाच्यार्थ यह है—जहाँ इस समय कृष्ण रहते हैं, क्या वहाँ बादल नहीं गरजते ? क्या बगुलों ने वहाँ का मार्ग छोड़ दिया है और मेघ पानी नहीं बरसाते ? वहाँ के चातकों, मोरों तथा कोयलों को वहाँ के बधिकों ने मार तो नहीं डाला ? क्या वहाँ सखियाँ गाती तथा झूलती नहीं हैं ?

इस अर्थ के पीछे यह भाव स्पष्ट हो रहा है कि वर्षा ऋतु के आगमन से गोपियाँ उद्दीप्त तथा मिलन के लिए व्याकुल हैं। कृष्ण में भी ऐसी उत्कण्ठा स्वभावतः होनी चाहिए। उनके न आने का कारण क्या है ? क्या वहाँ इस ऋतु का प्रवेश ही नहीं हुआ ?

किन्तु इस अर्थ के पीछे गोपिकाओं का तीसरा भाव जो अन्तिम व्यंग्यार्थ है, छिपा हुआ है। वह यह है—वर्षा के घन-गर्जन, दादुर-ध्वनि, चातक-मोर-कोकिला के स्वर सुनकर; युवतियों को इस ऋतु में आमोद करते देख कर कृष्ण हम लोगों को भूल गये हों, ऐसा हो नहीं सकता। उन पर भी इस ऋतु का प्रभाव पड़ रहा होगा, इसका हमें पूर्ण विश्वास है। ऐसी सशक्त अभिव्यञ्जना सूर को कलाकारों में बहुत ऊँचा उठा देती है। ऐसी अभिव्यक्तियाँ हमको अनेक स्थलों पर मिलेंगी।

नन्द, ब्रज लीजै ठोंकि बजाइ।
देहु बिदा मिलि जाहिं मधुपुरी, जहँ गोकुल के राइ॥

कृष्ण के विछोह से संतप्त यशोदा अपने पति से खीझकर कहती हैं कि आप अपने ब्रज को सिर पर लादे रहिए, मैं तो मथुरा चली। इस कथन पर शुक्ल जी लट्टू हो गये थे। एक ही वाक्य में कुछ निर्वेद, कुछ तिरस्कार, कुछ अमर्ष की मिश्रित व्यञ्जना पाठक को विचित्र स्थिति में डाल देती है।

छन्द :—

सूर ने अनेक छन्दों में रचना की है। उनमें छोटे छन्द; जैसे चौपाई, कुण्डल, चौपाई और चौबोला आदि, बड़े छन्द; जैसे लावनी, हरिप्रिया, सरसी, विष्णुपद तथा सार आदि मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त तोमर, दोहा, भानु,

राधिका, रोला, रूपमाला, हरी, हंसाल, सुखदा, शोभन तथा सवैया आदि के प्रयोग भी किये गये हैं।

लय, गति एवं तुक ही छन्द के अंग हैं जिनका सम्बन्ध शब्द-योजना से है। गेय-काव्यों में इनका विशेष महत्त्व है। उनके कलात्मक अलङ्कारपूर्ण गेय पदों में एक ओर ताल-सुर तथा दूसरी ओर शब्दों की शुद्धता का निर्वाह आश्चर्यजनक है। संगीत की मृदु-मधुर ध्वनि के कारण सूर के पद अत्यन्त ललित हैं। उनसे कोई राग-रागिनी नहीं छूटी। कुछ रागिनियाँ तो आज के संगीत जगत को ज्ञात भी नहीं हैं। इतनी रागिनियाँ हिन्दी क्या विश्व की किसी भाषा के एक कवि में नहीं मिल सकतीं। इस प्रकार साहित्य संसार तथा संगीत-जगत दोनों में सूर का स्थान ऊँचा है।

सूर के हृदय की वास्तविक अभिव्यक्ति गेय पदों में ही हुई है। कथानक के विकास तथा जोड़ के लिए उन्होंने वर्णनात्मक छन्दों का प्रयोग किया है।

अलङ्कार :—

शब्दालङ्कारों में सूर का प्रिय अलङ्कार अनुप्रास है। यमक के प्रयोग नहीं के बराबर हैं। यत्र-तत्र श्लेष के प्रयोग मिलते हैं। यहाँ श्लिष्ट पदों के प्रयोग से युक्त मुद्रालङ्कार की एक छटा है :—

कत मो सुमन सों लपटात।
समुझ मधुकर परत नाहीं मोहिं तेरी बात॥
कुमुदिनी सँग जाहु करके केसरी को गात।
हेमजुही है न जा सँग रहे दिन पस्चात॥

यहाँ सुमन (बेला, गला), मधुकर (भ्रमर, रसिक), हेमजुही, (एक फूल, हृदय हीन) तथा कुमुदनी (कोई, बुरी स्त्री) में श्लेष और हेमजुही, कुमुदनी के नामों में मुद्रालङ्कार है।

अर्थालङ्कारों में अत्युक्ति, अतिशयोक्ति, निदर्शना, यथासंख्य, सन्देह, अपह्नुत्ति, अर्थान्तरन्यास आदि के प्रयोग सूर-काव्य में मिलते हैं, किन्तु सूर के प्रमुख अलङ्कार हैं रूपक और उत्प्रेक्षा। रूपक में वे तुलसी की समता करते हैं तथा उत्प्रेक्षा में रीतिकालीन कवियों से टक्कर लेते हैं। इन अलङ्कारों की छटा उनके साहित्य में सर्वत्र मिलती है। इस पद में एक ही स्थान पर सांगरूपक तथा उत्प्रेक्षा के संयुक्त प्रयोग से रूप-सागर में लहरें तरंगित हो रही हैं :—

देखौ माई ! सुन्दरता कौ सागर।
तनु अति श्याम अगाध अम्बु-निधि कटि-पट पीत पतंग।
नैन-मीन मकराकृत कुंडल भुज-सरि-सुभग भुजंग।
मुक्ता-माल मिली मानो द्वै सुरसरि एकै संग॥
मोर-मुकुट मनिगन आभूषन कटि किंकिन नख-चन्द।
मनु अडोल वारिधि में बिम्बित राका उडुगन वृन्द॥

एक विशेष बात यह है कि सूर ने पूर्व-प्रयुक्त उपमानों का ही प्रयोग किया है तथा एक ही उपमान का कई बार प्रयोग किया है किन्तु सर्वत्र नवीनता बनी रहती है तथा शिथिलता नहीं आने पाती।

भाषा :—

उनकी भाषा में प्रसाद तथा माधुर्य गुण पाये जाते हैं। उनके रस ही ऐसे हैं जिनमें ओजपूर्ण भाषा अनुपयुक्त है। उनकी भाषा में कृत्रिमता का अभाव तथा सरलता और स्वाभाविकता है। दूसरी विशेषता उनकी शब्द-योजना में है जहाँ एक एक शब्द चित्र का सा आनन्द देता है। तीसरी बात यह है कि उनकी भाषा भावों के अनुरूप चलती है।

(१) अटपटाइ कलबल करि बोलत।

(२) अरबराइ कर पानि गहावत डगमगाइ धरनी धर पैया।

प्रथम पंक्ति की ध्वनि से बालक की 'अस्फुट' ध्वनि स्वयं निकल रही है। दूसरी पंक्ति के उच्चारण में शिशु की चाल की डगमगाहट ध्वनित है।

उनकी भाषा की चौथी विशेषता है सजीवता। बोलचाल की भाषा के शब्द जान डाल देते हैं :—

लादि खेप गुनग्यान जोग की ब्रज में आय उतारी।

स्थान स्थान पर मुहावरों के प्रयोग से उनकी भाषा में चार चाँद लग गये हैं :—

(१) टेढ़ी चाल पाग सिर टेढ़ी टेढ़े टेढ़े धायौ।

(२) कबहुँक फूलि सभा में बैठ्यो मूँछनि ताव दिखायौ।

(३) सूरदास स्वामी बिनु गोकुल कौड़ी हू न लहै।

इनकी कहावतों के प्रयोग भी भाषा को सजीव तथा सशक्त बनाने वाले हैं।

(१) ज्यों गजराज काज के औसर औरै दसन दिखावत।
(२) भई रीति हठि उरग-छँछूदर छाड़े बने न खात।

पुरुषों की अपेक्षा वार्तालाप में स्त्रियाँ कहावतों का अधिक प्रयोग करती हैं। सूर ने स्त्रियों द्वारा ही इनका प्रयोग करवाया है।

सूर के शब्द-भंडार में कहीं ब्रजभाषा के प्राचीन प्रयोग मिलते हैं तो कहीं छाक, सथिया, पतूखी, भूड़, पाले और लंगरई जैसे घरेलू शब्द भी। कहीं मोर, तोर, इहवाँ, जहवाँ जैसे पूरबी तथा गुजराती के वियो, पंजाबी के प्यारी, बुन्देलखण्डी के गहिबी के भी प्रयोग मिलते हैं। एकाध पदों में जहाँ उन्होंने अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग किया है उन्हें देशी प्रकृति में पहले ढाल लिया है। उनमें अरबी के कागद, खरच, गरीब, गुलाम आदि तथा फारसी के अवाज, गरद, दरजी, बेसरम, सोर, हुसियार आदि हैं।

अपने प्रिये आराध्य कृष्ण की जन्म-भूमि की भाषा की समृद्धि, जिस शक्ति से नेत्रहीन कवि सूर ने की वैसी किसी नेत्रयुक्त कवि ने नहीं की। उन्होंने कृष्ण तथा ब्रज-भूमि की भाँति ब्रजभाषा को भी अमर बना दिया। इस प्रकार ब्रजभाषा को पाकर सूर जितने कृतकृत्य हुए उससे अधिक सूर को पाकर ब्रजभाषा कृतकृत्य हो गई।

बाल-चित्रण : वात्सल्य-रस

अपने साहित्य के जिस भाग में सूर ने बाल-कृष्ण का चित्र खींचा है उसकी टक्कर की सामग्री विश्व-साहित्य में अन्यत्र कदापि नहीं। किस मनोयोग तथा किस चमत्कार से सूर ने बाल-स्वभाव, बाल-सौन्दर्य तथा बाल-चेष्टाओं को कला के सरस-धरातल पर उतारा है, देखकर विस्मय होता है। वह भी एक चक्षु-विहीन कलाकार द्वारा ऐसा चमत्कार हुआ है।

इन चित्रणों में सर्वत्र ही सूर के भक्त तथा सूक्ष्मदर्शी कलाकार का रूप समानान्तर गति से लक्षित होता रहता है। सूर इन स्थलों पर दुहरा लाभ उठाते हैं। एक ओर नन्द, यशोदा तथा गोपिकाओं में स्थित होकर वात्सल्य का रसास्वादन करते हैं, दूसरी ओर भक्ति-रस का आनन्द लेते हैं। सच पूछा जाय तो वात्सल्य तथा भक्ति को काव्य में रस के धरातल पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय सूर को ही है। भक्ति नहीं तो वात्सल्य के श्रेय के सम्बन्ध में तो शंका ही नहीं है। उनके इस रस के आलम्बन कृष्ण, नन्द-यशोदा-गोपिकाएँ तथा स्वयं सूर आश्रय, कृष्ण की चेष्टाएँ उद्दीपन तथा स्नेह स्थायी भाव है। अध्यात्मपक्ष

के भक्ति-रस में आलम्बन, आश्रय तथा उद्दीपन वही हैं किन्तु स्थायी भाव भिन्न है। रस-गंगाधर में इसका स्थायी भाव भगवान् के प्रति अनुराग बताया गया है। मेरी समझ में श्रद्धा को स्थायीभाव माना जाना चाहिए।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से स्नेह तथा श्रद्धा की अनुभूतियों में कोई अन्तर्विरोध नहीं दीखता। व्यवहारतः दोनों एक साथ भी (मिश्रित होकर) रह सकते हैं। अब भी हम बराबर देखते हैं कि किसी उदार-उच्च घराने में कोई शिशु जन्म लेता है तो निम्न परिवार के भोले स्त्री-पुरुष, उस शिशु को एक ही साथ स्नेह एवं श्रद्धा से चूमते हैं। सूर के लिए कृष्ण से बढ़कर कौन उच्च-उदार तथा हितैषी हो सकता है। विश्व-साहित्य को सूर की यह नवीन देन अद्‌भुत है।

काव्य-ग्रन्थों की रचना के बाद ही सिद्धान्त ग्रन्थ बनते हैं। सूर के पश्चात् वात्सल्य तथा भक्ति को, रस की कोटि में स्पष्टतया रख लेना चाहिए। कृष्ण की बाल-चेष्टाओं का चित्रण करते समय सूर उद्दीपन तथा अनुभावों द्वारा वात्सल्य का रसास्वादन तो करते ही रहते हैं, पद की अन्तिम पंक्ति में 'प्रभु' शब्द के द्वारा भक्ति-रस के आस्वादन की भी घोषणा कर देते हैं। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं। कभी कभी अन्तिम पंक्ति में कृष्ण की अलौकिकता की झाँकी ही दे देते हैं।

(१) जसुमति लै पलँगा पौढ़ावति।
पौढ़ि गई हरुएँ करि आपुन अंग मोरि तब हरि जँभुआने॥
कर सों ठोंकि सुतहिं दुलरावति, चटपटाइ बैठे अतुराने।
यह सुनि 'सूर' स्याम मन हरषे पौढि गए हँसि देत हुँकारी॥

(२) कर पग गहि अँगुठा मुख मेलत।
उन ब्रज बासिन बात न जानी समुझे सूर सकट पग ठेलत॥

(३) भीतर तें बाहर लौं आवत।
घर आँगन अति चलत सुगम भए देहरि में अटकावट॥
गिरि गिरि परत जाति नहिं उलंघी, अति श्रम होत नखावट।
अहुँठ पैग बसुधा सब कीन्हीं, धाम अवधि बिरमावत।
सूरदास प्रभु अगनित महिमा भगतन के मन भावत॥

इन उद्धरणों में सुलाते समय माता के स्नेह तथा उनकी सेवा, शिशु का अंगूठा चूसना आदि कितनी स्वाभाविक चेष्टाएँ हैं। ब्रजवासी तो वात्सल्य

में लीन हैं उधर अंगूठा चूसते देख देवों को प्रलय का भय हो रहा है। कृष्ण घर आँगन में रेंग आते हैं किन्तु देहरी नहीं पार कर पाते। तीन पग में पृथ्वी को नाप लेने वाले कृष्ण की यह लीला है। सूर के प्रभु की महिमा अपार है। सूर के प्रभु की महिमा अपार है।

(१) सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरन चलत रेनु तन मंडित मुख दधि लेप किये॥
धन्य 'सूर' एको पल यह सुख कहा भयो सत कल्प लिए॥

(२) कबहुँ पलक हरि मूँद लेत हैं कबहुँ अधर फरकावै।
सोवत जानि मौन ह्वै रहि अति कर कर सैन बतावै॥
इहि अन्तर अकुलाइ उठे हरि जसुमति मधुरे गावै।
जो सुख 'सूर' अमरमुनिदुर्लभ सो नन्दभामिनी पावै॥

शिशु के हाथों में मक्खन, शरीर में धूल, मुखपर दही और भात लगा है। सौन्दर्य की कैसी स्वाभाविक किन्तु दिव्य झाँकी है? सोते समय शिशु का कभी पलक खोलना, कभी बन्द कर लेना तथा कभी अधर फरकाना आदि व्यापारों का कैसा सूक्ष्म चित्रण है? सुलाने में माता कितने धैर्य से श्रम करती हैं? स्वयं जगी रहती हैं किन्तु बच्चे को कष्ट नहीं होने देतीं। यशोदा को जो वात्सल्य-रस प्राप्त है देवों के लिए भी दुर्लभ है।

कृष्ण कुछ बड़े हो गये हैं। बच्चों के स्वभाव में स्पर्धा का बड़ा महत्त्व है। बालकों के विकास में इस प्रवृत्ति का सदुपयोग अध्यापक लोग बड़ी कुशलता से करते हैं। यशोदा अपने कृष्ण को इस तर्क पर खूब दूध पिलाने में सफल हो जाती हैं कि उनकी चोटी बढ़कर बलराम के बराबर हो जाएगी। दुर्भाग्य से चोटी बढ़ने में देर हो गई। कृष्ण खीझकर उलाहना देते हैं :—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहिं दूध पिवत भइ यह अजहूँ है छोटी॥
तू जो कहति बल की बेनी ज्यों ह्वै है लाँबी मोटी।

बलराम के चिढ़ाने की प्रतिक्रिया देखने ही योग्य है। उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है नन्द की भोली वात्सल्यानुभूति।

खेलन अब मेरी जाय बलैया।
मोसों कहत तात बसुदेव को देवकी तेरी मैया॥
पाछे नन्द सुनत है ठाढ़े हँसत हँसत उर लैया॥
'सूर' नन्द बलरामहिं घिरयो सुनि मन हरख कन्हैया॥

मक्खन-चोरी का उलाहना सुनकर यशोदा छड़ी उठा लेती हैं। इस पद में छड़ी के भीतर का प्यार, कृष्ण की सफाई तथा उनका डरना आदि ऐसा चित्र प्रस्तुत करते हैं जिसकी अनुभूति पाठक को रस की धारा में डुबा देती है। सूर-सागर हिन्दी का श्रेष्ठ महाकाव्य है।

मैया ! मैं नहीं माखन खायो।
ख्याल परे ये सवै सखा मिलि मेरे मुख लपटायो॥
देखि तुही छीके पर भाजन ऊँचे धरि लटकायो।
तुही निरखि नान्हें कर अपने मैं कैसे करि पायो॥
मुख दधि पोंछि बुद्धि इक कीन्हीं दोना पीठि दुरायो।
डारि साँटि मुसुकाइ जसोदा स्यामहिं कंठ लगायो॥

सूर के साहित्य में वात्सल्य के भी संयोग तथा वियोग दो पक्ष हैं। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर यशोदा का कलेजा फट जाता है उनके उद्गार हृदय को विदीर्ण करने वाले हैं।

(१) सँदेसो देवकी सों कहियो।
हों तो धाय तिहारो सुत को मया करत ही रहियो॥
मेरे कुँवर कान्ह बिनु सब कछु वैसहि धर्यो रहै।

(२) नन्द ! ब्रज लीजै ठोंकि बजाइ।

सूर के बाल-चित्रणों का एक सामाजिक पहलू भी है। समाज की बहुत सी आशाएँ इस शिशु-समुदाय पर आधारित रहती हैं। सच पूछा जाय तो जो कामनाएँ हम जीवन में पूरी नहीं कर पाते उनकी पूर्ति हम इनको देखकर कर लेते हैं। शिशु-वर्ग, समाज रूपी जीवन का काव्य है।

वियोग-चित्रण : भ्रमरगीत

वल्लभाचार्य ने भक्ति में वात्सल्य के अतिरिक्त गोपिकाओं के कान्ताभाव को भी मान्यता दी है। उनकी यह मान्यता भागवत पर ही आधारित है जहाँ गोपिकाएँ आत्मा का प्रतिनिधित्व करती हैं। सूरदास ने गोपिकाओं के इसी-प्रेम को अपने काव्य में स्थान दिया है। नवीन दृष्टिकोण से नवीन शैली में मौलिक उद्भावनाओं के द्वारा सूर ने इस प्रसंग को एक नवीन महत्ता प्रदान कर दी है। इसी आधार पर हिन्दी-साहित्य में एक परम्परा ही चल पड़ी।

भागवत में गोपिकाओं के विरह-प्रकाशन में मधुकर-प्रसंग आया है जहाँ गोपिकाएँ भ्रमर के व्याज से कृष्ण पर व्यंग्य करती हैं। इस प्रसंग को लेकर सूर

ने हिन्दी-काव्यजगत में 'भ्रमरगीत' नामक एक मौलिक-पन्थ ही खड़ा कर दिया 'भ्रमरगीत' के द्वारा उन्होंने भावजगत में एक नवीन क्रान्ति भर दी। वह क्रान्ति अग्राह्य-शुष्क-ज्ञान, निर्गुण तथा च्युत-योग के विरुद्ध थी। उस क्रान्ति का मूल दय के मधुर-रस से सिक्त था जिसे आज की भाषा में हम अहिंसावादी क्रान्ति कह सकते हैं। उस क्रान्ति में प्रेम ही लक्ष्य तथा प्रेम ही साधन था। आज का संघर्ष अध्यात्मवाद तथा भौतिकवाद के बीच का संघर्ष है। उस युग का संघर्ष ऐसी निम्नकोटि का नहीं था।

'भ्रमरगीत' की क्रान्ति जीवन तथा जड़ता के बीच के संघर्ष को व्यक्त करती है। उसमें हम मस्तिष्क के विरुद्ध हृदय के प्रति पक्षपात भी नहीं पाते क्योंकि प्रेम-समर्पण की विशाल भूमिका में पक्षपात अथवा हार-जीत का कोई मूल्य ही नहीं रह जाता। उस संघर्ष की पृष्ठभूमि ऐतिहासिक है। तुलसी ने भी इस क्रान्ति में भाग लिया है। सूर और तुलसी उस संघर्ष के दो नेता हैं। उनमें गाँधी और नेहरू का सम्बन्ध भी नहीं। दोनों स्वतंत्र महारथी हैं जिनकी तुलना विश्व-साहित्य में कोई एक साथ नहीं कर सकता। ज्ञान और भक्ति, तर्क और प्रेम, हृदय और मस्तिष्क तथा निर्गुण और सगुण के बीच के ऐतिहासिक संघर्ष में इन दोनों पुरुषों ने विचित्र भूमिका अदा की। इस संघर्ष का लम्बा इतिहास है। उस युग का समाज विभिन्न मतवादों, अतिचारों तथा सम्प्रदायों की टक्कर से जल रहा था।

हम तुलसी के प्रकरण में उनकी सेवाओं का मूल्यांकन करेंगे। यहाँ हम सूर के 'भ्रमरगीत' पर विशेष विचार करेंगे। सूरसागर का यह खण्ड विषय कला की दृष्टि से भारतीय जीवन तथा साहित्य में विशेष महत्त्व रखता है। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर उन गोपियों को बड़ी पीड़ा होती है जिनको उन्होंने बड़ा सुख पहुँचाया था। कृष्ण की अलौकिकता से भी वे परिचित थीं। साथ ही अनेक विपत्तियों में भी कृष्ण उनके साथ रहे। उनका सौन्दर्य भी विश्व-विमोहक था। भागवत में उनकी विरह-वेदना का मूल्यांकन भी किया गया है। इधर सूर भी ग्वालों-गोपियों में रहते हुए बाल-कृष्ण के साहचर्य के रस ले चुके थे। उनसे बढ़कर उन गोपिकाओं की पीड़ा का कौन अनुभव कर सकता था। यहाँ काव्य और जीवन के सत्य एक ही धरातल पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं।

उधर सूर के कृष्ण, मथुरा में उन गोपिकाओं को याद करते हैं। अपने मित्र 'उद्धव' को इसलिए भेजना चाहते हैं कि वे ज्ञानी हैं और गोपिकाओं को उन्हीं में समझाने की शक्ति है। यहाँ कृष्ण के मुख्य तीन उद्देश्य हैं। पहला यह कि उद्धव के ज्ञान-गर्व को चूर करना आवश्यक था। दूसरा यह कि अपनी प्रेमि-

काओं का समाचार भी मिल जायेगा। तीसरे उन गोपिकाओं को यह जानकर सान्त्वना मिल सकेगी कि उनके प्रिय ने याद करके ही पत्र तथा दूत भेजा है भागवत में कृष्ण का उद्देश्य केवल कुशल-क्षेम भेजना है। 'गर्व गोपालहिं भावत नाहीं' तथा :—

जदुपति जानि उद्धव रीति।
जेहि प्रकट निज सखा कहियत करत भाव अनीति ॥

कृष्ण विरह-पीड़ा के मर्म को जानते हैं। निर्गुणोपासक उद्धव की हृदय-शून्यता से वे दुखी हैं :—

विरह दुख जहँ नाहिं जामत नाहिं उपजत प्रेम।
रेख रूप न बरन जाके यह धर्यो वह नेम ॥

कृष्ण को इस बात का दुख है कि उद्धव मित्र हैं तथा अहंकार के रोग से पीड़ित हैं। समझाने पर समझते भी नहीं :—

प्रेम भजन न नेकु याके जाय क्यों समझाय।
'सूर' प्रभु मन यहै आनी ब्रजहिं देहुँ पठाय ॥

कृष्ण के इस चिन्तन से 'भ्रमरगीत' की योजना का रहस्य खुल जाता है। यहाँ समझाने से काम नहीं चलेगा, बोध कराना होगा। कृष्ण को उन गोपिकाओं की व्यथा की सच्चाई पर पूर्ण विश्वास है और वे यह भी जानते हैं कि वही एक ऐसा स्थल है जहाँ कोरे तर्क पर आधारित मिथ्याज्ञान का भण्डा फूट सकता है। बस वे उद्धव को चढ़ाकर भाषण देने लिए भेज देते हैं।

जहाँ भागवत में 'उद्धव' ही मुख्य वक्ता हैं वहाँ 'भ्रमरगीत' में उनको काठ मार जाता है। पहले जिस क्रान्ति की चर्चा की गयी है उस सन्दर्भ में यहीं पर 'सूर' का कौशल देखने योग्य है। यहाँ 'भ्रमरगीत' में विरह की बड़वाग्नि से पीड़ित प्रेम का प्रलय-सागर उमड़ रहा है जो ज्ञान के सूर्य को निगल जाने वाला है। यहीं 'सूर' के सागर ने यथार्थ रूप धारण कर लिया है और उस रचना का नाम ठीक ही है।

उस प्रेम के प्रलय-सागर की लहरें एक ओर गोलोक को चूमती हैं दूसरी ओर रसिक-हृदय की धरती पर नागिन बन कर फन पटकती हैं जिनकी ज्वाला और चोट से कोई बच नहीं सकता। वहाँ उद्धव की क्या हस्ती है !:—

प्रीति करि काहू सुख न लह्यो।
प्रीति पतंग करी दीपक सों आपै प्रान दह्यो ॥

सारँग प्रीति करी जु नाद सों सनमुख वान सह्यो ।
हम जो प्रीति करी माधव सों चलत न कछू कह्यो ।।

संयोग काल की सुखद वस्तुएँ वियोग काल में स्वभावतः जलाने लगती हैं ।

वृथा बहति जमुना, खग बोलत, वृथा कमल फूलैं अलि गुंजैं ।
ए उधो ! कहियो माधव सों, विरह करद कर मारत लुंजैं ।।

विरह एक सीमा के बाद उन्माद का रूप भी पकड़ लेता है । उस समय वियोगी जड़ पदार्थों से भी बात करने लगता है । वियोगी राम 'लता-तरु-पाँती' से बिलख-बिलख कर सीता का पता पूछने लगते हैं । जिन वृक्षों की शीतल छाया में गोपिकाओं ने कृष्ण के साथ क्रीड़ा की है उन्हें देखकर वे झिड़कती हैं । 'मधुवन तुम कत रहत हरे ?' तथा 'काहे न उकठि परे ?' आदि अभिव्यक्तियों द्वारा वे अपनी उस दशा को प्रकट करती हैं जो सहने योग्य नहीं है ।

निर्गुण का उपदेश देने वाले उद्धव पर उन्हें आश्चर्य होता है कि यह कैसा आदमी है । अतः उन्हें खूब बनाती हैं । उद्धव के गम्भीर ज्ञान की खिल्ली, जितनी सरल भाषा में यहाँ उड़ाई गई है, उसे हम अन्धे सूर की कला की 'शरारत' कहें या क्या कहें ? विचित्र चमत्कार है ।

निर्गुन कौन देस को वासी ?

मधुकर ! हँसि समुझाय, (नाराज होकर नहीं) सौंह दै (विश्वास करो), बूझति साँच (भड़को मत), न हाँसी (ज्ञान से हँसी की कौन हिम्मत करेगा) और गोपिकाएँ ज्ञानी उद्धव से पूरा हुलिया पूछती हैं क्योंकि 'जाने बिनु न होइ परतीती । बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती ।'

को है जनक, जननि को कहियत, कौन नारि को दासी ?
कैसो बरन, भेस है कैसो, केहि रस के अभिलासी ?

भागवत में गोपिकाओं के सारे उपालम्भ और व्यंग्य कृष्ण के प्रति हैं किन्तु सूर की मौलिकता में भूमिका कुछ दूसरी है । यहाँ तो योग तथा झूठे ब्रह्मज्ञान की आड़ में ठगने वाले विभिन्न सम्प्रादाय उनके सामने हैं जिनके प्रतिनिधि बनकर उद्धव मैदान में उतरे हैं । अन्तिम पँक्ति में सच्ची हार्दिक-भक्ति का विजय-घोष है ।

सुनत मौन ह्वै रह्यो ठग्यो सौं, सूर सबै मति नासी ।

सूर तत्कालीन योगियों की पोल खोलने पर तुले थे जो अपने वेष से

सर्वसाधारण को भरमा रहे थे। क्या आज के कलाकार इस भयंकर तथा भ्रष्ट-तंत्र की पोल खोल सकेंगे ? क्या वे जन-मानस में देश-प्रेम का प्रलय-सागर तरंगित कर सकेंगे ? क्या उन्हें यह भय है कि उन लहरों की नागिनों के फन, इन मोटे शरीरों पर पड़कर चूरचूर हो जाएँगे ? गोपिकाओं की कैसी निश्छल वाणी है :—

हमरे कौन जोग-व्रत साधै।
मृग त्वच भस्म अधारि जटा कौ इतनौ को अवराधै॥
जाकी कहूँ थाह नहिं पैयत,अगम अपार अगाधै।
गिरधरलाल छबीले मुख पर इते बाँध को बाँधै॥

गोपिकाएँ अपनी वास्तविक असमर्थता बताती हैं। सर्वसाधरण की इस असमर्थता से सगुणोपासक 'सूर' पूर्णतया परिचित थे।

ऊधो जोग जोग हम नाहीं।
अबला सार ज्ञान कह जानैं कैसे ध्यान धराहीं॥

विरह की पीड़ा गोपिकाओं तक ही सीमित नहीं, पशु भी विकल हैं।

मधुकर ! इतनो कहियहु जाय।
अति कृस-गात भई ये तुम बिनु परम दुखारी गाय॥
जल समूह बरसत दोउ आँखें, हूँकति लीन्हें नाउँ।

आये हुए अतिथि का वे तिरस्कार नहीं करतीं, किन्तु क्या करें, विवश हैं।

कहत कथा अनेक ऊधो, लाख लोभ दिखाय।
कहा करौं, चित प्रेम पूरन, घट न सिन्धु समाय॥

प्रसन्नता की बात है कि इस पराजय के बाद ज्ञानवादी उद्धव रास्ते पर आ जाते हैं। अब वे प्रेम-पक्ष के केवल वक्ता ही नहीं मर्मज्ञ भी हो गये हैं। लौट कर वे कृष्ण को वह मर्म समझा रहे हैं।

सुनहु स्याम तुम बिन उन लोगन जैसे दिवस बिहात।
पिक, चातक बन बसन न पावहिं बायस बलिहिं न खात।
'सूर' स्याम संदेसन के डर पथिक न उहिं मग जात॥

कृष्ण उनको सान्त्वना देते हैं—'ऊधौ मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं॥

सूर के कृष्ण हमारे नेताओं की भाँति स्वार्थी नहीं हैं जो काम निकल जाने के बाद (अथवा गद्दी पा जाने के बाद) उन असहाय प्राणियों को भूल जायँ, जिनसे अपना काम सिद्ध किया। सूर के मत की विजय के बाद

जब कृष्ण मथुरा भी छोड़कर और दूर चले जाते हैं तब गोपियों की रही सही आशा भी टूट जाती है। उस दशा का चित्र भी वे खींचते हैं :—

नैना भयो अनाथ हमारे।
मदन गुपाल उहाँ ते सजनी, सुनियत दूर सिधारे॥
मधुवन बसत आस दरसन की नैन जोइ मग हारे।
'सूर' स्याम करी पिय ऐसी मृतक हुते पुनि मारे॥

अन्त में हम 'भ्रमरगीत' के, आगे चलकर काव्य-जगत् पर पड़ने वाले प्रभाव की चर्चा करना उपयुक्त समझते हैं। वैसे तो काव्य की जबसे सृष्टि हुई, विरह उसमें प्रधान प्रसंग रहा है किन्तु 'भ्रमरगीत' के विशिष्ट रूप ने कवियों को समय-समय पर बराबर आकृष्ट किया है।

वैसे तो बाद में कई 'भ्रमरगीत' लिखे गये किन्तु नन्ददास का 'भ्रमरगीत' बहुत प्रसिद्ध हुआ। उनके 'भ्रमरगीत' की शैली जोड़-तोड़ की संवाद-पद्धति की धारा पर चलती है। उसमें भाषा का प्रवाह है। रस-मिश्रित तर्कों तथा व्यंग्यों से 'उद्धव' को पराजित किया गया है।

(१) कौन ब्रह्म की जाति, ज्ञान कासों कहो ऊधो।
हमरे सुन्दर स्याम, प्रेम को मारग सूधो॥
सखा सुनु स्याम के।
(२) जो उनके गुन नाहिं और गुन भये कहाँ तें।
बीज बिना तरु जमैं मोहि तुम कहो कहाँ तें॥
सखा सुनु स्याम के।

इस प्रकार 'सखा सुनु स्याम के' और 'सुनो ब्रजनागरी।' के क्रम से खण्डन-मण्डन अन्त तक चलते हैं। यह अनूठी शैली बड़ी रोचक है।

आधुनिक काल के, ब्रजभाषा के सफल कलाकार रत्नाकर जी ने उसी 'भ्रमरगीत' को 'उद्धव-शतक' के नाम से लिखा है जिसकी विशेषताओं का अध्ययन हम रत्नाकर जी के प्रकरण में करेंगे। उसमें रत्नाकर जी ने उसकी कथा का संगठन नवीन मनोवैज्ञानिक ढंग से किया है।

सूर का 'भ्रमरगीत' ब्रजभाषा, ब्रज-साहित्य, कवियों, रसिकों, गायकों, धार्मिकों तथा कला-मर्मज्ञों की अमूल्य सम्पत्ति है। यह मानवता के द्वार पर दीपक बनकर शाश्वत गति से टिमटिमाता रहेगा। सूर-सागर में बाल-चित्रण की भाँति भ्रमरगीत भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। उक्त महाकाव्य का महाकाव्यत्त्व इन्हीं दो चित्रों पर आधारित है।

मीराबाई का जीवनवृत्त

शोध के पश्चात् उनका जन्म सं० १५५५ तथा मृत्यु सं० १६०३ निश्चित किया गया है। मीरा का सम्पूर्ण जीवन विपत्तियों से घिरा हुआ था। वास्तव में वह काल सम्पूर्ण देश का विपत्ति काल था। इतिहास का वह काल भारत का दुर्भाग्य-काल था। मीरा राजघराने में उत्पन्न हुई थीं और राजघराने में ब्याही गई थीं। उन राजकुलों के लिए वह समय बड़ा ही भयानक था।

मीरा राठौर वंश में पैदा हुई थीं। जोधपुर-राज्य के संस्थापक राव जोधा जी के पुत्र दूदा जी की पौत्री तथा रत्नसिंह की एकलौती बेटी थीं। यहीं से इनकी विपत्तियों का प्रारम्भ हुआ। जब ये छोटी थीं कि इनकी माता का स्वर्गवास हो गया। इनका पालन-पोषण इनके पितामह दूदा जी की देखरेख में हुआ। दूदा जी वैष्णव थे जिनके संस्कारगत प्रभावों का मीरा के जीवन में बड़ा महत्त्व है।

जब मीरा अठारह वर्ष की थीं कि दूदा जी की भी मृत्यु हो गई। उनके ज्येष्ठ पुत्र वीरमदेव गद्दी पर बैठे। उन्होंने मीरा का विवाह इतिहास प्रसिद्ध वीर राणा सांगा के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज से सं० १५७३ में कर दिया। भोजराज उदार प्रकृति के व्यक्ति थे। उनके साथ मीरा केवल सात वर्ष सुख से रह सकीं। सं० १५८० में पति का भी देहान्त हो गया। काल यहीं तक नहीं रुका। सं० १५८३ के इतिहास के निर्णायक युद्ध में बाबर से लड़ते हुए खानवा के युद्ध में मीरा के श्वसुर तथा पिता मारे गये। राणा साँगा की मृत्यु के बाद मीरा के देवर गद्दी पर बैठे। मीरा के जीवन का उपवन तो सं० १५८० में ही उजड़ चुका था।

सं० १५८८ में उनके देवर की भी मृत्यु हो गई। उस गद्दी पर विक्रमादित्य बैठे। इधर पति, श्वसुर तथा पिता की मृत्यु के बाद कृष्ण के सिवा उनका कोई सहारा न था। उनके संस्कारों पर पड़े हुए दूदा जी के प्रभावों ने मीरा को बड़ा सहारा दिया। मीरा का जीवन कृष्णमय हो गया। वे भजन, कीर्तन, साधुओं की सेवा और भक्ति में लीन रहने लगीं। मीरा का यह आचरण विक्रम को पसन्द नहीं आता था। राजकुल की मर्यादा के विरुद्ध उस आचरण को समझ कर उन्हें रोक लगाना पड़ा।

मीरा को पथ पर लाने के लिए कड़ाई की जाने लगी। उनका प्राण लेने के लिए क्या नहीं किया गया। ऐसी पीड़ा, ऐसी यातना तथा काल के ऐसे प्रहारों की कल्पना से आज भी हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। मीरा की यातना की गाथा सुनकर वीरमदेव ने उनको चित्तौड़ बुला लिया। फिर वे मेड़ता चली गईं। मेड़ता भी उनके घराने के अधिकार से निकल गया। उदासीन होकर वे वृन्दावन चली गईं।

वृन्दावन में चैतन्य-सम्प्रदाय के जीव गोस्वामी से भेंट हुई। पुनः वे द्वारिका चली गईं। कहा जाता है कि रणछोड़ जी के मन्दिर में जब वे दर्शन करने गईं तब मूर्ति में समा गईं। उनकी मृत्यु का कुछ स्पष्ट पता नहीं चलता।

विरह-साधना : काव्यकला

मीरा की मानसी गीतिका सहृदयता की
छवि से भरी हुई, निरवधि कलियों की राखी।—(निराला)

मीरा का जीवन ही काव्य है। उनके जीवन की पीड़ा उनकी साधना है। इस प्रकार उनका जीवन, उनकी वेदना, उनकी साधना तथा उनकी काव्यकला, चारों एक ही तत्त्व के चार नाम हैं। ऐसा रूप कहीं नहीं मिलेगा। नैसर्गिक सौन्दर्य जहाँ है, वहाँ आभूषणों की क्या आवश्यकता है। मीरा के हृदय से निकली हुई अनुभूतियों की अभिव्यक्ति, स्वयं काव्य है और उसमें ऐसा नैसर्गिक सौन्दर्य है, जिसमें अलङ्कार तथा छन्द-प्रबन्ध की खोज करना, कला के यथार्थ गुणों की उपेक्षा करना है।

अन्य विरह-काव्यों में हम कवि की सहानुभूति से प्रभावित होकर रसानुभूति प्राप्त करते हैं। वे कवि विरही अथवा विरहिणी की पीड़ा को सहानुभूति के कारण पहले अपने हृदय में धारण करते हैं और फिर उस अनुभूति को कला में उतारते हैं। जहाँ संतप्त मीरा अपनी ही वेदना को स्वयं व्यक्त कर रही हैं वहाँ आलोचना की बात ही क्या रह जाती है? उनकी वेदना का चित्रण करके कोई अन्य कवि भी महाकवि बन सकता है।

विरह-काव्यों में जिन वियोगी-पात्रों को कवियों ने अपनी कला में आधार बनाया है उनमें से शायद ही किसी पात्र की दशा की तुलना मीरा से की जा सकती है। इसी से हम मीरा की वेदना की भयंकरता का अन्दाजा लगा सकते हैं।

नागमती का प्रियतम सिंहल से लौट सकता है। ब्रज की गोपिकाओं के कृष्ण मथुरा से भी दूर चले जाते हैं किन्तु वे द्वारिका में हैं तो ! वे तो 'दूत' और 'पाती' भी कभी भेज सकते हैं। कबीर की बहुरिया के प्रियतम जैसे आदि में थे वैसे अब भी हैं। उनके और प्रियतम के बीच केवल झीना सा परदा है और वह भी काल्पनिक। सीता के प्रियतम अशोक वाटिका के निकट पहुँच कर उन्हें पाने के लिए भीषण युद्ध के लिए तैयार हैं। किन्तु यहाँ, हाय री अभागिनी मीरा ! तुम्हारा भोजराज कहाँ है ? वह न तो लौट कर आएगा न पत्र ही भेजेगा। अब तू कृष्ण में भोजराज को देख या भोज-राज में कृष्ण को। तुझे वियोगिनी गोपिका भी बनने का अवसर नहीं मिला। इतना होने पर भी मीरा कभी प्रेमिका के पद से नीचे उतर कर दीनता नहीं स्वीकार करतीं।

मीरा की वेदना का प्रस्फुटन गेय पदों में हुआ है। उनके पदों में उनके हृदय की सहज अभिव्यक्ति है। उनमें गहरी तन्मयता और गम्भीरता है। आज भी उनके पद बड़ी भक्ति से गाये जाते हैं।

'नचा गई नटनागर को भी, नाची तो बस मीरा'—मैथिली शरण गुप्त। मीरा की वाणी में लक्षणा और व्यंजना नहीं, सीधी-सीधी अभिधा है। उसमें हृदय का सच्चा स्वर है। मीरा को अब लोक-लाज का भय नहीं है।

अब तो बात केइ पड़्या जाण्या सब कूयाँ।
मीरा री लगण लाग्याँ होणा हो जो हूयाँ॥

प्रेम में नेम कैसा ? अन्तरात्मा की पुकार का अनुभव किया जा सकता है उसकी व्याख्या नहीं हो सकती। उनके अनुराग का वास्तविक प्रारम्भ स्वप्न दर्शन से होता है (माई म्हारो शुपण मा परण्या दीनानाथ) वह रूप नेत्रों में समा गया।

महा मोहण रो रूप लुभाणी।
सुन्दर वदण कमड़ दल लोचण बाँका चितवण नैण समाणी॥

स्वप्न में उनके प्रियतम ने केवल दर्शन ही नहीं दिया था, परिणय भी किया था। यदुनाथ ने पाणिग्रहण करके अचल सुहाग भी दिया था।

शुपण मा तोरण बंध्या री शुपण मा गह्या हाथ।
शुपण मा म्हारो परण गया पायाँ अचड़ सुहाग।
मीरा रो गिरधर मिड्या, पुरब जणम रो भाग॥

नींद टूटने पर स्वप्न भी टूट गया। अब मीरा 'जणम जणम को साथी' के लिए पपीहे की भाँति हूकने तथा कोकिल की भाँति कूकने लगीं।

हौं दरद दिवाणी मेरो दरद न जाणै कोय।

अब दशा विचित्र हो गई :—

धाम णा भावाँ, नींद न आवाँ, विरह सतावाँ।
घायड़ री घुमां फिरां म्हारो दरद ण जाण्या कोय॥
पंथ निहारां डगर मझरां ऊभी मारग जोय।
मीरा रे प्रभु कब रे मिलोगां थे मिड़या सुख होय॥

मीरा के पदों का एक-एक शब्द करुणा की गहरी छाप लिए पाठक जनों के हृदय को हिला देता है। किन्तु यह करुणा, वियुक्त-शृङ्गार की करुणा है। उनके कारुणिक उच्छ्वासों में गूढ़ उपालम्भों का रहस्य नहीं है बल्कि उनमें हृदय की सच्ची और सीधी पुकार है।

मीरा अपने प्रियतम को बाहर भीतर सर्वत्र ढूँढती हैं। जब उनके प्रियतम कहीं बाहर नहीं दिखाई देते तो अपने भीतर योगियों के शून्य महल में पहुँच जाती हैं। वहाँ उनको पाकर उनसे होली खेलने लगती हैं।

फागुन के दिन चार रे होली खेल मना रे।
बिन करताल पखावज बाजे, अणहद की झनकार रे।
बिनु सुर राग छतीसूँ गावै, रोम रोम रंग सार रे।
घट से सब पट खोल दिए हैं लोक लाज सब डार रे॥

महान राणा साँगा की पुत्रवधू, रानी मीरा अब कृष्ण की 'चाकरी' करेंगी। चाकरी में वह 'दरसन' पायेंगी और 'सुमिरण' की 'खरची' पाकर ही सन्तुष्ट रहेंगी। जब 'साँवरिया के दरसन' पायेंगी तो 'कुसुम्भी सारी' पहन लेंगी। मीरा की आशा गम्भीर है। उसमें विश्वास भी अटल है :—

मीरा के प्रभु गहिर गम्भीरा, सदा रहौ जी धीरा।
आधी रात प्रभु दरसण दैहैं, प्रेम नदी के तीरा॥

मीरा के पद हिन्दी के सम्पूर्ण क्षेत्र तथा पंजाब और गुजरात तक के प्रदेशों में जन-जन में गाये जाते हैं। उनकी वेदना का मर्म कौन समझ सकता है।

'घायल की गति घायल जाने, की जिन लाई होय।'

मीरा की वेदना तथा दशा की कल्पना करते समय अवाक् हो जाना पड़ता है।

पाना ज्यूँ पीली पड़ी रे, लोग कहैं पिंड रोग।
बाबुल वैद बुलाइया रे, पकड़ दिखाई म्हारी बाँह।
जा वैदा घर आपणे रे, म्हारे नावँ न लेय।
मुरख वैद मरम ना जाने, करक कलेजे माहिं।

किसी की करुण कहानी अथवा हत्या की कथा सुनकर लम्बी लम्बी कल्पनाएँ की जा सकती हैं किन्तु जब किसी के टूटे हुए हृदय का मांस कट कर सामने ही गिर रहा हो तो क्या कहा जा सकता है। मीरा के शब्द-शब्द वही टुकड़े हैं। रोएँ खड़े हो जाते हैं। क्या ऐसी भी पीड़ा होती है!

माँस गल गल छीजिया रे, करक रहा गल माहिं।
आँगलिया रो मूँदड़ो रे आवन लागी बाँह।
काढ़ि कलेजो मैं धरूँ रे कौवा तू ले जाय।
जा देसा म्हारो पीव बसै वे देखें तू खाय।

राम-भक्ति-शाखा

भूमिका :—

भारतीय साहित्य का इतिहास कर्म, ज्ञान तथा भक्ति का इतिहास है जो भारत के जीवन तथा संस्कृति के मूलाधार हैं। यहाँ जीवन में कभी एक का प्राधान्य रहा कभी दूसरे का। सच पूछा जाय तो जीवन के इन तत्त्वों की जितनी गहरी और व्यापक व्याख्या इस देश में हुई उतनी संसार में कहीं नहीं हुई।

समाज में जब कभी किसी तत्त्व की प्रधानता हुई आगे चलकर व्यवहारों में अतिचार तथा आडम्बर आता गया। फलस्वरूप उनके निराकरण के लिए महापुरुषों का प्रादुर्भाव हो गया। उनके नवीन आदर्शों को लेकर मत तथा सम्प्रदाय खड़े होते गये। इसी विकास की कड़ी में आज हम गाँधीवाद की दुर्दशा देख रहे हैं। विशेषता यह कि अपने इन उद्धारकों की दुर्दशा भी इस समाज ने कम नहीं की। वास्तविक बात यह है कि माया से आच्छन्न यह जगत तथा समाज आदिकाल से ही कुष्ट-ग्रस्त रहा है और अन्त तक रहेगा। हाँ महापुरुषों ने जन्म लेकर उसकी अति को सदा रोका है। रोग समूल नष्ट नहीं हो सकता।

यहाँ हमारा मूल विषय भक्ति है। भव-रोग से सन्तप्त जीवों के उद्धार तथा कल्याण के लिए भक्तों ने इसका अनुसन्धान अपनी साधना से किया। साधना का ऐसा स्तर भी विश्व में कहीं नहीं मिलेगा। इस भक्ति के स्वर को, हिन्दी में हम, निर्गुण-सन्तों के साहित्य से ही सुनने लगते हैं। पीछे स्पष्ट हो चुका है कि इस भक्ति का मूल-स्रोत भारत में आदि काल से ही (अनार्य काल से ही जिसका प्रसार ईरान के सूफी साहित्य में लक्षित होता है) वेदों, उपनिषदों, नारद एवं शाण्डिल्य के भक्ति सूत्रों, पुराणों (भागवत की गीता में 'सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज') से होता हुआ संस्कृत के काव्य-काल तत्पश्चात् नाथों-सिद्धों से होकर अविराम गति से निर्गुण, सूफियों के प्रेम से होता हुआ तुलसी तक चला आता है तथा बाद में भी कभी रुका नहीं।

रामभक्ति-शाखा की सगुणोपासना के स्वरूप को हम बहुत पीछे से देख सकते हैं। शंकराचार्य (जन्म सं० ८४५) ने बौद्धों तथा कर्मकाण्डियों के अति-

चारों का खण्डन करके इतिहास प्रसिद्ध अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा की। जिसका मूल-मंत्र है 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।' इस ज्ञानवादी दर्शन से जन-मानस की आवश्यकताएँ पूरी न हो सकीं। 'सिद्धत्रय' के रचयिता श्री यामुनाचार्य स्मरणीय हैं जिनकी रचना में 'विशिष्टाद्वैतवाद' के दर्शन होते हैं। भक्ति के सगुणवादी दर्शन में इस वाद का विशेष महत्त्व है। रामानुजाचार्य ने (जन्म सं० १०७२) वशिष्टाद्वैत-सम्प्रदाय चलाया। उन्होंने 'श्रीभाष्य' लिख कर जगत् की सत्यता तथा ईश्वर की सगुणता का प्रतिपादन किया। इस वाद के अनुसार ब्रह्म की अद्वैतता विशिष्ट अर्थात् विशेषण-युक्त है। जीव और जगत् ब्रह्म के विशेषण हैं।

भक्ति के इतिहास में रामानन्द (सं० १३५६) का नाम चिरस्मरणीय रहेगा। ऐसा उदार दार्शनिक शायद ही कोई हुआ होगा। उनका मूल मंत्र राम-नाम था। उनके सम्प्रदाय में निर्गुणोपासक भी हुए और सगुणोपासक भी। उनके सम्प्रदाय में जाति-पाँति का कोई भेद न था। उनकी परम्परा में एक ओर कबीर, पीपा, सेना तथा मलूक जैसे निर्गुणोपासक भी हैं तथा (कहा जाता है) सातवीं पीढ़ी के तुलसी जैसे सगुणोपासक भी हैं। इस सन्दर्भ में हम तुलसी के व्यापक दर्शन तथा उनकी भक्ति के स्वरूप को समझ सकते हैं।

भक्त तथा साहित्यः—

तुलसी :—रामभक्ति शाखा के महान साधक और कलाकार हैं जिनका अध्ययन हम आगे चलकर कुछ विस्तार से करेंगे।

नाभादास :—(सं० १६४२) इनकी प्रसिद्ध रचना 'भक्तमाल' है जो ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। इसमें भेदभाव रहित प्रत्येक सम्प्रदाय के भक्तों की यश गाथा है। इस पर प्रियादास की सं० १७६९ की प्रसिद्ध टीका है जिसमें भक्तों के जीवन पर विशेष प्रकाश डाला गया है। नाभादास के दो 'अष्टयाम' भी हैं जिनमें एक अवधी के दोहे चौपाइयों में है दूसरा ब्रजभाषा में।

प्राणचन्द चौहान :—(रचना-काल सं० १६६७) इन्होंने रामचरित-नाटक लिखा जिसमें नाटक के तत्त्वों की कमी है।

हृदयराम :—इन्होंने सं० १६८० में हनुमन्नाटक की रचना की जिसमें संस्कृत-हनुमन्नाटक की छाप है।

रीवाँ के महाराज विश्वनाथ सिंह तथा रघुराज सिंह ने भी राम-चरित सम्बन्धी काव्य-ग्रन्थ लिखे। अयोध्या के युगलानन्द ने राम का शृङ्गारी नायक के

रूप में चित्रण किया। केशव ने यद्यपि रामचन्द्रिका की रचना की किन्तु उन्हें रीतिकालीन कवियों में लिया जाता है क्योंकि उनकी सारी प्रवृत्तियाँ रीतिकालीन हैं। आधुनिक युग में भी राम-काव्य लिखे गये हैं।

सामान्य-विशेषताएँ :—

हिन्दी-साहित्य में राम-साहित्य का विशेष स्थान है। उस साहित्य ने अवधी को बड़ी शक्ति दी। प्रबन्ध, नाटक तथा मुक्तकों में रचना हुई। इस साहित्य में कर्म तथा ज्ञान की अपेक्षा भक्ति पर विशेष बल दिया गया। इसमें कला केवल साधन है साध्य नहीं।

सभी भक्त वैष्णव थे और विष्णु के सगुण रूप के उपासक थे। राम को ब्रह्म से ऊपर मानते थे। प्रेममार्गी सूफियों का ब्रह्म सन्तों की तुलना में अधिक सगुण था किन्तु साकार नहीं था। ईसाइयों तथा मुसल्मानों का खुदा सगुण है किन्तु राम की भाँति साकार नहीं।

इस साहित्य में इष्टदेव का गुणगान तथा भक्तों का आत्म-समर्पण है। इसमें हृदय की सच्ची अभिव्यक्ति है कला का चमत्कार प्रदर्शन नहीं।

तुलसी का जीवनवृत्त

बाह्य-साक्ष्य-साधन :—

(१) 'भक्तमाल' पर प्रियादास की टीका, (२) गोकुलनाथ कृत 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता', (३) नाभादास का 'भक्तमाल', (४) बाबा वेणी-माधवदास कृत 'मूल गोसाईं चरित', (५) बाबा रघुबरदास कृत 'तुल्सीचरित', (६) मानसमयंक नामक प्राचीन टीका।

आन्तरिक-साधन :—

अन्य भक्त कवियों की भाँति तुल्सी ने भी अपनी रचनाओं में अपने जीवन का उल्लेख नहीं किया है। कवितावली, विनयपत्रिका तथा मानस की कुछ पंक्तियाँ ऐसी हैं जिनमें हम कुछ अन्दाजा लगा सकते हैं।

जन्म तथा मृत्यु तिथियाँ :—

पं० रामगुलाम द्विवेदी आदि विद्वानों के मत के आधार पर डॉ० ग्रियर्सन ने तुल्सी का जन्म सं० १५८९ माना है। 'गोसाईं चरित' में सं० १५५४ दिया गया है।

पन्द्रह सौ चौवन विषै कालिन्दी के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी तुलसी धर्‌यो शरीर॥

इसी काल का समर्थन 'तुलसी चरित' और 'मानस-मयंक' की टीका में भी किया गया है। इनकी मृत्यु के सम्बन्ध में 'गोसाईं चरित' में एक दोहा है:—

सम्वत् सोलह सौ असी, असी गंग के तीर।
श्रावण श्यामा तीज शनि, तुलसी तज्यो शरीर॥

माता-पिता-गुरु:—

ऐसा लगता है कि तुलसी बचपन में ही माता-पिता से विहीन हो गये।

'मातु-पिता जग जाय तज्यो विधि हू न लिखी कछु भाल भलाई।'

कहा जाता है कि इनके पिता का नाम आत्माराम तथा माता का नाम हुलसी था। 'गोसाईं चरित' में लिखा है—'हुलसी सुत तीरथराज गये' रहीम का एक दोहा प्रसिद्ध है—

सुरतिय, नरतिय, नागतिय यह चाहहिं सब कोय।
गोद लिए हुलसी फिरैं तुलसी-सों सुत होय॥

तुलसी के 'मानस' में एक चौपाई है:—

'रामहिं प्रिय पावन तुलसी-सी। तुलसिदास हित हिय हुलसी-सी।

विनयपत्रिका' में भी हुलसी शब्द आया है:—

'रहन रीति राम रावरी नित हिय हुलसी।'

'तुलसी चरित' में इनके पिता का नाम मुरारिमिश्र तथा इनका नाम तुला राम है। इनके गुरु का नाम नरहरिदास था।

'बन्दउँ गुरु पद कंज कृपा सिन्धु नर रूप हरि।'

नाम-जाति तथा बाल्यकाल:—

कवितावली में 'जायो कुल मंगल' तथा 'दिय सुकुल जनम शरीर' लिखा है। आपका जन्म ब्राह्मण-कुल में हुआ था। कवितावली में लिखा है:—

'राम बोला नामु हौं गुलाम राम साहि को।'

कवितावली की पंक्तियों से पता चलता है कि इनका बचपन कष्टमय था।

(१) 'खाए टूक सबके विदित बात दुनी सो।'
(२) बारे ते ललात बिललात द्वार द्वार दीन,
जानत हौं चारिफल चारि ही चनक को।

अन्त :—

अन्तिम काल में तुलसी बाहु पीड़ा से अत्यन्त पीड़ित थे।

'पाँय पीर, पेट पीर, बाहु पीर, मुँह पीर,
जरजर सकल सरीर पीर भई है।'

तुलसी का साहित्य

तुलसी का विशाल साहित्य हिन्दी का गौरव है। ऐसा महान् साहित्यकार विश्व में कोई नहीं हुआ। इनकी रचनाओं के अनुवाद संसार की भिन्न भिन्न भाषाओं में बहुत समय से हो रहे हैं। आश्चर्य है कि साम्यवादी देश रूस में भी इनके 'मानस' का अनुवाद बड़े मनोयोग से पढ़ा जाता है। गीता के अतिरिक्त 'मानस' के समान अन्य किसी ग्रंथ के इतने अनुवाद नहीं हुए। तुलसी के साहित्य पर आज विदेशी भी मुग्ध हैं।

तुलसी के साहित्य में समग्र भारतीय जीवन के चित्र मिलते हैं। लोक तथा काव्य में प्रचलित सभी शैलियों का प्रयोग उनके साहित्य में मिलता है।

रामलला नहछू :—

बीस सोहर छन्दों का छोटा सा ग्रन्थ है। मिश्रबन्धुओं ने इसके तुलसी कृत होने में सन्देह किया है। बा० श्यामसुन्दरदास ने इसका रचना काल सं० १६३२ तथा डॉ० माता प्रसाद गुप्त ने सं० १६११ निश्चित किया है। इसमें पूर्वी अवधी का स्वाभाविक रूप है।

पार्वती-मंगल :—

इसमें १६४ छन्दों में शिव-पार्वती का विवाह चित्रित है। मिश्रबन्धु इसको भी तुलसीकृत होने में सन्देह करते हैं। इसमें अरुण तथा हरिगीतिका छन्द हैं। यह कुमारसम्भव से प्रभावित है। बाबा बेनीमाधवदास ने इसका रचना काल सं० १६६९ माना है जो ठीक नहीं प्रतीत होता। इसी ग्रन्थ के उल्लेख से सं० १६४३ सिद्ध होता है।

जानकी-मंगल :—

इसमें २१६ छन्दों में सीता की कथा है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने इसका रचनाकाल सं० १६२१ माना है। बेनीमाधवदास ने इसका भी रचनाकाल सं० १६६९ ही लिखते हैं। इसपर वाल्मीकीय रामायण का प्रभाव है। इसकी भाषा पूर्वी अवधी है।

दोहावली :—

गोसाईं चरित के अनुसार इसका रचनाकाल सं० १६४० है। इसमें उपदेश तथा भक्ति के ५७३ दोहे हैं। 'मानस' तथा 'रामाज्ञा' के भी कुछ दोहे इसमें हैं। यह संग्रह ग्रन्थ है। डॉ० माता प्रसाद इसे सं० १६६५ तथा १६८० के बीच की रचना मानते हैं।

गीतावली :—

गोसाईं चरित में इसका रचनाकाल सं० १६२८ है। वास्तव में यह १६३४ तथा सं० १६४६ के बीच की रचना प्रतीत होती है। इसमें अष्टछाप की गीत-शैली है। इसके सात काण्डों में ३३० पद तथा छन्द हैं। शृङ्गार, करुण तथा वात्सल्य की कोमल भावनाएँ हैं। गीतावली के बाल-चित्र सूर के निकट पहुँच जाते हैं। तुलसी के चित्रण में मर्यादा की सीमा है, अतः उसमें सूर की स्वच्छ-न्दता तथा माधुर्य का अभाव है। राम ऐश्वर्य के प्रतीक हैं तथा कृष्ण माधुर्य के।

कृष्ण-गीतावली :—

सं० १६४४ के बाद की रचना है। इसमें कृष्ण-कथा है। कुल ६१ पद हैं जो ब्रजभाषा में लिखे गये हैं। इसमें कुछ पद तो सूर के भ्रमरगीत से ज्यों के त्यों पीछे से जोड़ दिये गये हैं।

रामाज्ञा :—

गोसाईं चरित के अनुसार इसका रचनाकाल सं० १६६९ है। इसमें ४९, ४९ दोहों के सात सर्ग हैं। डॉ० माताप्रसाद गुप्त इसे सं० १६२२ की रचना मानते हैं। शकुन विचारने के लिए यह लिखा गया है।

वैराग्य-सन्दीपनी :—

इसका रचनाकाल गोसाईं चरित के अनुसार सं० १६६९, डॉ० माताप्रसाद गुप्त सं० १६२५, श्यामसुन्दरदास सं० १६३६ तथा डॉ० बड़थ्वाल सं० १६३९ मानते हैं।

इसके ६२ छन्दों में सन्त महन्तों के लक्षण बताए गये हैं।

बरवै-रामायण :—

गोसाईं चरित के अनुसार सं० १६६९, डॉ० माताप्रसाद गुप्त के अनुसार सं० १६६२ की रचना है। इसमें सात काण्ड और ६९ छन्द हैं।

कवितावली :—

कवित्त, सवैया, घनाक्षरी, छप्पय तथा झूलना के कुल ३४५ छन्द हैं। इसमें मीन की शनीश्चरी, रुद्रबीसी तथा महामारी का भी उल्लेख है। इससे इसका रचनाकाल १६६५ तथा १६७१ के बीच हो सकता है। इसकी रचना चारणों की ओजपूर्ण शैली में हुई है। राजसी ऐश्वर्य, युद्ध तथा लंकादहन के चित्र बड़े ही सजीव हैं। वनवास तथा बनगमन के चित्र अत्यन्त करुण तथा मोहक हैं। भाषा, शैली तथा कला की दृष्टि से यह ग्रन्थ बड़ा ही उत्कृष्ट है। इसमें ब्रजभाषा का सरल रूप है।

विनयपत्रिका :—

इसमें २७९ पद हैं। इसमें विभिन्न रागों के गेय पद हैं। भावुक भक्त तथा गुणज्ञ गायक इसके पदों को बड़ी श्रद्धा से गाते हैं। तुलसी की यह प्रौढ़तम रचना है। यह तुलसी के अन्तिम समय की रचना है। इसमें तुलसी के नग्न हृदय की करुण पुकार है। यह विश्व-साहित्य की सम्पत्ति है। भाषा तथा भाव की ऐसी प्रौढ़ता, साहित्य में कम देखी जाती है। संस्कृत-गर्भित ब्रजभाषा में लिखी गई यह एक अर्जी है जो राम-दरबार तक भेजने के लिए लिखी गई है। यह भक्ति का चरम-ग्रन्थ है।

तुलसी की भक्ति : समन्वयवाद

तुलसी की भक्ति सेव्य-सेवक भाव की है। राम उनके स्वामी तथा वे सेवक हैं। उनके आराध्य मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं। जहाँ वे अन्य देवताओं की प्रार्थना करते हैं वहाँ उनसे राम की भक्ति ही माँगते हैं।

(१) सेव्य-सेवक भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि।

(२) माँगत तुलसिदास कर जोरे। बसहिं राम सिय मानस मोरे॥

तुलसी की भक्ति का आदर्श चकोर तथा चातक का आदर्श है। तुलसी की भक्ति के मूल में लोकोद्धार की हार्दिक प्रेरणा है। वे बार-बार जन्म लेकर ऐसे ही त्यागी तथा लोकोद्धारक व्यक्तित्व का दर्शन करते रहना चाहते हैं जो मानवता की सेवा में अपने जीवन को समर्पित करने वाला हो न कि तटस्थ ब्रह्म हो!

तुलसी के साहित्य में समन्वय की विराट चेष्टा है। समन्वय के व्यापक धरातल पर ही तुलसी के कर्म, ज्ञान तथा भक्ति का अध्ययन करना चाहिए। अपने व्यापक समन्वय से तुलसी ने देश का बड़ा उपकार किया। उस समय

अनेक पन्थ तथा सम्प्रदाय थे जिनके सिद्धान्तों में घोर संघर्ष चल रहा था। गोपिका-उद्धव संवाद में सूर ने भक्ति तथा सगुणोपासना की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए खण्डन-मण्डन की रसपूर्ण शैली का प्रयोग किया। वहाँ सूर का लक्ष्य निर्गुण का खण्डन तथा सगुण का मण्डन ही है।

तुलसी ने समन्वय का विराट क्षेत्र लिया जिसकी व्यापकता में सारे मतवाद समा गये। उसमें कटुता के विष का शमन हो गया। हृदय तथा मस्तिष्क दोनों ही धरातलों पर उन्होंने संघर्षों को आत्मसात किया। निर्गुणोपासक, शैव, कृष्ण-भक्त, संन्यासी, गृहस्थ, कर्मकाण्डी तथा शाक्तों में से कोई भी उनके आदर्शों का विरोध नहीं कर सकता था। आश्चर्य तो यह होता है कि उन्होंने जीवन तथा दर्शन का इतना अध्ययन कैसे कर लिया था। उनके ज्ञान तथा अध्ययन की थाह नहीं मिलती।

संस्कृत अथवा हिन्दी का कोई भी दर्शन-ग्रन्थ अथवा काव्य पढ़कर कोई विद्वान् उनके साहित्य का अध्ययन करने बैठे तो ज्ञात होगा कि उस ग्रन्थ को भी तुलसी ने देखा था। 'मानस' के उत्तरकाण्ड में भक्ति की विशद व्याख्या है। उनके सम्पूर्ण साहित्य का शीर्षलक्ष्य भक्ति है। तुलसी का सम्पूर्ण जीवन, दर्शन तथा काव्य भक्तिमय है। भक्ति तथा सगुण पक्ष की विजय व प्रबलता के लिए सूर ने 'भ्रमरगीत' में काव्यकला का सहारा लिया है जहाँ गोपिकाओं के निश्छल प्रेम तथा भोले आत्म-समर्पण के सामने ज्ञानवादी निर्गुण-पक्ष अवाक् हो जाता है। तुलसी ने इस कार्य के लिए दर्शन तथा काव्य दोनों धरातलों को चुना है। काव्य के धरातल पर एक ओर शबरी, निषाद, गृद्ध तथा अनेक मुनिजन आत्म-समर्पण करके भक्ति की महिमा बढ़ाते हैं, दूसरी ओर काक-गरुड़ संवाद में दर्शन के व्यापक धरातल पर उनकी महान् प्रतिष्ठा की गई है। वह दार्शनिक व्याख्या भी काव्य के ही धरातल पर है।

'भगतिहिं ग्यानहिं नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा।'

किन्तु ज्ञान की अपेक्षा भक्ति की श्रेष्ठता के कई कारण हैं:—

(१) भगतिहिं सानुकूल रघुराया। ताते तेहिं डरपति अति माया॥
अस बिचारि जे मुनि बिग्यानी। जाचहिं भगति सकल सुख खानी॥

(२) जब सो प्रभंजन उर गृह जाई। तबहिं दीप बिग्यान बुझाई॥

(३) राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआई॥

(४) भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अबिद्या नासा॥
रामभगति चिंतामनि सुन्दर।
परम प्रकास रूप दिन राती। नहिं कछु चहिअ दिआ घृत बाती॥

इस प्रकार इस संवाद में काक ने ज्ञानवाद की दुर्बलताओं का दार्शनिक-विवेचन करते हुए भक्ति की व्यवहारिकता तथा श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है। यहाँ तुलसी की भक्ति की एक विशेषता उल्लेखनीय है। उनकी भक्ति में उन्माद तथा उच्छृङ्खलता के लिए स्थान नहीं है। उनकी भक्ति की मर्यादा का मूल्यांकन करने के लिए हम देख सकते हैं कि कृष्ण भक्तों के कृष्ण तथा राधा आदि की रीतिकाल में कितनी दुर्दशा हुई? तुलसी की भक्ति के सेव्य-सेवक भाव (दास्य) में भी एक सामाजिक मर्यादा छिपी हुई है।

अब तुलसी के आराध्य के स्वरूप पर थोड़ा विचार करना चाहिए। यह जगत उनके राम का ही रूप है। लोक-मंगल का विराट रूप देखिए :—

'सीय राम मय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ॥'

राम के स्वरूप-निर्धारण में तुलसी का अपना मत निराला है। उनका मत अद्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी तथा द्वैतवादी सिद्धान्तों से भिन्न है। विशेषता यह है कि उन सिद्धान्तों की आंशिक स्वीकृति के साथ अपने मत का प्रतिपादन बड़ी युक्ति से किया है। जब वे कहते हैं :—

'ईश्वर अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी ॥'

तो अद्वैतवादी से लगते हैं किन्तु जब कहते हैं :—

'मायावस परिछिन्न जड़, जीव कि ईस समान ॥'

तब लगता है कि उनका मत द्वैतवादी है। विशिष्टाद्वैतवादी, जगत् को ईश्वर का अंश मानते हैं किन्तु तुलसी उसको राम का स्वरूप मानते हैं। तुलसी की साधना में उपास्य तथा उपासक के बीच में सदा भेद रखा गया है।

सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहँ राम भगति निज देहीं ॥

ब्रह्म-ज्ञानी जनक कहते हैं :—

'इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहिं मन त्यागा ॥'

तुलसी का विरोध, पुष्टि-दर्शन से भी नहीं है :—

'सोइ जानहिं जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहिं तुम्हहिं होइ जाई ॥'

यहाँ 'जानत' में ज्ञान तथा 'तुम्हहिं होइ जाई' में ब्रह्मपद की महत्ता पर प्रकाश तो डाला गया है किन्तु 'जेहि देहु जनाई' कहकर राम की कृपा (जो पुष्टि के समान है) के आधीन ही उनको बताया गया है।

'सो सुतंत्र अवलम्ब न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना ॥'

और भक्ति का स्थान ज्ञान से ऊपर है। इसका सुख ब्रह्म-सुख से श्रेष्ठ है। उनकी भक्ति के व्यावहारिक लोक-मंगलकारी तत्त्व को कभी नहीं भूलना चाहिए। अपनी भक्ति के प्रतिपादन में शंकर और राम के सम्बन्धों की मौलिक कल्पना द्वारा तुलसी ने विचित्र युगान्तरकारी कार्य किया है। इसके द्वारा न केवल एक दार्शनिक समस्या का हल हुआ वल्कि समाज का बड़ा उपकार हुआ। शैवों तथा वैष्णवों की घोर कटुता का शमन हुआ। तुलसी के राम कहते हैं :—

(१) सिव द्रोही मम दास कहावा। सो नर मोहिं सपनेहुँ नहिं भावा॥
(२) संकर भजन बिना नर, भगति न पावइ मोर॥

तो दूसरे स्थान पर शंकर कहते हैं :—

सो कुल धन्य उमा सुनु, जगत पूज्य सुपुनीत।
श्री रघुबीर परायन, जेहिं नर उपज बिनीत॥

'भये प्रगट कृपाला, दीन दयाला' कह कर तुलसी, राम के अवतार का कारण उनकी करुणा ही बताते हैं। भक्तों की कामना-पूर्ति तथा लोक के उद्धार के लिए उन्हें पृथ्वी पर अवतार लेना पड़ता है। इस करुणा की पुष्टि के लिए 'नाना-पुराण-निगमागम' से प्रमाण देते हैं।

(१) ग्यान, गिरा, गोतीत, अज, माया, गुन, मन पार।
सोइ सच्चिदानन्द घन, कर नर चरित अपार॥
(२) सिव बिरंचि कहँ मोहइ, को है बपुरा आन।
अस जिय जानि भजहिं मुनि, मायापति भगवान्॥

तुलसी न तो 'गति' चाहते हैं जिसे कर्मकाण्डी प्राप्त करते हैं, न 'निर्वाण', जिसे ज्ञानी प्राप्त करते हैं बल्कि वे तो 'जन्म-जन्म सियराम-पद-अनुराग' ही चाहते हैं। वैसे तो तुलसी का भक्ति-दर्शन, अलग एक पुस्तक का विषय है।

सकल-गुण तथा सौन्दर्य-निधान, करुणाकर-राम के व्यक्तित्व का रामत्व, पृथ्वी पर व्याप्त भ्रष्ट-रावणत्व को मिटाने वाला है। उस लोक-मंगलकारी रामत्व के व्यापक सौन्दर्य ने तुलसी के हृदय को मोह लिया और वह उदार तुलसी उसका भक्त हो गया। उस ऐश्वर्ययुक्त जगद्रक्षक रामत्व के चरणों का दास बनकर वह विनयपत्रिका का लेखक जन्म-जन्म के लिए शरण पाने का अधिकारी बन गया।

शिव-भक्त रावण को प्रभुता मिली। प्रभुता के मद में रावण, समाज के

शिव का द्रोही हो गया फिर तुलसी का आराध्य 'रामत्व' शिव-द्रोह कैसे देख सकता था। तुलसी की भक्ति का तत्त्व विश्व में एक चमत्कार के समान है। सर्व-साधारण का प्रतिनिधित्त्व करने वाले बन्दर-भालु भी रामत्व में छिपे हुए उसी शिवत्व पर अपना सर्वस्व लुटा देते हैं। खेद है कि उसी तुलसी के देश के साठ कोटि मनुष्य चारों ओर से घिरे हुए हैं फिर भी अपनी सारी शक्ति को रावणत्व में केन्द्रित करके अपना सर्वस्व नष्ट कर रहे हैं।

तुलसी ने गीतावली में उसी रामत्व का गुण गाया, कवितावली में उसी का विरद बखाना, विनयपत्रिका में उसी शक्ति को आर्त्त-स्वर से पुकारा। उसका सम्पूर्ण जीवन तथा साहित्य राममय है। उसने सम्पूर्णजगत को राममय देखा। उसकी भक्ति में मानवता की पूजा छिपी है। तत्कालीन भारत पर दमनकारी-शासन का रावणत्व छाया हुआ था किन्तु आज ही की भाँति (अथवा सदा की भाँति) देशवासियों ने मानवता के उस भक्त की पुकार को न ठीक से सुना न समझा। बहुत दिनों के बाद उसका क्षीणस्वर 'भूषण' में सुनाई पड़ा। यह पत्थर समाज टस से मस नहीं होनेवाला है।

वह तत्त्वदर्शी, वेदों, शास्त्रों, संस्कृत तथा प्राकृत काव्यों, उपनिषदों तथा पुराणों का ज्ञाता था। क्या वह ब्रह्म के निराकार, गुणातीत, गोतीत तथा सर्वव्यापी स्वरूपों से परिचित नहीं था ? तो फिर तुलसी को 'अलखहिं का लखे, राम नाम जपु नीच' क्यों कहना पड़ा ? इतने महान तत्त्वज्ञानी ने नश्वर-शरीरधारी 'दशरथ-सुत' को क्यों आराध्य बनाया। उसकी भक्ति के लिए बार-बार आवागमन के कष्ट को क्यों स्वीकार किया ? यही प्रश्न सर्वाधिक विचारणीय है।

वास्तव में वह लोकोपकारी, मानवता का भक्त था। राम के अवतार-वाद में उसे लोकमंगलकारी स्वरूप के दर्शन हुए। उसके विशाल हृदय को मोहक स्वरूप मिल गया। उसी रूप में उसने शील का सौन्दर्य देखा। यह शील-सौन्दर्य ही समाज का मेरुदण्ड और रक्षक है। इसी शील-सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति, तुलसी के राम हैं। उस मूर्ति का दर्शन करने के लिए तुलसी बार-बार समाज में जन्म लेना चाहते हैं। मोक्ष लेकर समाज से भागना और स्वार्थ साधना उन्हें पसन्द नहीं

तुलसी के राम ऐसे वैसे नहीं हैं। वे ऐसे 'शिवत्व' के उपासक हैं जो घोषणा करता है :

जो न करौं दण्ड सठ तोरा। भ्रष्टहोइ स्रुति मारग मोरा ।।

तथा उसी शिवत्व की स्थापना करने के लिए स्वयं राम वनवासी हो जाते हैं। उन्हीं राम की भक्ति पाने के लिए तुलसी अनेक देवों की वन्दना करते हैं। वे जहाँ 'राम-पद' के भूखे हैं वहाँ 'पद' का अर्थ 'दर्जा' नहीं बल्कि चरण है। वे लोक-कल्याणकारी राम के चरणों के दास हैं। वे उन चरणों के दीन भिखारी हैं। विनयपत्रिका में भक्त के हृदय की जो करुण-चीत्कार है वह युगों के मर्म को भेदती रहेगी।

संक्षेप में हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि तुलसी उस व्यक्तित्व के भक्त हैं जो मानवता के उद्धार के लिए अपने सम्पूर्ण सुख-वैभव को त्याग देता है। यह बात दूसरी है कि संयोग से ऐसे पुरुष दशरथ- पुत्र राम ही निकले। तुलसी दास जी मानवता की शाश्वत-पीड़ा से परिचित थे। वे उस सन्तप्त मानवता को इस दशा में छोड़कर मोक्ष कैसे ले सकते थे ? उस मंगल-कारी व्यक्तित्व के चरणों का दास बनने के लिए बार-बार जन्म लेना चाहते हैं। इस प्रकार तुलसी वास्तव में पीड़ित-मानवता के अनन्य भक्त हैं न कि किसी अलौकिक सत्ता के ?

जहाँ हम तुलसी-साहित्य में 'राम' की प्रशंसा में दिव्य विशेषणों का प्रयोग देखते हैं वहाँ भी यही रहस्य है। उस लोकोद्धारक व्यक्तित्व के महान-त्याग का वास्तविक मूल्यांकन तो वही सन्त कर सकता है जिसके हृदय में पीड़ित मानवता के प्रति सच्ची भक्ति हो। उन विशेषणों को देखकर भ्रष्ट-भौतिकवादी, यदि घबड़ाते हैं तो आश्चर्य ही क्या है ? तुलसीदास, उस पवित्र-शील तथा महान त्याग से सम्पन्न व्यक्तित्व के लिए माया-पति, भगवान, गुणातीत, अनन्त, सच्चिदानन्द और दीन-बन्धु कहते हैं तो व्यग्र होने की कौन सी बात है ? जिसने हँसते-हँसते वनवास ले लिया वह मायापति नहीं तो क्या है माया-रत है ? लोक-मंगल में ही जो आनन्द लेता है वह सच्चिदानन्द नहीं तो क्या है ? विषयानन्द है ? भगवान् बनने के लिए और किन विभूतियों की आवश्यकता है ? वह अजर, अमर तथा सब कुछ है।

राष्ट्र के निरीह बन्दर-भालु उस सन्त के आराध्य की संगठन-शक्ति के महत्त्व को यदि समझ लें तो उसे बार-बार जन्म लेकर आराधना क्यों करनी पड़े ? स्वार्थ-लोलुप, हिंसक-जन्तु तथा इन्द्रियों के दास विधर्मी, उस सन्त की दासता और भक्ति के मर्म को कहाँ तक समझ सकते हैं ? संसार का कोई भी तंत्र (चाहे लोक-तंत्र हो या साम्य- तंत्र, चाहे बाइबिल-तंत्र हो या कुरान-तंत्र) अपने हृदय को ईमानदारी से टटोल कर देखे कि वहाँ कितनी करुणा

है ! मानव तथा मानवेतर प्राणियों के प्रति करुणा रखने वाले व्यक्तित्व की भक्ति को समझना खेल नहीं है। संकीर्ण तथा हिंसक समाज की बुद्धि से बाहर है।

मानस का महत्त्व : लोकनायक तुलसी

रामचरितमानस आर्य-संस्कृति का दर्पण है जिसमें लोकनायक तुलसी का विराट स्वरूप प्रतिबिम्बित हो रहा है। देश की आत्मा को पहचानने-वाला ही यहाँ का लोक नायक हो सकता है। कोरा भौतिकवादी इस अध्यात्म-वादी देश की आत्मा का स्पर्श नहीं कर सकता और निरा अध्यात्मवादी समाज के सुख-दुख का व्यावहारिक चिन्तन नहीं कर सकता। अपने समन्वित व्यापक आदर्शों के कारण तुलसी, इस देश के लोकनायक हैं। गृहस्थ, विरक्त, ज्ञानी तथा भक्त, सभी की समान श्रद्धा उनके प्रति आज तक बनी हुई है।

अपने आदर्शों को केन्द्रीभूत करने के लिए उन्हें लोक नायक राम का व्यक्तित्व भी मिल गया। राम के व्यापक चरित्र में उन्हें अपने वांछित आदर्शों के विशाल क्षेत्र मिले। अतः उनके चरित्र का चित्रण करने के लिए रामचरित-मानस नामक महा-प्रबन्ध-काव्य की रचना की। वैसे तो राम का चरित्र ही स्वयं महाकाव्य था, तुलसी जैसे महान् कलाकार ने उसके चित्रण में चमत्कार ला दिया। तुलसी ने राम के चरित्र का चित्रण करने वाली रचना को मान-सरोवर बनाने की चेष्टा की है जिसके शीतल जल में सम्पूर्ण लोकसमाज नहा सके। इस प्रयत्न में वे पूर्ण सफल हो सके हैं।

इस महाकाव्य की रचना भक्ति से प्रेरित होकर की गई है और यह सर्वत्र ही भक्ति के रस से सराबोर है। इस भक्ति का आधार निश्चित ही लोककल्याणकारी है। रामके शील-सौन्दर्य की प्रेरणा ही 'मानस' के मूल में पाई जाती है। इस महाकाव्य में पात्रों के दो वर्ग हैं। एक वर्ग रामत्व का पक्षपाती है तथा दूसरा रावणत्व का आतंक फैलाने वाला है जिसका मुख्य दिनचर्या भ्रष्टाचरण है।

कामरूप जानहिं सब माया। सपनेहुँ जिनके मोह न दाया॥
करहिं उपद्रव असुर निकाया। नाना रूप धरहिं करि माया॥
बाढ़े खल बहु चोर जुआरा। जे लम्पट परधन परदारा॥
जिन्हके यह आचरन भवानी। ते जानेहु निसिचर सब प्रानी॥

क्या आज भी दिल्ली से लेकर देश की गली-गली तक हम इसी माया का

विस्तार नहीं देख रहे हैं ? क्या चीन और पाकिस्तान तुलसी की लंका की प्रतिमूर्ति नहीं हैं ? क्या सम्पूर्ण समाज में 'भ्रष्ट अचारा' नहीं है। तुलसी को अच्छी तरह ज्ञात था कि लोक और मानवता का यह संकट कभी पीछा छोड़ने वाला नहीं। इसीलिए बार-बार 'जन्म' लेकर लोक के उद्धारक रामत्व का दर्शन करना चाहते हैं। उनकी सगुण-भक्ति का यही रहस्य है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से मानस एक उत्कृष्ट काव्य है। तुलसी की कला में जीवन की गहरी अनुभूति है। एक ही आदर्श से प्रेरित विभिन्न पात्रों के चरित्रों में वैचित्र्य देखकर आश्चर्य होता है। दशरथ और जनक, भरत एवं लक्ष्मण, निषाद तथा शबरी, सुग्रीव अथवा हनुमान के लक्ष्यों में कितना साम्य है किन्तु उनके स्वभावों में कितना अन्तर है ! रावण, मेघनाद, कुम्भकर्ण तथा अनेक अत्याचारियों के स्वभावों में कितना वैचित्र्य है। आदर्शों की समानता तथा व्यक्तित्व की असमानता अर्थात् समानता और असमानता का ऐसा समन्वय विश्वसाहित्य में बेजोड़ है। लोककल्याण ही इस चेष्टा का उद्देश्य है जिसकी घोषणा, तुलसी प्रारम्भ ही में कर चुके हैं :—

'वन्दे वाणी विनायकौ'

अर्थात् वाणी ऐसी चेष्टा करे जो लोकार्थ विनायक (मंगलदायक) हो।

'मानस' के सभी पात्र अपने व्यक्तित्व में स्वतंत्र हैं, किन्तु सबके सामने अपनी मर्यादा की सीमा है। इस मर्यादा का चरम उत्कर्ष हम राम के व्यक्तित्व में देखते हैं। वे राजमहल से निकलकर ग्रामीणों, कोल-भीलों तथा वनचारियों से ममता स्थापित करते हैं। लंका के मदान्ध वैभव से टक्कर लेकर सामान्य जनता का उद्धार करते हैं। वे मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। राजभवनों से दूर विश्वामित्र के आश्रम में विद्याध्ययन करते हैं। उनकी शिक्षा पुस्तकीय नहीं प्रयोगात्मक है। उनका पहला रिसर्च, वहीं हम मारीच तथा सुबाहु पर देखते हैं। विवाह के पूर्व धनुष-परीक्षा देनी पड़ती है। वे उदार तथा शील के अवतार हैं। माता-पिता की मर्यादा के लिए वनवास स्वीकार करते हैं।

राजपद को ठोकर मारकर वन-वन की ठोकर खाने वाला ही तुलसी के काव्य का नायक हो सकता था। वही उनकी मर्यादा की स्थापना कर सकता था। लोक-मंगल के स्वप्नद्रष्टा तुलसी की सांस्कृतिक, सामाजिक तथा व्यक्तिगत मर्यादा (Cultural, Social and Indivisual discipline) अनुपम है। तुलसी का यह मर्यादावाद विश्व-साहित्य में बेजोड़ है। राम, जैसा दूसरा व्यक्तित्व संसार में कहीं उत्पन्न ही नहीं हुआ।

राम का विशाल तथा गम्भीर चरित्र रस का सागर है। माताएँ, जनकपुर की नारियाँ तथा ग्रामवासी उनके रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध हैं। भक्त-मुनिजन उनके दिव्य-सौन्दर्य पर मुग्ध हैं। तुलसी उनके शील-सौन्दर्य पर मुग्ध हैं। तुलसी के राम—माताओं के भवन में वात्सल्य के आलम्बन, जनकपुर में संयोग तथा सीता-हरण के बाद वियोग शृङ्गार के आलम्बन, आश्रमों में भक्ति के आलम्बन तथा युद्ध-क्षेत्रों में वीररस के—आलम्बन हैं। वे करुणा की मूर्ति तथा अशिव तत्त्वों के लिए भयानक हैं। उन्हें भ्रष्टाचार से घृणा है। वे शान्ति के गम्भीर सागर हैं। रामचरित मानस रस का अगाध समुद्र है।

राम का सहज शील तथा रूप की स्वाभाविकता, उनमें सहज ही सौन्दर्य की सृष्टि करने वाले तत्त्व हैं। उस सहजता के सामने लौकिक अलङ्कार फीके हैं। श्याम और धनुष ही उनके अलंकार हैं। सूरदास ने रूप-सौन्दर्य के चित्रणों में अलंकारों के विशेष प्रयोग किये हैं तथा तुलसी ने शील-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में। तुलसी के साहित्य में अ कार साधन हैं, रीतिकालीन कला की भाँति साध्य नहीं। अनुप्रास, उपमा, रूपक तथा उत्प्रेक्षा के स्वाभाविक प्रयोग किये गए हैं। 'मानस' की भाषा साहित्यिक अवधी है।

"रामचरित-मानस" एक उत्कृष्ट प्रबन्ध-काव्य है। ऐसा प्रबन्ध-काव्य न तो इसके पूर्व ही हिन्दी में लिखा गया और न बाद में ही। कला, भाव तथा दर्शन का ऐसा समन्वय कम मिलेगा। 'मानस' के कथा-प्रवाह के साथ, उसके भीतर, रस की धारा विभिन्न रूप धारण करके अविरल गति से चलती है। यह अविरलता ही प्रबन्धात्मकता का प्राण है। रस की इस धारा में भारतीय संस्कृति तथा जीवन की अविछिन्न धारा है। जिस प्रकार जीवन की गति एक समान नहीं चलती तथा सदा दुख-सुख की स्थिति समान नहीं रहती, उसी प्रकार जीवन की समानता एवं असमानता की समन्वित धारा 'मानस' में चलती है। इस काव्य में कथा-प्रसंगों के सम्बन्ध-निर्वाह में तुलसी ने विचित्र कौशल दिखाया है। 'मानस' की यह धारा लोक-परलोक को एक सूत्र में जोड़ देती है, कला तथा जीवन को एक धरातल पर ला देती और विचित्र बात यह है कि इस धारा में (भूत, वर्तमान एवं भविष्य) काल की अविरलता का शाश्वत प्रवाह है। यह प्रवाह प्राचीन तथा नवीन को जोड़ने वाला है।

भावुक शुक्ल जी प्रबन्धात्मक संबन्ध-निर्वाह की धारा में मार्मिक-स्थलों की पहचान पर विशेष बल देते हैं। पहचान के अभाव के कारण केशव की 'रामचन्द्रिका' की प्रबन्धात्मकता में सन्देह करते हैं। वास्तव में केशव 'रामचन्द्र की चन्द्रिका में, वर्णत हौं बहु छन्द' की घोषणा करके प्रबन्ध-निर्वाह तथा मर्म-

पहचान से छुट्टी ले लेते हैं। सूरसागर में मर्म-पहचान है, तो प्रवन्ध-निर्वाह नहीं। पुष्प-वाटिका, वन-गमन, चित्रकूट की सभा, सीताहरण, अशोकवाटिका तथा लक्ष्मणशक्ति ऐसे प्रसंग हैं जहाँ तुलसी ने मर्मज्ञता और सहृदयता का परिचय दिया है। 'लागति अवध भयावनि भारी।' 'हे खग मृग हे मधुकर स्रेनी।' 'अर्धराति गइ कपि नहिं आवा।' और 'सुनहि विनय मम विटप असोका।' की मार्मिक अनुभूतियाँ हृदय को विदीर्ण करने वाली हैं। इन मार्मिक स्थलों पर तुलसी का हृदय तन्मय हो जाता है। सच पूछा जाय तो 'मानस' की सारी शक्ति तथा उत्कृष्टता, उसका महाकाव्यत्व तथा सारा कौशल इन्हीं मार्मिक स्थलों पर टिका है।

मिल्टन का 'पैराडाइज लास्ट' संसार का प्रसिद्ध तथा अंग्रेजी का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है। उसमें रामत्व तथा रावणत्व के संघर्ष को बड़ी ही शक्ति से, भीतर और बाहर व्यापक क्षेत्र में चित्रित किया गया है। भावों की तन्मयता तथा कला का उच्च-स्तर वहाँ प्रशंसनीय है। मिल्टन का अध्ययन एवं पाण्डित्य आश्चर्यजनक है। पात्र भी अपनी मर्यादा का एक विशेष स्तर (Standard) रखते हैं। किन्तु 'मानस' का मानसरोवर धरती का ऐसा मानसरोवर (अथवा जीवन का समुद्र !) है जिसकी लहरें यथार्थ के धरातल से उठकर ऊपर 'पैराडाइज' को स्पर्श करके आगे निकल जाती हैं। मिल्टन के काव्य में 'मानस' के समान कला का ऐसा सरस क्षितिज नहीं, जहाँ जीवन की व्यावहारिक अनुभूतियाँ स्वर्गीय तत्त्वों को चूमती हों, जहाँ गगन धरती को चूम रहा हो तथा रस की शाश्वत धारा काल के पर्वतों को तोड़ती हुई आदि तथा अन्त को मिला रही हो। मिल्टन के रामत्व में तुलसी के समान मानवता के लिए आशा का प्रकाश नहीं और न दिव्य शक्ति है। तुलसी के रामत्व में, लौकिक तथा अलौकिक रस, समन्वित होकर मंगल-प्रसार करने की अद्भुत शक्ति है। मिल्टन की इस विवशता का कारण उनकी अयोग्यता नहीं है। वहाँ की संस्कृति में राम के व्यक्तित्व को जन्म देने की ऐसी शक्ति और योग्यता ही नहीं थी। यदि उन्होंने भारत में जन्म लिया होता तो निश्चित ही भारत के तुलसी होते।

सामाजिक तथा व्यक्तिगत मर्यादा का ऐसा व्यावहारिक तथा आदर्श रूप हमको विश्व में कहीं नहीं मिलेगा। राम उस मर्यादा की सीमा हैं। जनक तथा दशरथ की रानियों की व्यक्तिगत तथा कुलगत मर्यादा, भरत के चरित्र की असीम मर्यादा, पतिव्रता सीता की आदर्श नारी-मर्यादा, लक्ष्मण के त्याग तथा सेवा की मर्यादा, मुनियों की पवित्र-भक्ति की मर्यादा तथा पार्वती के तप

की मर्यादा में प्रवाहित लौकिक रस की धारा अलौकिक है। लौकिकता तथा अलौकिकता का यह समन्वय अनुपम है। मन्थरा, निषाद, कोल-भील, ग्रामवासी तथा शबरी आदि के चरित्र उसी मर्यादा के अंग हैं जो उसको पूर्णता प्रदान करते हैं। इसी पूर्णता में तुलसी की लोकनायकता की पूर्णता है।

इस सन्दर्भ में तुलसी की मौलिकता के मूल्यों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह मौलिकता उनके नवीन उपमानों तथा नवीन-प्रसंग-सृष्टि में सर्वत्र ही दिखाई पड़ती है।

(१) सब उपमा कवि रहे जुठारी। केहि पट तरउँ बिदेह कुमारी ॥
सुन्दरता कहँ सुन्दर करई। छविगृह दीपसिखा जनु बरई ॥
(२) गिरा अलिनि मुख पंकज रोकी। प्रगट न लाज निसा अवलोकी ॥
लोचन जल रह लोचन कोना। जैसे परम कृपन कर सोना ॥
(३) हमहुँ कहबि अब ठकुर सोहाती। नाहिंत मौन रहबि दिन राती ॥
(४) माँगु माँगु पै कहहु पिय, कबहुँ न देहु न लेहु
(५) बहुरि बदन-बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी ॥
खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सयननि ॥

यहाँ सौन्दर्य, मनोदशाओं तथा स्वभावों के चित्रणों में तुलसी की मौलिकता अद्वितीय है। मौलिकता की स्वतंत्र चेतना और उनके मर्यादावाद के समन्वय को देखकर आश्चर्य होता है। यहाँ सौन्दर्य के कलाकार कालिदास, तुलसी से पिछड़े हुए दिखाई देते हैं। पार्वती तथा शकुन्तला के सौन्दर्य चित्रणों में वह गरिमा नहीं जो तुलसी की सीता में चित्रित है।

तुलसी के 'मानस' की कथा वही है जो वाल्मीकीय रामायण, अध्यात्म रामायण तथा हनुमन्नाटक आदि ग्रन्थों में है किन्तु महत्त्वहीन प्रसंगों को छाँटते हुए नवीन मौलिक प्रसंगों को जोड़कर तुलसी ने एक ओर कथा को नवीन तथा सजीव रूप दे दिया है दूसरी ओर अपनी स्वतंत्र चेतना का परिचय दिया है। विशेषता यह है कि उनकी यह स्वतंत्र चेतना मर्यादा को सौन्दर्य प्रदान करती है। पुष्प-वाटिका, दशरथ की मनोव्यथा, जयन्त-कथा, अनुसूया-उपदेश, अशोकवाटिका में सीता द्वारा अग्नि के स्थान पर मुद्रिका पाना आदि प्रसंग या तो मौलिक हैं अथवा वहाँ दृष्टिकोण में नवीनता है। सम्पूर्ण कथा को तुलसी ने भक्ति का रंग चढ़ाकर नवीन बना दिया है।

रामचरितमानस के महत्त्व का पता हम इसके प्रचार और प्रभाव को देखकर भी लगा सकते हैं। स्त्री-पुरुष, कवि-दार्शनिक, गृहस्थ-सन्यासी तथा

भक्त-ज्ञानी आदि सभी वर्गों के लोग अपनी अपनी रुचियों और आदर्शों का रसास्वादन करते हैं। यह काव्य-ग्रन्थ, धर्मग्रन्थ, दर्शन-ग्रन्थ, लोक-ग्रन्थ तथा उपदेश-ग्रन्थ सब कुछ एक ही साथ है। यह विश्व-साहित्य में चमत्कार के समान है। जनता के हृदय तथा मस्तिष्क पर इसका महत्त्व छाया हुआ है। यह हमारी संस्कृति का प्राण तथा जीवन का रूप है। इसका रचयिता मनुष्य है अथवा क्या है!

तुलसी की काव्य-कला

'कविता करके तुलसी न लसे, कविता लसी पा तुलसी की कला।'

तुलसीदास काव्य-शास्त्र के आचार्य, कला के मर्मज्ञ, तत्त्वदर्शी योगी, तपस्वी साधक, धर्म के पण्डित, मानवता के सच्चे पुजारी तथा युग प्रवर्तक सन्त थे। उनका साहित्य लोक-रंजन तथा लोक-मंगल की समन्वित चेष्टा का प्रतिफल है। काव्य-कला के सम्बन्ध में तुलसी की मान्यताएँ ध्यान देने योग्य हैं।

(१) कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कर हित होई॥

यहाँ 'भणिति (काव्य-कृति) को सुरसरि के समान हित करने वाली' कह कर तुलसी व्यापक अर्थों की ओर संकेत कर रहे हैं। उसका उद्गम स्थान हृदय है जो गंगोत्री के समान प्रशान्त, शीतल तथा पवित्र है। सुरसरि की धारा नैसर्गिक, अनवरुद्ध तथा प्रवाहमय है, साथ ही उसमें पवित्र-अपवित्र तत्त्वों को आत्मसात् करने की शक्ति है उसी प्रकार काव्य की धारा इन गुणों से सम्पन्न हो।

(२) सरल कवित कीरति बिमल, सोइ आदरहिं सुजान।
सहज बयरु बिसराय रिपु, जेहि सुनि करहिं बखान॥

हृदय तक सरलता से पहुँचने वाली कविता इस प्रकार हो जो ऐसी रसधारा बहाये कि शत्रु पाठक भी धन्य-धन्य, चिल्ला उठें।

(३) कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना॥

वीरगाथा-काल की प्रवृत्तियों को वे देख चुके थे। उस झूठी प्रशंसा से देश और समाज को कोई लाभ न था। प्रतिभा के इस दुरुपयोग से तुलसी दुखी थे। दुख की बात है कि रीतिकाल के कवियों ने 'प्राकृत-जन-गुनगान' को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया।

तुलसी की काव्य-कला की समीक्षा के लिए, उन्हीं द्वारा दिये गये

मानदण्डों के आधार ही पर्याप्त हैं। रामचरितमानस के प्रथम श्लोक में ही काव्य-शास्त्र के सम्पूर्ण मानदण्ड एकत्र करके प्रतिष्ठित कर दिये गये हैं। ऐसा विचित्र मंगलाचरण अथवा काव्यारम्भ संसार में कहाँ मिलेगा?

वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि।
मंगलानां च कर्तारौ वन्दे वाणी-विनायकौ ॥

वे प्रारम्भ में सुन्दरम् की प्रतीक सरस्वती तथा शिवं के विधायक गणेश की वन्दना करते हैं क्योंकि ये सुन्दरं तथा शिवं ही सत्यं के वास्तविक गुण हैं। तुलसी ने यहाँ दातारौ न लिखकर कर्तारौ लिखा है जिससे अपने अहं का लोप कर दिया है। स्पष्ट कहा भी है—

'कवित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहहुँ लिखि कागद कोरे ॥'

(१) वर्णानाम् (अलङ्कारवाद, वक्रोक्तिवाद) कह कर नाद तथा अलङ्कार का संकेत दिया है।

(२) अर्थसंघानाम् (ध्वनिवाद) के संघानाम् से बहुविध अर्थ का संकेत किया है।

(३) रसानां का बहुवचन-प्रयोग, रसों के अधिक प्रकारों का संकेत करता है। वे तो 'सरल-रस' (सानी सरल रस मातु बानी) और 'ध्यान-रस (मगन ध्यान रस दण्ड जुग) सरीखी बातें भी कह जाते हैं।

(४) छन्दसाम् (रीतिवाद) के साथ 'अपि' शब्द का प्रयोग इसलिए किया कि रचना छन्दबद्ध भी हो तो ठीक ही है।

(५) मंगलानां (औचित्यवाद) जिसे शिवं कहते हैं, होनी ही चाहिए। 'च' लिखकर उसकी अनिवार्यता पर जोर दिया है। अब इन्हीं कसौटियों पर तुलसी की कला का मूल्यांकन करना समीचीन होगा।

वर्णानाम् (अलङ्कार) :—

तुलसी में नाद-सौन्दर्य तथा स्वाभाविक अलङ्कार-विधान प्रभाव की वृद्धि करने वाला है। गीतावली तथा विनय पत्रिका के गेय-पदों में भावों की तन्मयता है। इन ग्रन्थों की रागिनियाँ सामान्य जनता तथा गुणज्ञ गायकों द्वारा बड़ी तन्मयता से गाई जाती हैं। पीछे हम 'मानस' के महत्त्व पर कुछ प्रकाश डाल चुके हैं। तुलसी का शब्द-भण्डार अत्यन्त विशाल है जिसमें संस्कृत, प्राकृत, तथा विभिन्न भाषाओं के शब्द भरे पड़े हैं। पात्रों तथा भावों के अनुकूल उनकी बदलती हुई भाषा, यथार्थ की सत्यता को स्पष्ट करने वाली है। अनुप्रास देखिए :—

(१) सुकृत संभु तन विमल विभूती। मंजुल मंगल मोद प्रसूती ॥
(२) हमहुँ कहबि अब ठकुर सोहाती, नाहिंत मौन रहब्रि दिनराती ॥
(३) कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि ॥
(४) धरि कुधर खंड प्रचंड मर्कट भालु गढ़ पर डारहीं।

अर्थसंघानाम (ध्वनि) :—

तुलसी के साहित्य में विचित्र अर्थयोजना मिलती है। इस अर्थयोजना में तुलसी की कल्पना-शक्ति, अनुभूतियों की गहराई तथा अभिव्यंजना का अद्भुत चमत्कार दिखाई देता है। विशेषता यह है कि ऐसी रचनाओं का आस्वादन अपढ़ गृहस्थ भी बड़ी तन्मयता से करते हैं तथा मर्मज्ञ सहृदय तो बार-बार नये-नये अर्थ लगाकर लगातार डूबते उतराते रहते हैं। इनका अभिधार्थ भी उतना ही सरस और प्रभावपूर्ण रहता है जितना उसके पीछे छिपे हुए लक्ष्यार्थों या व्यंग्यार्थों में। तुलसी की अर्थयोजना का यह बहुत बड़ा चमत्कार है।

नील सरोरुह, नील मनि, नील नीरधर स्याम।
लाजहिं तनु सोभा निरखि, कोटि कोटि सत काम ॥

अर्थ कितना सरल है ! सहज ही राम की श्याम आकृति आँखों के सामने खड़ी हो जाती है इस अभिधार्थी अभिव्यंजना में राम का सहज-रूप-सौन्दर्य उमड़ रहा है। इतना अर्थ भी कम नहीं है। अब थोड़ा भीतर प्रवेश करें। एक ही श्याम शरीर के लिए नीले-नीले तीन पदार्थों के तीन उपमान कुछ और भी अभिप्राय रखते हैं। "राम साध्य हैं जिनमें आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक पूर्णता है। यहाँ सरोरुह, मणि और नीरधर तीनों ही जल, थल तथा गगन के सुन्दरतम पदार्थ हैं जिनसे राम की आधिभौतिक पूर्णता की ओर संकेत किया गया है। सरोरुह से ब्रह्मा की उत्पत्ति है, कौस्तुभ-मणि विष्णु का आभूषण है तथा नीरधर शब्द गंगाधर शंकर की ओर संकेत करता है, जिनसे आधिदैविक पूर्णता का संकेत मिलता है। सरोरुह सत् का प्रतीक है, मणि चित् का (क्योंकि उसका धर्म प्रकाश करना है) तथा नीरधर रसमय होने से आनन्द का प्रतीक है, इस प्रकार आध्यात्मिक पूर्णता का संकेत है। साध्य-पक्ष के बाद साधन-पक्ष पर अब ध्यान देना चाहिए। सरोरुह कर्ममार्ग का द्योतक है। क्योंकि सृष्टिकर्ता ब्रह्मा की उत्पत्ति उसी से हुई है। प्रकाश-धर्म के कारण मणि ज्ञानमार्ग की द्योतक है। रस-सम्पत्ति के कारण नीरधर भक्तिमार्ग का द्योतक है। राम नील वर्ण हैं और नील वर्ण ऐसा है जिसमें सब वर्णों का लय हो जाता है।"

—(डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र के अनुसार)

बिहारी ने नील-वर्ण की विशेषता से लाभ उठाया है—'जा तन की झाईं परे स्याम हरित दुति होय।' यहाँ स्थानाभाव से अधिक उदाहरण देना कठिन है। एक और उद्धरण देकर हम इस प्रसंग को समाप्त करेंगे। तुलसी की रचनाओं में सर्वत्र ही ऐसी अर्थयोजना मिलेगी। विश्व-साहित्य में तुलसी एक चमत्कार के समान हैं।

'विप्र वंस कै असि प्रभुताई। अभय होइ जो तुम्हहिं डराई॥'

अर्थ कितना सीधा है? "ब्राह्मण वंश से डरकर चलने वाला ही संसार में निर्भीक होकर रहता है। यहाँ परशुराम से रामचन्द्र निवेदन कर रहे हैं। अब इसके गूढ़ार्थ पर विचार करें जिसे समझकर परशुराम की बुद्धि खुल गई थी।

(१) अभिधार्थ से राम के स्वभाव की कोमलता झलकती है।
(२) विप्र-वंश में इसीलिए प्रभुता है कि वह आस्तिक रहते हुए वैष्णव अंश से डरता हुआ आचरण करता है।
(३) विप्र-वंश की ऐसी प्रभुता है कि मैं अभय ब्रह्म होते हुए भी डरता हूँ।
(४) जब आपने विष्णु होकर ब्राह्मण वंश में जन्म लिया है तो आपका स्वभाव विप्र के समान होना चाहिए। मैं आप से डर रहा हूँ।'

—(डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र के अनुसार)

वैसे तो तुलसी की सम्पूर्ण रचना में रामत्व और रावणत्व के व्यापक भाव छिपे हुए हैं।

रसानाम् :—

तुलसी का सम्पूर्ण साहित्य भक्ति-रस से सराबोर है। उस रस का वर्ण वही है जो राम का है अर्थात् ऐसा नीलवर्ण है जो काव्य के सभी रसों के रंग-रंग में स्थान-स्थान पर दिखाई देता है किन्तु अलग कर देने पर उसका वही रूप दिखाई देता है। उस रस में अलौकिक लौकिकता है।

(१) कबहुँ उछंग कबहुँ बर पलना, मातु दुलारइ कहि प्रिय ललना॥
कौसल्या जब बोलन जाई, ठुमुक ठुमुक प्रभु चलहिं पराई॥

(२) सहमि सूखि सुनि सीतल बानी, जिमि जवास परे पावस पानी॥
नयन सजल तन थर थर काँपी। माजहिं खाइ मीन जनु मापी॥

मानस के अतिरिक्त गीतावली तथा कवितावली में भी हृदय को स्पर्श करने वाले वात्सल्य के चित्र हैं। शृङ्गार के संयोग तथा वियोग के चित्र भी मर्म स्पर्शी हैं। यहाँ 'मानस' के कुछ उद्धरण प्रस्तुत हैं।

(१) जहँ बिलोक मृग सावक नैनी। जनु तहँ बरिस कमल सित स्रेनी ॥
लोचन मग रामहिं उर आनी। दीन्हें पलक कपाट सयानी ॥
पुनि आउब एहि बेरिआँ काली। अस कहि मन बिहँसी एक आली ॥
(२) आनि काठु रचु चिता बनाई। मातु अनल पुनि देहि लगाई ॥
कबहुँ नयन मम सीतल ताता। होइहहिं निरखि स्याम मृदु गाता ॥

करुण-रस के स्रोत तुलसी के साहित्य में भरे पड़े हैं। त्याग भारतीय संस्कृति का मुख्य गुण है। कर्तव्य और त्याग के ऐसे आदर्श विश्व की संस्कृति में नहीं मिलेंगे। अभिमन्यु ने कर्म की बलिवेदी पर प्राण गँवाया, शिवि-दधीचि तथा हरिश्चन्द्र के त्यागों की कल्पना करके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। चौदह वर्ष की वनवासिनी सीता फिर अकेली वन में रहने के लिए विवश हुई। विश्व की किसी भी संस्कृति में ऐसे उदाहरण नहीं मिलेंगे। उन बलिदानों के पीछे असह्य करुणा की धारा छिपी है। भारतीय साहित्य में इसीलिए करुण-रस की जो नैसर्गिक गम्भीर धारा मिलती है वह अन्यत्र दुर्लभ है। राम का वन-गमन ऐसा ही प्रसंग है। उस स्थान पर तुलसी ने अद्वितीय धारा बहाई है।

(१) लोग बिकल मुरुछित नर नाहू। काह करिअ कछु सूझ न काहू ॥
सखा राम सिय लखनु जहँ, तहाँ मोहिं पहुँचाउ।
नाहिं त चाहत चलन अब, प्रान कहउँ सतिभाउ ॥
प्रान कंठगत भयउ भुआलू। मनि बिहीन जनु ब्याकुल ब्यालू ॥
धरि धीरज उठि बैठ भुआलू। कहु सुमंत्र कहँ राम कृपालू ॥
राम राम कहि राम कहि, राम राम कहि राम।
तनु परिहरि रघुबर बिरह, राउ गयउ सुरधाम ॥
(२) बिलपहिं बिकल भरत दोउ भाई। कौसल्या लिए हृदय लगाई ॥
अस कहि मातु भरत हियलाए। थन पय स्रवहिं नयन जल छाए ॥

करुणा के कई प्रसंग आए हैं जहाँ पाठक का हृदय चूर-चूर हो जाता है। लक्ष्मण-शक्ति-प्रसंग में राम का विलाप हृदय को द्रवित करने वाला है। तुलसी की विनयपत्रिका शान्त और करुण रस का समुद्र है। कवितावली में वात्सल्य, श्रृङ्गार, करुण, वीर रौद्र तथा भयानक रसों के मार्मिक स्थल हैं।

अन्त में हम एक ऐसी रचना उद्धृत कर रहे हैं जिसमें एक ही स्थान पर सभी रसों का अद्भुत समावेश है। यहाँ लंका का एक चित्र है।

चउहट्ट हट्ट सुघट्ट बीथी, चारु पुर बहु बिधि बना। (अद्भुत)
गज बाजि खच्चर निकर पदचर रथ बरूथनि को गनइ। (हास्य)

वन बाग उपवन वाटिका सर कूप बापी सोहहीं। (शृङ्गार)
नर नाग सुर गन्धर्व कन्या रूप मुनि मन मोहहीं॥ (करुण)
कहुँ मल्ल देह विसाल सैल समान अति बल गर्जहीं॥ (वीर)
नाना अखारेन्ह भिरहिं बहु विधि एक एकन्ह तर्जहीं। (रौद्र)
करि जतन भट कोटिन्ह विकट तन नगर चहुँ दिसि रच्छहीं (भयानक)
कहिं महिष मानुष धेनु खर अज खल निशाचर भच्छहीं॥ (वीभत्स)
रघुवीर-सर-तीरथ सरीरन्हि त्यागि गति पइहहिं सही। (शान्त)

वास्तव में तुलसी रससिद्ध कवीश्वर हैं। रससिद्ध ही क्यों सर्वसिद्ध हैं।

छन्दसाम् :—

छन्द तथा रीतियों की दृष्टि से तुलसी प्रतिनिधि कवि हैं। आगे चलकर रीति-कवि केशव ने जितने छन्दों के प्रयोग किए उतने किसी ने नहीं किए क्योंकि 'रामचन्द्रिका' में यही उनका उद्देश्य था। परन्तु तुलसी के प्रयोगों में विशेषता है। पहली विशेषता यह कि ग्रामीण लोक-छन्दों से लेकर रीति-शास्त्रों में वर्णित उन सभी छन्दों के प्रयोग किये जिनके प्रयोग वीरगाथा काल से लेकर उनके समय तक हो चुके थे। दूसरी विशेषता यह कि प्रसंग तथा भाव के अनुकूल ही उनका प्रयोग किया। मुक्त भावों को गेय पदों में, प्रबन्ध-प्रवाह के लिए दोहे चौपाई में, वीर तथा भयानक रसों के लिए छप्पय, कवित्त तथा सवैया में हम उनका कौशल देखते हैं। तुलसी के समान भाव, भाषा तथा छन्द की एकाकारता अन्यत्र दुर्लभ है।

मंगलानाम् : मर्यादावाद :—

तुलसी के सम्पूर्ण साहित्य का एक ही उद्देश्य है, और वह है जग-मंगल। वर्ण, अर्थ, रस तथा छन्दादि तो साधन मात्र हैं जिनके द्वारा उस मंगल का विस्तार किया जा सकता है। तुलसी-साहित्य के नायक राम उसी मंगल के अवतार हैं। संसार में उसी मंगल (शिवं) की स्थापना में उन्होंने अपने जीवन को लगा दिया।

(१) 'तुलसी संत सुअंब तरु, फलहिं फुलहिं पर हेत।'
(२) 'पर हित सरिस धर्म नहीं भाई।'

तुलसी की साधना का मुख्य साध्य जग-मंगल ही है।

'जग मंगल गुन-ग्राम राम के।'

अतः अपने साहित्य में उन्होंने राम का गुण गाया। तुलसी के सामने एक अव्यवस्थित दुखी समाज था। उन्होंने अन्तर्दृष्टि से देख लिया कि समाज की यह दशा क्यों है। पतन का मुख्य कारण है अकर्मण्यता, द्वेष, तथा भ्रष्टाचार तत्कालीन समाज तथा उसके कर्णधारों की तुलना हम आज से कर सकते हैं। क्या विचार कर सकते हैं ?

(१) बरनि न जाइ अनीति, घोर निसाचर जो करहिं।
हिंसा पर अति प्रीति, तिनके पापहिं कवन मिति॥

(२) काम क्रोध मद लोभ परायन।
निर्दय कपटी कुटिल मलायन॥
लोभइ ओढ़न लोभइ डासन।
सिस्नोदर पर जम पुर त्रासन॥
स्वारथ रत परिवार बिरोधी।
लंपट काम लोभ अति क्रोधी॥
मातु, पिता, गुरु विप्र न मानहिं।
आपु गए अरु घालहिं आनहिं॥

(३) मारग सोइ जा कहँ जोइ भावा।
पंडित सोइ जो गाल बजावा॥
नारि बिवस नर सकल गोसाईं।
नाचहिं नट-मर्कट की नाईं॥

(४) गुर सिष बधिर अंध का लेखा॥
एक न सुनइ एक न देखा॥
सुत मानहिं मातु पिता तब लौं।
अबलानन दीख नहीं जब लौं॥

तुलसी को केवल खण्डन, मण्डन तथा कोरे उपदेशों से सन्तोष नहीं था। उन्होंने व्यक्ति तथा समाज के चरित्र को पकड़ा क्योंकि चरित्र ही शिव तथा अशिव का आधार है। व्यवहारिक रूप में मंगल के विधायक राम के व्यापक चरित्र को लोगों के हृदय में बैठाने के लिए उन्होंने काव्य का सहारा लिया क्योंकि काव्य और हृदय का धरातल एक होता है तथा चरित्र की उत्पत्ति हृदय से होती है।

(१) कथा जो सकल लोक हितकारी।
सोइ पूछन चह सैल कुमारी॥

(२) जग-मंगल गुन ग्राम राम के।
दानि मुकुति, धन, धरम, धाम के॥

'मानस' की प्रारम्भिक घोषणाओं से ही सभी बातों का पता चल जाता है। राम के चरित्र में पग-पग पर एक मर्यादा है। समाज में उन्हीं मर्यादाओं की व्यावहारिक स्थापना से सुख का विस्तार हो सकता है। समाज क्या चाहता है, अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्ष। 'मानस' के अन्त में भी तुलसी समाज के उसी 'शिवं' की याद दिलाते हैं।

पुण्यं पापहरं, सदा शिवकरं, विग्यान भक्तिप्रदं।
माया मोह मलापहं सुविमलं प्रेमाम्बुपूरं शुभम्॥

यहाँ पुण्य तथा पाप शब्द व्यक्ति तथा समाज के चारित्रिक गुण-दोषों की ओर संकेत करते हैं। उत्तम चरित्र ही शिवकर होता है 'विग्यान' शब्द चरित्र की चेतनता तथा प्रकाश का बोध कराता है। किन्तु ज्ञान की स्थापना हृदय के धरातल पर होनी चाहिए। भक्ति अर्थात् श्रद्धा का मूल स्थान हृदय ही है। 'माया-मोह' समाज के भ्रष्टाचार का संकेत करते हैं। उस भ्रष्टाचार का उन्मूलन मर्यादित चरित्र से ही हो सकता है। समाज के 'विमल' हृदय को प्रेमोदधि बनाना होगा, जहाँ लोग एक दूसरे को स्वार्थ-रहित प्रेम करें। फिर 'शुभम्' कहकर उसी शिवं (जग-मंगल) की कामना ही व्यक्त करते हैं।

इस प्रकार 'मानस' का प्रारम्भ 'मंगलानाम् च कर्तारौ' से होता है तथा अन्त भी 'शिवकरं, शुभम्' में होता है। तुलसी के 'मानस' का अभिधार्थ तथा लक्ष्यार्थ, अपने सम्पूर्ण रूपक के रूप में, काव्यानन्द प्रदान करते हुए समाज को शिवं तक पहुँचाने वाला है। उस रूपक का व्यंग्यार्थ और भी गूढ़ है जिसका मूल्यांकन समाज ने न तब किया और न वह अब भी करने के लिए तैयार है। 'शिवं' की अन्तिम स्थापना उसी से सम्भव थी और है। 'शिवं' के मूल में रामत्व और रावणत्व का संघर्ष है। वन-वन की ठोकर खाने वाले 'राम' दुर्बलों की संगठित शक्ति से रावणत्व का विनाश करके 'शिवं' की स्थापना कर सके। उस विजय के दो आधार हैं, त्याग तथा संगठन।

एक बात और ध्यान देने योग्य है। वन में प्रवेश करने के पहले गंगा-तट पर 'शिव' की पूजा की जाती है। लंका में प्रवेश करने से पहले रामेश्वरम् में 'शिव' की स्थापना तथा पूजा की गई है। इनसे क्या संकेत मिलता है? वास्तव में 'शिवं' की प्रतिष्ठा चरित्र की मर्यादा से ही हो सकती है। उस मर्यादा की स्थापना करते समय, तुलसी समाज के किसी अंग को नहीं छोड़ते। प्रत्येक अंग की दृढ़ता से ही समाज का संगठित मंगल हो सकता है। व्यक्ति-व्यति के

सम्बन्धों की मर्यादा तथा व्यक्ति और संगठन की मर्यादा, तुलसी-साहित्य में दर्शनीय है।

पिता-पुत्र, माता-पुत्र, सास-बहू, पिता-पुत्री, माता-पुत्री, गुरु-शिष्य, राजा-प्रजा, यजमान-पुरोहित, स्वामी-सेवक, प्रिय-प्रेमी, भक्त-भगवान्, देव-दनुज, मनुज-दनुज, श्रोता-वक्ता, साधु-असाधु, गुण-दोष, स्वार्थ-परमार्थ, लोक-परलोक, जीव-ब्रह्म, जीव-जीव, ज्ञान-भक्ति आदि के सम्बन्धों तथा मर्यादाओं का जो चित्र तुलसी ने, जिस हृदयग्राही रूप में खींचा है, उसके मूल में उनकी मंगल-भावना ही है। स्थानाभाव के कारण हम संक्षेप में यही कह सकते हैं कि उन सम्बन्धों तथा मर्यादाओं के उद्धरण के लिए तुलसी का सम्पूर्ण साहित्य प्रस्तुत किया जा सकता है। यहाँ हम कुछ ही मंगलकारी सम्बन्धों तथा मर्यादाओं के उद्धरण दे सकते हैं। ध्यान रखना चाहिए कि चरित्रगत मर्यादावाद ही तुलसी के 'शिवं' का आधार है। उस 'शिवं' की स्थापना करने वाले 'राम' का दर्शन, वे बार-बार जन्म लेकर करना चाहते हैं। यह है मानवता के प्रति तुलसी की भक्ति तथा 'शिवं' का मोहक रूप।

(१) बहु विधि भूप सुता समुझाई।
नारि धरम कुल रीति सिखाई॥ (पिता-पुत्री)

(२) हृदय लगाइ कुअँरि सब लीन्हीं।
पतिन्ह सौंपि बिनती अति कीन्हीं॥ (माता-पुत्री)

(३) करौं कवन विधि बिनय बनाई।
महाराज मोहिं दीन्हि बड़ाई॥ (राजा-राजा)

(४) तनय मातु पितु तोषनि हारा।
दुर्लभ जननि सकल संसारा॥ (पुत्र-मर्यादा)

(५) चलन चहत बन जीवन नाथू।
केहि सुकृती सन होइहिं साथू॥ (पत्नी-मर्यादा)

(६) तदपि सरन सनमुख मोहिं देखी।
छमि सब करिहहिं कृपा विशेषी॥ (भ्रातृ-मर्यादा)

(७) त्राहि त्राहि आरत हरन।
सरन सुखद रघुबीर॥ (भक्त-मर्यादा)

(८) जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥ (राज-धर्म)

इस प्रकार जीवन तथा समाज में सर्वत्र ही चरित्र की मर्यादा स्थापित करना चाहते हैं। उनका दृष्टिकोण व्यवहारवादी तथा रचनात्मक है। तुलसी द्वारा चित्रित, जिस राम-राज्य की स्थापना का स्वप्न हमारे नेता-गण दिखा रहे हैं वह केवल चकमा है। वह उनके भ्रष्टाचार का एक परदा मात्र है। 'यथा राजा तथा प्रजा' का ध्यान रखते हुए यदि उनमें (तुलसी द्वारा इंगित) थोड़ी भी चारित्रिक मर्यादा होती तो यह देश ऐसा अनाथ न होता। इतने ही अल्प समय में जर्मनी तथा जापान जैसे छोटे देश शक्तिशाली बन गये और विश्व-विजय का स्वप्न देखने लगे किन्तु धन्यवाद है इस भ्रष्ट-राष्ट्र को।

उपसंहार:—तुलसी एक लंका की समस्या से पीड़ित थे। वह लंका मुगलों द्वारा निर्मित लंका थी। आज दक्षिण तथा उत्तर ने संयुक्त शक्ति से देश में लंका का निर्माण कर दिया है और सीमा पर दो महा-लंका तैयार हैं। मानवता संत्रस्त है तुलसी भारत के गौरव हैं। जिस सशक्त भाषा के द्वारा उन्होंने ऐसी अभिव्यक्ति दी जिसको आज तक विश्व के समस्त कलाकार स्पर्श तक न कर सके, खेद है कि भारत के हमारे स्वार्थी-बन्धु उस हिन्दी की अभिव्यंजना-शक्ति को Below Standard बताने का साहस कर रहे हैं। भौतिकवादी जीवन की सीमाओं में उछलने वाली जो बाजारू अंग्रेजी भाषा, आज तक भारतीय आत्मा का स्पर्श तक न कर सकी उसे परम्परागत रोटी का साधन बनाये रखने के लिए हमारे प्रिय बन्धु संगठित प्रयत्न कर रहे हैं।

यहाँ हम विषयान्तर नहीं कर रहे हैं। इस अंग्रेजी भाषा में उन्हीं अंग्रेजों का मस्तिष्क है जो देश का विभाजन बनकर, नागा तथा स्काट बनकर और अंग्रेजी-परस्त बनकर भारत के सीने पर सवार हैं। हिन्दी-भाषा के महत्त्व को जर्मन तथा रूसी समझ सकते हैं किन्तु हमारे प्रिय-बन्धु तथा पद से चिपके रहने वाले कर्णधार नहीं। इतना स्पष्ट है कि अंग्रेजी जैसी बहुत सी भाषाओं को सहस्रों वर्षों तक भारतीय भाषाओं से बहुत कुछ सीखना पड़ेगा। देशी अंग्रेजों के बोझ को ढोनेवाले जड़ समाज को धिक्कार है।

इस सन्दर्भ में उन देश-भक्त तथा जग-शोषक अंग्रेजों को धन्यवाद है जिन्होंने अपनी संस्कार-हीन और शक्ति-हीन भाषा को अपने कल-बल-छल से संसार के बाजारों में पाट दिया। वैज्ञानिक चमत्कारों के साथ उसमें भौतिक-विकास लाते गये। उनसे भी अधिक धन्यवाद हमारे इन बन्धुओं को है जो उनकी दासता पर अड़े हुए हैं।

तुलसी ने देश की भाषा, कला, संस्कृति, मानवता तथा आत्मा की जो

सेवा की है उसका कुछ न कुछ मूल्यांकन करने की शक्ति, विश्व में सदा बनी ही रहेगी। आशा है कि तुलसी की मंगल-कामना पूर्ण-साकार नहीं तो पूर्ण-समाप्त भी नहीं होगी।

'ताते मैं अति अलप बखाने। थोरे महँ जानिहहिं सयाने॥'
'एतेहु पर करिहहिं जे असंका। मोहिं ते अधिक ते जड़ मति रंका॥'
'जेहि मारुति गिरि मेरु उड़ाहीं। कहहु तूल केहि लेखे माहीं॥'
'छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई। सुनिहहिं बाल बचन मन लाई॥'
'जे पर भनिति सुनत हरषाहीं। ते बर पुरुष बहुत जग नाहीं॥'
तदपि कहे बिनु रहा न कोई।

टिप्पणी :—

तुलसी की कला से सम्बन्धित कुछ शीर्षकों तथा प्रश्नों पर अब हम अलग से थोड़ा विचार करते हैं क्योंकि विद्यार्थियों के लिए उनकी बड़ी आवश्यकता है।

तुलसी की भाषा :—

देववाणी अब जन-भाषा से बहुत दूर पड़ चुकी थी। तुलसी का मुख्य लक्ष्य था लोक-मंगल। यही कारण था कि उन्होंने लोक-भाषा को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। ध्यान देने योग्य एक यह भी बात है कि उन्होंने भाषा के ऐसे रूप को अपनाया, जैसा किसी देश की राष्ट्रभाषा का होता है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भाषा का यह रूप उन्हें परम्परा से बना बनाया नहीं प्राप्त हुआ। उसका निर्माण तो तुलसी ने अपनी शक्ति से किया। तुलसी की साधना से भाषा को व्यापक अभिव्यंजना-शक्ति मिली। तुलसी की भाषा का यह साहित्यिक रूप अभिनन्दनीय है।

दूसरी बात यह है कि उनकी भाषा, कला का साधन है, साध्य नहीं। अतः उसमें लचीलापन है। भाव, प्रसंग तथा पात्रों के स्तर तथा गुण के अनुसार, तुलसी की भाषा अपना रूप स्वतः बदल लेती है। गूढ़ तथा गम्भीर स्थलों पर वह चिन्तन करने लगती है, युद्ध के मैदान में वह भयंकर रूप धारण कर लेती है, सौन्दर्य की कोमल-भूमि पर उसके नूपुरों की ध्वनि मधुर हो जाती है तथा ग्रामीणों के बीच में पहुँच कर भोली मुस्कान बिखेर देती है। प्रसंगानुसार उसमें ओज, प्रसाद और माधुर्यगुण आते रहते हैं। वह देवों को दिव्य-प्रार्थना से प्रसन्न कर सकती है, पण्डितों तथा दार्शनिकों के बीच सत्संग कर

सकती है, विरह के मार्मिक सन्देश हृदय में पहुँचा सकती है और अपनी रानी की चेरी बनकर ठकुरसोहाती भी सुना सकती है।

अपनी अवधी तथा व्रजभाषा में तुलसी ने संस्कृत पदावलियों का पर्याप्त प्रयोग किया है। उन्होंने मुखेन, उरसि तथा सदसि जैसे सविभक्तिक-पदों तक का प्रयोग कर दिया है। कहीं-कहीं अहम्, मम, तव, ते सर्वनामों, अस्ति, अस्मि, पश्य आदि क्रियाओं, तथा अपि कोऽपि, सोऽपि आदि के विशुद्ध-रूपों के प्रयोग हुए हैं। यही नहीं, इन लोकभाषाओं के बीच में 'तव नाम जपामि नमामि हरी' तथा 'पश्यामि राममनामयं' के समान संस्कृतवाक्यावलियों तक के प्रयोग भी पात्रानुसार किये गये हैं।

प्राचीन शौरसेनी प्राकृत-भाषा—जिससे व्रजभाषा निकली है और अर्द्ध-मागधी प्राकृत-भाषा—जिससे अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी निकली हैं—से भी पूर्ण परिचय तुलसी को था। उन भाषाओं की क्रियाओं के विकसित रूप भी पर्याप्त मात्रा में, उनकी भाषा में मिलते हैं। उनकी भाषा में किज्जइ का कीजइ, लिज्जइ का लीजइ रूप है। बोलि, सुनि तथा देखि आदि पूर्वकालिक क्रियाओं में जो 'इ' जुटा हुआ है वह प्राकृत-भाषा के नियम के अनुसार ही है। तुलसी के कै, का तथा के आदि सम्बन्ध-वाचक परसर्ग, वास्तव में अपभ्रंश-भाषा के 'केर' के ही विकसित रूप हैं।

तुलसी के साहित्य में जो शब्दों के तद्भव रूप दिखाई देते हैं उन्हें स्वयं उन्होंने तत्सम से बिगाड़कर नहीं गढ़ा है, बल्कि उन शब्दों के रूप, क्रमशः संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश से होकर विकसित होते हुए देशी भाषाओं में आए हैं जिनका प्रयोग तुलसी ने वहाँ से लेकर किया है। उदाहरणस्वरूप बाति (वर्तिका), अहेर (आखेट), अहिवात (अविधवात्त्व), कनी (कणिका), थूनि (स्थूणा), उलीचा (उदंचन), समुझइ (सम्बुध्यते), सँजोइल (संयुक्त) निरावहिं (नियार), डमरुआ (डमरुक), बरात (वरयात्रा), निहोरा (अनुरोध) तथा पखारन (प्रक्षालन) आदि शब्द देशी भाषाओं से लिये गये हैं।

इनके अतिरिक्त गोड़, पेट, खोरी, टाट, घिसूरना, ढारइ, मोट, डसाई, हेरी, छुकाई, झारि, ठग, टहल तथा घमोई आदि देशज शब्दों के भाण्डार भी तुलसी-साहित्य में भरे पड़े हैं। इन शब्दों के द्वारा अवसर अथवा पात्र के द्वारा अभिव्यक्ति में नैसर्गिकता ही आई है।

(१) 'पानि कठौता भरि लेइ आवा।'
(२) 'कन्द, मूल, फल भरि भरि दोना।'
(३) आजु दीनि विधि बनि भलि भूरी।'

केवट के पास स्वर्ण के थाल कहाँ थे ? अतः कठौता ले आया। किरातों के पास प्लेट कहाँ थे ? अतः दोना लाये। राजधानी की रमणियाँ आरती के लिए 'स्वर्ण-थार' ला सकती थीं। इनके अतिरिक्त खेरा (गाँव), पाल्वी, कीवी जैसे बुन्देलखण्डी, वारिफेरि (निछावर), माठ (घड़ा), मनुहारि (मनाना), राजस्थानी, धुवाँ (लाश), सिखर (जूठन) के समान पंजावी शब्दों के प्रयोग भी तुलसी के भाण्डार में मिलते हैं। बंगला के सकाल (सवेरा), थाको (ठहरना) आदि शब्दों के अतिरिक्त खड़ी-बोली के भी प्रयोग मिलते हैं।

(१) दास तुलसी संभु सरन आया।
(२) जबते रघुनायक अपनाया।

यही नहीं अरबी तथा फ़ारसी के शब्दों को भी तत्कालीन लोक-भाषा से तुलसी ने ग्रहण किया। उदाहरणार्थ अरबी के साहिब, गनी, गरीब, जिनिस, जहाज, जमात, विदा, लायक, रजाई; खबरि, सही, हाल, बजाज, सराफ; रहम, हलक, सबील, गुलाम, खास, हराम, जाहिर, उमरि, खलल, दगाई, खई, कसम; मुकाम, दिवान तथा सतरंज आदि शब्दों के अतिरिक्त, फारसी के कागद, अदेसा, अवरेब, करतूति, तीर, साज, सहनाइ, रुख, सजाई; दरबार, कमान, कबारू, तरकस, गुदारा, नीके, गरदनि, कोतल, पयादे, जोरा, चंग, बेचारा; पाले, हवाले, बाज, गुमानी, नफीरि, बाजीगर, गच, दुनी; परदा, खल, सुमार, दरिया, जंजीर, जोलहा, सरनाम, खूब, चलाकी, चाकरी, तकिया, डफ, गुलाल, चैन; तोपची, पलीता, गोला, कूच, गरम; खाकी, सरम के समान शब्दों के विशाल कोश तुलसी-साहित्य में भरे हैं। लोक-भाषा में ये शब्द युद्ध-क्षेत्र, न्यायालय और अधिकारियों से आये थे।

कृत तथा तद्धित प्रत्ययों के संयोग से बने हुए, बोलियों के शब्दों का भी जमकर प्रयोग, हम उनके साहित्य में देखते हैं। बटैया, देवैया, सहेला, मोटरी आदि ऐसे ही शब्द हैं। नाम और विशेषण जब क्रियावाचक बनते हैं तब उनको हम नामधातु कहते हैं। हमारी खड़ीबोली में अभी तक नामधातु बनाने की शक्ति नहीं आई है। इनका प्रयोग तुलसी ने किया है, यथा—हथवासहु, भितैहौ आदि।

बैर बिसहते, जाँघ उघारे, बातनि जलधि थहावौं, रेख खँचाइ कहउँ तथा दूध कइ माखी के समान मुहावरों के अत्यन्त स्वाभाविक प्रयोग तुलसी-साहित्य में मिलते हैं।

छन्द तथा शैली :—

भावों तथा विचारों की स्वाभाविक तथा यथार्थ अभिव्यंजना के लिए तुलसी की भाषा, अनुकूल छन्दों तथा शैलियों के वेष में हमारे सामने आती है। सामाजिक तथा व्यक्तिगत जीवन की अभिव्यक्ति कला में होती है। जीवन की अनुभूतियों, आशा-आकांक्षाओं, हाव-भावों तथा विचारादि की कला में अभिव्यक्ति का कार्य, भाषा ही विविध छन्दों तथा शैलियों में करती है। स्थूल रूप से अथवा मोटे तौर पर हम यह भी कह सकते हैं कि जीवन की गति का आभास छन्दों में, रूप का दर्शन भाषा में तथा रंगादिगुण शैली में लक्षित होते हैं। सबके भीतर आत्मा एक ही है।

भरत मुनि के रसमत, भामह और उद्भट के अलंकारमत, वामन के रीति-गुणमत, कुन्तक के वक्रोक्तिमत तथा आनन्द वर्धन के ध्वनिमत से तुलसी पूर्णतया परिचित थे। उनके छन्दों में इन तत्त्वों का समावेश स्वाभाविकता उत्पन्न करने वाला है। भावों तथा घटनाओं की ऊँचाई-गहराई, तीव्रता-मन्दता तथा उग्रता-कोमलता के अनुसार जहाँ जिस छन्द की आवश्यकता पड़ी वहीं तुलसी ने उसका तदनुरूप प्रयोग किया है। काण्डों के प्रारम्भ में (मानस में) संस्कृत-छन्दों में अनुष्टुप, शार्दूलविक्रीड़ित वसन्ततिलका, इन्द्रवज्रा मालिनी, रथोद्धता, स्रग्धरा के प्रयोग हैं। इनमें देवों की प्रार्थनाएँ हैं। इस शैली के तीन उद्देश्य हो सकते हैं। प्रथम तो देवों की प्रार्थना देववाणी में ही हो जाती है। दूसरा यह कि आगे जिस लोक-भाषा में रचना होने जा रही है उसका मूल-स्रोत संस्कृत ही है। तीसरा यह कि तुलसी ने संस्कृत के प्रति श्रद्धा व्यक्त करके पण्डित समाज के विरोध को बचा लिया। इन संस्कृत-छन्दों का प्रयोग तुलसी ने प्रसंगानुकूल काण्डों के भीतर भी किया है।

प्रबन्ध-प्रवाह में चौपाइयों के बाद तुलसी आवश्यकतानुसार दोहों और सोरठों का विधान करते गये हैं। इनके प्रयोग का उद्देश्य विश्राम, नूतन प्रसंग के प्रारम्भ का अवसर तथा कथा का सार अथवा गम्भीर तत्त्वों की प्रतिष्ठा करना है। दोहे की गति तथा लय इनके लिए अनुकूल है। सुन्दरकाण्ड ही एक ऐसा काण्ड है जिसके प्रारम्भ में मंगलाचरण के बाद दोहे अथवा सोरठा का विधान नहीं है। तुलसी का उद्देश्य वहाँ स्पष्ट है। 'रामकाज कीन्हें बिना मोहिं कहाँ विश्राम' की पक्की धुन हनुमान में थी।

'मानस' में परिमाण की दृष्टि से प्रथम स्थान चौपाई का है तथा दूसरा दोहों-सोरठों का, तथा तृतीय हरिगीतिका का है। चौपाई, श्रुति-नाद तथा शैली के सहारे नाना प्रकार के वातावरण की सफल सृष्टि करती है। भाव, व्यापार, हृदय अथवा परिस्थिति को साकार तथा अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए, चौपाई की धारा को तुलसी हरिगीतिका में मोड़ देते हैं।

विकल देखि सुर अंगद धाए। कूदि चरन गहि भूमि गिराए॥
गहि भूमि पारेउ लात मारेउ बालिसुत प्रभुपहँ गयेउ।

इस छन्द का प्रयोग तुलसी ने प्रायः उल्लासमय विवाहादि प्रसंगों में किया है।

भावातिरेक की उछाल के लिए चौपय्या, त्रिभंगी तथा प्रमाणिका छन्दों के प्रयोग तुलसी-साहित्य में प्रशंसनीय हैं। भयोत्पादकता, विह्वलता तथा वीभत्सता के वातावरण में आँखों को झँपाने वाले भीषण संग्रामों में जहाँ जमकर, योद्धा स्वयं सावधानी से बचते तथा दूसरों पर आघात करते हैं वहाँ बड़ी गुत्थम-गुत्थी होती है। ऐसे स्थलों पर तुलसी के तोमर-छन्द अद्वितीय होते हैं।

जब कीन्ह तेहि पाखंड। भये प्रगट जंतु प्रचंड॥
बैताल भूत पिसाच। कर धरे धनु नाराच॥

गीतावली तथा विनयपत्रिका के गेय पदों में हृदय के स्वर हैं। रामलला-नहछू के सोहर तथा बरवैरामायण के बरवै छन्द लोक-रस की सृष्टि करने वाले हैं। वैसे तो कोई व्यावहारिक छन्द छूटने नहीं पाया है।

रसखान का जीवनवृत्त

इनका जन्म सं० १६१५ माना गया है जो वर्तमान इतिहासकारों को भी मान्य है। ये जाति के पठान मुसलमान थे। शिवसिंह सेंगर ने इनका वास्तविक नाम सैयद इब्राहीम लिखा है। 'रसखान' इनका उपनाम है। 'प्रेम-वाटिका' के एक दोहे से प्रतीत होता है कि या तो वे शाही खान्दान के थे अथवा शाही वंश के निकटवर्ती सम्बन्धी थे।

देखि गदर हित साहिबी, दिल्ली नगर मसान।
छिनहिं बादसा वंस की, ठसक छाँड़ि रसखान॥

घर बार छोड़कर ये गोकुल चले आये। शिवसिंह सेंगर ने इनका जन्म स्थान पिहानी बताया है। गोकुल में आकर ये गोसाईं विट्ठलनाथ के शिष्य हो गये और अन्त तक कृष्ण-भक्ति में लीन रहे। इनको वैराग्य कैसे हुआ, ठीक ठीक कहना कठिन है। तुलसी दास की भाँति इनके वैराग्य को भी कल्पित कथाओं से जोड़ा जाता है। 'प्रेम-वाटिका' का उनका एक दोहा भी विचारणीय है।

तोरि मानिनी तें हियो फोरि मोहिनी मान।
प्रेमदेव की छविहिं लखि, भये मियाँ रसखान॥

इससे ऐसा लगता है कि सांसारिक प्रेम की असारता की घोर अनुभूति से इनका चित्त विरक्त हो गया और वे शाश्वत सौन्दर्य की मूर्ति श्रीकृष्ण की ओर आकृष्ट हुए। जो कुछ भी रसखान सच्चे कृष्ण-भक्त हैं। उनके नेत्रों में दर्शन की प्यास और हृदय में प्रेम की उमंग है। उनकी सरल तथा स्वाभाविक अभिव्यंजना में निश्छल हृदय की नग्न झलक है। उनकी प्रेम-भक्ति ही कविता है।

रसखान की कृतियाँ

'रसखान' का नाम सार्थक है। वे वास्तव में रस की खान थे। वह रस प्रेम-भक्ति का रस था जिसने कविता में उतर कर रसिकों के हृदय को उद्वेलित किया। कविता करना उनका लक्ष्य नहीं था किन्तु हृदय के भीतर उमड़ते हुए कृष्ण के सौन्दर्य तथा प्रेम को वे रोक न सके। उनकी दो रचनायें ही मिलती हैं। 'प्रेम-वाटिका' केवल ५२ दोहों की छोटी पुस्तिका है। इसमें प्रेम

की विशद व्याख्या की गई है। इसका नाम भी ठीक ही है। प्रेम के सम्बन्ध में रसखान की मान्यताएँ सचमुच ही अनूठी और हृदय को स्पर्श करने वाली हैं।

'सुजान–रसखान' में सरस कवित्त और सवैयों का संग्रह है। इसके छन्द भक्तों, गायकों तथा रसिकों की जबान पर समान रूप से रहते हैं। इस ग्रन्थ के भिन्न-भिन्न संस्करण मिलते हैं जिनमें छन्द संख्या एक समान नहीं है। इनमें मुख्य हैं—गोस्वामी किशोरी लाल का संग्रह, प्रभुदत्त ब्रह्मचारी का संग्रह, अमीर सिंह का संग्रह और किङ्कर जी का संग्रह। रसखान की रचनाओं में सहज सौन्दर्य है।

रसखान की भक्ति

रसखान कृष्ण-भक्तों की परम्परा में आते हैं जिसमें सूर तथा नन्ददास प्रभृति भक्त हुए। वे जाति के मुसल्मान थे किन्तु उनका हृदय भक्ति के उस धरातल पर पहुँचा हुआ था जहाँ साम्प्रदायिकता की संकीर्णता को कोई स्थान नहीं मिलता। हिन्दू भक्त आज भी बड़ी श्रद्धा से उनकी रचनाओं को गाते हैं। शत्रु-अंग्रेजों की दुष्ट नीति से हमारे रक्त के बन्धु आज गैर हैं।

रसखान वास्तव में रसखान थे। उनकी भक्ति का आधार बौद्धिक चिन्तन नहीं बल्कि प्रेम है। यह प्रेम सूफियों से भिन्न है सूफियों के प्रेम में निराकार के लिए निराकार की विरह-व्याकुलता है किन्तु रसखान का हृदय साकार-कृष्ण के रूप-रस का साक्षात् रसास्वादन करता है। सूफियों का प्रेम अलौकिक है और रसखान का लौकिक। रसखान के प्रेम में कोई रहस्य जैसी अनुभूति नहीं। इनके प्रेम का रूप सीधा-सादा है।

इनके कृष्ण सूर के समान शंकर तथा ब्रह्मा से तो श्रेष्ठ हैं किन्तु विष्णु से नहीं, क्योंकि वे विष्णु ही के अवतार हैं। घोर आश्चर्य तो यह है कि अवतारवाद की उनकी स्वीकृति में इस्लामी विश्वासों की गन्ध तक नहीं।

ब्रह्म मैं ढूँढ्यो पुरानन गायन वेदरिचा सुनि चौगुन चायन।
देख्यो दुर्यो वह कुंज कुटीर में बैठे पलोटत राधिका पायन॥

वे पुनर्जन्म पर विश्वास करते हैं। तुलसी बार-बार जन्म लेकर राम-चरणों की दासता का आनन्द लेना चाहते हैं। रसखान तो पशु-पक्षी तथा वृक्ष ही नहीं पत्थर तक बनने के लिए तैयार हैं, इच्छा केवल यही है कि कृष्ण के निकट ही रहें, जहाँ से उनके रूप-रस का पान कर सकें।

जौ पसु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नन्द की धेनु मझारन।
पाहन हौं तो वही गिरि को जो धरयो कर छत्र पुरन्दर कारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं नित कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन॥

प्रिय तो प्रेमी के लिए प्रिय होता ही है, प्रिय से सम्बन्धित वस्तुएँ भी प्रेमी के लिए उतनी ही प्यारी लगती हैं। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है।

'रसखानि' कबौं इन आँखिन सों ब्रज के बनबाग तड़ाग निहारौं।
कोटिन हूँ कलधौत के धाम करील की कुंजनि ऊपर वारौं॥

रसखान का विचार उदार था। वे अन्य देवी-देवताओं का भी आदर करते थे। यहाँ कृष्ण तथा शंकर का एक समानान्तर चित्र है।

मुरली मधुरी धुनि ओठन पै, उत डामर नाद से बाजत री।
'रसखानि' पितम्बर एक कँधा पर, एक बघम्बर छाजत री।

रसखान ने अन्यत्र शंकर का एक भक्ति से पूर्ण चित्र खींचा है।

चहुँ ओर जटा अँटकी लटकैं सुभ सीस फनी फहरावत हैं।
'रसखानि' जेई चितवैं चित दै तिनके दुख दुन्द भगावत हैं॥

गंगा के प्रति भी उनकी श्रद्धा आश्चर्यजनक है।

एरी सुधामयी भागीरथी सब पथ्य कुपथ्य बने तुहि पोसें।
आक धतूरा चबात फिरैं विष खात फिरैं शिव तेरे भरोसे॥

भगवान् भक्तों के वश में रहने वाले हैं। गूढ़ दार्शनिक चिन्तनों से दूर यहाँ कितनी सरल अभिव्यंजना है।

सेस गनेस महेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं॥

रसखान की भक्ति में दास्य भावना है। नवधा भक्तियों में 'आत्मसमर्पण' ही उन्हें प्रिय था। उनकी दास्य-भावना में प्रेमलक्षणा भक्ति है। रसखान की भक्ति की सबसे बड़ी विशेषता उसकी सहजता है। वह ऐसी है जो सबके लिए ग्राह्य है। उसमें तन्मयता तथा सरलता है। उस भक्ति का स्वरूप पवित्र तथा स्वभाव निश्छल है। उसमें समुद्र की दुरूह गहराई नहीं, गंग-धारा की पावनता है। उसमें भावों की गम्भीरता नहीं हृदय की कोमलता है और है हृदय का समर्पण।

रसखान की काव्य-कला

रसखान बाह्य एवं आभ्यन्तरिक प्रकृति के कुशल चित्रकार थे। उनकी कविता में अन्तः सौन्दर्य एवं मानव जीवन की विशिष्ट प्रवृत्तियों की अनुभूति

का सुन्दर समन्वित चित्रण है। वाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा अन्तः सौन्दर्य की ओर उनका अधिक झुकाव है। वे एक प्रेमी, भक्त व कवि के रूप में साहित्य क्षेत्र में अवतरित हुए थे। ये तीनों पक्ष आपस में इस प्रकार मिले हैं कि इन्हें एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। उनके प्रेमी हृदय ने ही कृष्ण-भक्ति के रस में लीन होकर उन्हें भक्त बनाया और उनकी सरस भक्ति ने उन्हें कवि-रूप प्रदान किया।

रस-योजना :—

रसखान रस के अक्षय स्रोत हैं। प्रेम-भक्ति का रस ही उनके काव्य का मूल रस है। उनके भक्ति-रस में प्रेम-मिश्रित-श्रद्धा स्थायी भाव, कृष्ण आलम्बन, गोपिकाएँ तथा रसखान स्वयं आश्रय, वन-बाग-तड़ाग-निकुञ्जादि उद्दीपन हैं। प्रेम-वाटिका में रसखान ने भक्ति के भीतर के प्रेम की विशद व्याख्या की है।

(१) इक अंगी बिनु कारनहिं, इक रस सदा समान।
गनैं प्रियहिं सर्वस्व जो, सोई प्रेम प्रवान॥
(२) स्वारथ-मूल अशुद्ध त्यों, शुद्ध स्वभावऽनुकूल।
नारदादि प्रस्तार करि, कियो जाहि को तूल॥

रसखान की भक्ति से प्रेम-रस की ऐसी धारा बही जिसने भक्तों तथा काव्य-मर्मज्ञों को एक समान बहा दिया। उस रस की अनुभूतियों में स्वर्गीय आनन्द प्राप्त होता है। यहाँ पुरानी यादों की कसक विचित्र रस की सृष्टि कर रही है।

'ग्वालन के संग जैबो, ऐबो और चरैबो गाय,
हेरि तान गैबो सोचि नैन फरकत हैं।
ह्याँ की गज-मोती-माल वारों गुंज मालन पै,
कुंज सुधि आए हाय प्रान धरकत हैं॥'

राधा-कृष्ण के प्रेम और सौन्दर्य चित्रणों में बिहारी की ऐन्द्रियता नहीं सूर के प्रेम की पवित्रता है। लौकिक श्रृङ्गार की संकीर्णता से इन का काव्य बहुत ऊपर है। उनकी रचनाओं में वियोग की अपेक्षा संयोग-पक्ष की प्रधानता है किन्तु वहाँ भी प्रेम की एक तीखी चोट है।

बंसी बजावत आनि कढ़ो सो गली में अली कछु टोया सो डारे।
हेरि चितै तिरछी करि दीठि, चलो गयो मोहन मूठि सी मारे॥

अब तो राधिका की दशा कुछ और ही हो गई। यहाँ संयोग-रस है कि वियोग-रस ! इसके मर्म को तो रसखान का हृदय ही जानता है।

ताही घरी सो परी धनि सेज पै प्यारी न बोलति प्रानहु वारे।
राधिका जीहै तो जीहैं सबै, न तो पीहैं हलाहल नन्द के द्वारे॥

अन्तिम पंक्ति को कवित्व का चमत्कार कहें, कि प्रेम रस की पराकाष्ठा ? नीचे गोपिकाओं की कामना का एक चित्र है जिसमें संयोग और वियोग दोनों से परे एक तीसरी स्थिति की एक विचित्र अनुभूति है।

उनही संग डोलन में रसखानि सबै सुख-सिन्धु अघानी रहैं।
उनही बिन ज्यों जल हीन ह्वै मीन सी आँखि मेरी अँसुवानी रहैं॥

संयोगानुभूति ही रसखान को प्रिय है। संयोगानन्द में नवीनता तथा तीव्रता लाने के लिए अथवा स्वाद बदलने के लिए वे कृष्ण के निकट ही रह कर वियोग का अनुभव कर लेने के लिए तैयार हैं। वास्तव में रसखान का हृदय इतना कोमल है कि वह वियोग की दारुण पीड़ा नहीं सह सकता। इसी कोमलता ने उनके हृदय को नश्वर सौन्दर्य से विमुख करके शाश्वत सौन्दर्य का सहारा दिया था। उसे वे कैसे छोड़ते ? उनके प्रेम का यही मर्म है।

अलङ्कार-योजना :—

रसखान ने अलङ्कारों को लाने के लिए कोई बरबस प्रयास या प्रयोग नहीं किया है। अलङ्कार तो स्वतः उनके काव्य की शोभा बनकर आ गये हैं। वे रसोद्रेक में सहायक हैं। अनुप्रास उनका सर्वप्रिय अलङ्कार है।

(१) ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं।
(२) कोटिक हौं कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं।
(३) झुक झूम झमाकम चूम अभी चहि चाँदनी चंद चुराय रही।

अन्य अलङ्कारों के स्वाभाविक प्रयोग उनकी रचनाओं में देखने योग्य हैं :—

(१) या मुरली मुरली धर की अधरा न धरी अधरा न धरौंगी।
(२) त्यों रसखानि वही रसखानि जु है रसखानि सो है रसखानी।

—(यमक)

(३) मन लीनो प्यारे चितैं, पै छँटाक नहीं देत।
(४) हाँसी में हार रह्यो रसखान जू जो कहुँ नेक तगा टुटि जैहैं।

—(श्लेष)

(५) प्रेम वारुनी छानि कै वरुन भये जलधीस।
प्रेमहिं ते विषपान करि पूजे जात गिरीस॥ —(रूपक)

(६) यों जग जोति उठी तन की उसकाइ दई मनौ वाती दिया की।
—(उत्प्रेक्षा)

(७) बजी है बजी रसखानि बजी सुनि कै अब गोप कुमारि न जी है।
न जी है कदाचित कामिनी कोऊ जु कान परी वह तान कुँपी है॥
कुँपी है बचाव को कौन उपाव तिमान पै मैन ने सैया सजी है।
सजी है तो मेरा कहा बस है जब वैरिन बाँसुरी फेरि बजी है।
—(सिंहावलोकन)

भाषा-शैली :—

रसखान की काव्य-भाषा ब्रजभाषा है। उनकी भाषा चलती हुई, सरस तथा सरल है। उसमें ब्रजभाषा की प्रकृत माधुरी है। उसकी दूसरी विशेषता है प्रवाहमयता। वाह्य-सौन्दर्य के चित्रण के कारण उसमें गतिशील प्रवाह है। सवैया छन्द के कारण उसमें धारा की गति आ जाती है जिसके साथ रस की अविरल धारा बहने लगती है। उसमें न तो भयानक विवर्तयुक्त गहराई है न क्लिष्टता के जन्तु हैं। अतः तैरने वाले तथा न तैर सकने वाले दोनों निर्भीकता से बहते चले जाते हैं।

तीसरी विशेषता यह है कि इनकी काव्य-भाषा में संयुक्ताक्षरों का व्यवहार नहीं के बराबर है। इससे भाषा में कोमलता बनी हुई है। सरलता अथवा स्पष्टता उसकी चौथी विशेषता है। उनकी रचनाओं में कुछ अवधी के भी शब्द आ गये हैं :—

(१) झाँकन देत नहीं है दुवारो।

(२) क्यों अब भेंटिये प्रान पियारो।

इनके अतिरिक्त अजूबो, ताख, नेजा, तीर तथा महबूब आदि अरबी-फारसी के शब्द भी रसखान की रचनाओं में मिलते हैं। जन-साधारण में प्रचलित मुहावरों और कहावतों के प्रयोग भी रसखान ने किए हैं।

(१) कहाँ लौं सयानी चन्दा हाथ न छिपाइबो।

(२) अब नाचिये सोई जो नाच नचावै।

(३) पाले परी मैं अकेली लली।

छन्द-योजना :—

कृष्ण-भक्तों के साहित्य में गेय पदों का प्राधान्य है। रसखान ने अपनी रचनाओं में कवित्त और सवैयों को प्रधानता दी। इन छन्दों का प्रयोग विशेषतया चारणों और भाँटों के बीच हुआ था। मत्तगयन्द सवैया तथा मनहरण कवित्त, रसखान के प्रिय छन्द हैं। उनके द्वारा इन छन्दों को बड़ी शक्ति मिली। उन्होंने प्रेम-वाटिका की रचना प्रचलित दोहा-छन्द में की है।

इनके छन्दों में भाषा के प्रवाह के साथ रस की धारा बहती है। उनमें ताल और स्वर की मधुर गति है। रसखान के छन्दों में उनके हृदय का सौन्दर्य छलकता रहता है। उनमें एक मधुर गेयता है जिन्हें गायक बड़ी तन्मयता से गाते हैं। रसखान के छन्दों पर उनके कोमल व्यक्तित्व की अनोखी छाप है। उनके छन्द भी रस की खान हैं।

उपसंहार :—

वे भारतीय मुसलमान पूज्य हैं जिन्होंने भारत में जन्म लेकर भारतीय आत्मा को पहचाना। कृत्रिम साम्प्रदायिकता को उतार फेंका। वे अपने वास्तविक स्वरूप में आ गये। हिन्दी-साहित्याकाश के चमकते हुए उन सितारों की झिलमिल ज्योति में हम आज के भारतीय-अंग्रेजों का काला मुँह देख सकते हैं जो भारत-माता के कोमल-शरीर में घातक-व्रण की भाँति पीड़ा पहुँचा रहे हैं। वैसे सन्तों की दिव्य-साधना पर भारत को सदा ही गर्व करना पड़ेगा तथा वर्तमान शासन-तंत्र का स्मरण करके दूसरी ओर सिर भी नीचा करना पड़ेगा।

इन महान सन्तों ने भारतीय संस्कृति को जो अमृत-तत्त्व दिया उस पर एक ओर तो भारत का भविष्य आशा के प्रकाश से भर उठेगा किन्तु दूसरी ओर पाकिस्तान तथा अपने भीतर वीभत्स-ब्रिटेनों के निर्माण करने वाले वर्तमान-तंत्र को याद करके अंधकारपूर्ण घृणा से काँप उठेगा। भविष्य की कुण्ठा बड़ी ही भयानक होगी जिसका निराकरण सच्चे साधक भी कर पायेंगे या नहीं?

रहीम का जीवन-परिचय

इनका जन्म सं० १६१० में हुआ। ये अकबर के अभिभावक मुगल सरदार बैरमखाँ खानखाना के पुत्र थे। ये संस्कृत, फारसी तथा तुर्की के प्रसिद्ध विद्वान् तथा हिन्दी के प्रसिद्ध कवि थे। दान और परोपकार के कारण वे उस युग के कर्ण कहे जाते थे। इनकी सभा में विद्वानों और कवियों का सम्मान होता था। अकबर के समय में वे प्रधान सेना-नायक तथा मंत्री भी रहे।

जहाँगीर के समय में युद्ध में धोखा देने के अपराध में वे कैद कर लिये गये थे और उनकी जागीर जब्त कर ली गई थी। जेल से छूटने पर धनाभाव के कारण जब वे दान नहीं कर पाते थे तो बहुत दुखी होते थे। जीवन के ये सारे अनुभव उनकी रचनाओं में सजीव होकर उतरे। इनकी मृत्यु सं० १६८३ में हुई।

रहीम की कृतियाँ

शुक्ल जी ने लिखा है—"अब तक इनके निम्नलिखित ग्रन्थ ही सुने जाते थे—रहीम दोहावली या सतसई, बरवै नायिका-भेद, शृङ्गार-सोरठ, मदनाष्टक, रासपंचाध्यायी। पर भरतपुर के श्रीयुत पंडित मायाशंकर जी याज्ञिक ने इनकी और भी रचनाओं का पता लगाया है—जैसे नगर-शोभा, फुटकल बरवै, फुटकल कवित्त-सवैये—और रहीम का एक पूरा संग्रह 'रहीम-रत्नावली' के नाम से निकाला है।"

आगे शुक्ल जी लिखते हैं—"वे कई भाषाओं और विद्याओं में पारंगत थे। इन्होंने फारसी का एक दीवान भी बनाया था और 'वाक आत बाबरी' का तुर्की से फारसी में अनुवाद किया था। कुछ मिश्रित रचना भी इन्होंने की है—'रहिम-काव्य' हिन्दी संस्कृत की खिचड़ी है। और 'खेट-कौतुकम्' नामक ज्योतिष का ग्रन्थ संस्कृत और फारसी की खिचड़ी है।"

रहीम की रचनाओं में सच्चे अनुभव, हृदय की सच्ची अनुभूतियों तथा कवित्व की त्रिवेणी है। रहीम हिन्दी के कवि-रत्न हैं। वे जन-मानस के कमल तथा कविता के शृङ्गार हैं। वे काव्य-जगत् के लाड़ले तथा कवि-लोक के सहारा हैं। उनकी कला के भाव-कुसुम अनुभवों की चट्टान को तोड़कर फूटे हैं,

उनमें कल्पनाओं का पराग तथा अनुभूतियों का रस है। आज भी हिन्दी का जन-कानन, उस रस से सिक्त तथा उस बास से सुवासित हो रहा है।

'इन मुसल्मान हरि जनन पै कोटिन हिन्दू वारिये।' वे ऐसे पूज्य मुसल्मान हैं जिन्होंने स्वयं कविता की और अपना सारा धन हिन्दी-साहित्य की सेवा में लुटा दिया। आज रोटी के टुकड़ों के लिए स्वार्थी-आर्य भारतीयता का गला घोंट रहे हैं।

रहीम की काव्य-कला

जीवन की अभिव्यक्ति :—

जीवन की यथार्थता का जैसा सच्चा और सारगर्भित चित्र, रहीम की रचनाओं में मिलता है, अन्यत्र दुर्लभ है। जीवन के प्रत्यक्ष अनुभवों की ऐसी सरस-अभिव्यंजना, साहित्य में कम मिलती है। प्रेम की सरस अभिव्यक्ति के कारण जिस प्रकार रसखान के छन्दों को लोग जबान पर रखते हैं उसी प्रकार रहीमके अनुभवों की सरस अभिव्यक्ति में लोग अपने जीवन का चित्र देखते हैं। पग पग पर लोग रहीम के दोहों का उद्धरण देते हैं। रहीम का एक-एक कथन, जीवन के गम्भीर समुद्र से निकाले गये मोती के समान है। रहीम हिन्दी-देवी के प्रिय लाड़ले हैं।

कवि का हृदय सर्वसाधारण के हृदय से भिन्न होता है। उसमें विशेष संवेदनशीलता होती है। कवि के हृदय पर प्रकृति तथा समाज के भिन्न ही प्रभाव पड़ते हैं। दूसरी बात यह कि उन प्रभावों तथा अनुभूतियों को व्यक्त करने की शक्ति भी कवि में भिन्न ही होती है। रहीम की कला हमारे मर्म को क्यों स्पर्श करती है? वास्तव में रहीम प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। दूसरी ओर उनके व्यक्तिगत जीवन का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक रहा। जीवन के उतार-चढ़ाव का ऐसा निजी अनुभव हिन्दी के किसी कलाकार को नहीं प्राप्त हुआ।

रहीम कवि अकबर के दरबार के उच्च-पदासीन व्यक्ति थे जहाँ उन्हें स्वर्गीय सुख प्राप्त था। पद-च्युत होकर उन्हें कारागार का भी अनुभव प्राप्त करना पड़ा। इससे बढ़कर जीवन का उतार-चढ़ाव क्या हो सकता है? यही कारण है कि अनुभव से निःसृत उनके नीति-उपदेश-परक छन्दों में भी उनके हृदय का रस है। यही रस जनता को आकर्षित करता है। उनकी रचनाओं में व्यापक-जीवन के अनुभव रत्न भरे पड़े हैं।

रहीम की उक्तियों में कवित्व का चमत्कार भी आकर्षण का एक कारण है। वह रीतिकालीन चमत्कार को मात करने वाला है। उनके कवित्व के

चमत्कार का सबसे बड़ा चमत्कार उसकी सरलता और स्पष्टता है। रहीम के उपदेश कोरे उपदेश नहीं हैं। अपनी कलात्मकता के कारण सबके हृदय में चुभ जाने वाले हैं। हमारे दैनिक जीवन के साधारण अनुभव भी उनकी कला के स्पर्श से मार्मिक हो गये हैं।

(१) रहिमन अँसुआ नयन ढरि, जिय दुख प्रगट करेइ।
जाहि निकारो गेह ते कस न भेद कहि देइ॥
(२) रहिमन मोहिं न सुहाय, अमी पियावन मान बिनु।
जौ विष देइ बुलाय, मान सहित मरिबो भलो॥
(३) खीरा को मुँह काटिकै, मलियत लोन लगाय।
रहिमन करुए मुखन कों, चहिए यही सजाय॥

यहाँ न तो कल्पना की उड़ान है, न शब्दालङ्कारों की छटा है और न ज्ञान अथवा दर्शन का कोई गूढ़ सिद्धान्त है। जीवन के सत्यों को सुलझे हुए रूप में ऐसी सरलता से व्यक्त किया गया है कि सबके हृदय पर प्रभाव डालने में समर्थ है। यही कारण है कि तुलसी और कबीर की भाँति रहीम के दोहे भी अत्यन्त लोक-प्रिय हैं। यहाँ सरलता तथा स्पष्टता ही अलङ्कार हैं।

रहीम जो कहते हैं साफ कहते हैं किन्तु उनके कहने की शैली ऐसी अनुपम होती है कि चित्त मचल जाता है। उनकी मानवीय उदारता जान डाल देती है। रहीम किसी सम्प्रदाय के नहीं बल्कि सम्पूर्ण मानव जाति के नर-रत्न हैं। वे विभिन्न भाषाओं के पण्डित काव्य-शास्त्र के महान ज्ञाता तथा विश्व-प्रकृति और मानव-प्रकृति के अनुभवी चेता थे। इसीलिए सरल से सरल अभिव्यंजना के द्वारा हृदय को पकड़ लेने की शक्ति उनमें थी।

(१) कमला थिर न रहीम कहि, यह जानत सब कोय।
पुरुष पुरातन की वधू क्यों न चंचला होय॥

यहाँ व्यंग्य तो लक्ष्मी पर है किन्तु उलट कर धनोन्मादियों पर प्रहार हो जाता है।

(२) बड़े पेट के भरन में है रहीम दुख बाढ़ि।
यातें हाथी हहरि कै, दये दाँत दुइ काढ़ि॥

असन्तोषियों की मर्यादाहीनता का कैसा स्वाभाविक चित्र है।

विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी को हम हिन्दी की हीरक-शताब्दी कह सकते हैं। इस शताब्दी के राम-कृष्ण-भक्तों ने अपने अमूल्य रत्नों से हिन्दी-साहित्य

का कोश भर दिया। यह काल हिन्दी कविता का संक्रमण-काल भी है। केशव जैसे विशुद्ध कवि एक ओर थे जो आने वाले रीतिकाल की आधारशिला भी इसी काल में रख रहे थे जिनका सम्बन्ध भक्ति की बहती हुई धारा से नहीं था। वे दरबारी कवि थे।

हमारे जनप्रिय रहीम भी दरबारी कवि थे और विशुद्ध कवि थे जिनके हृदय से किसी सम्प्रदाय का सम्बन्ध नहीं था किन्तु उनका उद्देश्य शासक को प्रसन्न करके धन कमाना नहीं था बल्कि वे स्वयं कवियों को दान देते थे। वे उस युग के कर्ण थे। उनका उद्देश्य केशव की भाँति चमत्कारप्रदर्शन भी नहीं था। इस प्रकार वे न तो भक्ति-परम्परा में बँधे थे न चमत्कार वाली रीति-परम्परा में। उनकी परम्परा अपनी जन-जीवन परम्परा है। वे विष्णु, लक्ष्मी तथा गंगा आदि देव तथा देवियों के साम्प्रदायिक भक्त तो नहीं किन्तु उनके हृदय में सहस्रों हिन्दू भक्तों की अपेक्षा, अधिक श्रद्धा है। उनकी संस्कृत तथा हिन्दी रचनाओं को देखकर आश्चर्य होता है।

रत्नाकरोऽस्ति सदनं गृहिणीच पद्मा
किं देयमस्ति भवते जगदीश्वराय।
राधा-गृहीत-मनसे मनसे चतुर्भ्यं
दत्तं मया निज मनस्तदिदं गृहाण॥

"अर्थात् जब समुद्र आपका गृह है और लक्ष्मी आपकी गृहिणी हैं तब हे जगदीश्वर! आपको देने योग्य क्या बच गया? राधिका जी ने आपका मन चुरा लिया है। अतः मैं अपना मन ही आपको अर्पण करता हूँ।"

प्रश्न तो यह है कि यहाँ भक्ति उमड़ रही है, कि भाषा की शक्ति, अथवा कल्पना-शक्ति अथवा कवित्व का चमत्कार? जब कृष्ण का मन ही चोरी चला गया है तो रहीम उन्हें मन के सिवा क्या दें?

अच्युत चरन तरंगिनी सिव सिर मालति माल।
हरि न बनायो सुरसरी, की जो इंदव भाल॥

गंगा विष्णु के चरणों से निकलीं किन्तु उनको महानता और शोभा तो शंकर के मस्तक पर मिली। 'उपजहिं अनत अनत छवि लहहीं।'

यह सत्य ही है—

'इन मुसलमान हरिजनन पै कोटिन हिन्दू वारिये।'

रहीम की रचनाओं में हमारे जीवन के एक-एक पग की पकड़ है। उनकी सूक्तियों के भीतर से झाँकते हुए अनुभव एक ओर चेतना प्रदान

करते हैं तथा दूसरी ओर पग-पग पर दीपक की भाँति प्रकाश दिखाते हैं। रहीम लोकप्रिय कविरत्न हैं तथा हमारी हिन्दी के गौरव व संस्कृति की शोभा हैं। उनके साहित्य में समाजिक क्रान्ति की लहर तो नहीं है किन्तु उनकी रचनाएँ हमको आनन्द पूर्वक जीने की कला सिखाने वाली हैं। वह भारतीय जन-देवी के सिर का मुकुट नहीं तो गले का हार अवश्य है।

रस-योजना :—

रहीम का हृदय विशाल समुद्र के समान कवि-हृदय था। सुख-दुख के संघर्षों से उसमें ऐसा उफान उठा कि धाराओं में होकर रचनाओं में वह निकला। रहीम के छन्द अनुभवों की चोटियों से फूटे हुए निर्झर हैं जिनमें अनुभूतियों की रसधारा है और वे बहते हैं जीवन के धरातल पर ही। ऊपर के उद्धरणों में भी वही स्रोत है। यहाँ हम कुछ उद्धरण पुनः प्रस्तुत कर रहे हैं।

(१) भोरहि बोली कोइलिया बढ़वति ताप।
घरी एक भरि अलिया रहु चुपचाप॥

अनुभूति की कितनी कोमल व्यंजना है!

(२) पीतम एक सुमरिनियाँ मोहिं देइ जाहु।
जेहि जपि तोर बिरहवा करब निवाहु॥

(३) जबसे बिछुरे मितवा कहु कस चैन।
रहत भरयो हिय सॉसन आँसुन नैन॥

विरह की वृद्धि तथा आशा की क्षीणता का कैसा करुण चित्र है!

(४) बिरह रूप घन तम भयो अवधि आस उद्योत।
ज्यों रहीम भादों निसा चमकी जात खद्योत॥

भक्ति-रस के भी स्वाभाविक प्रवाह रहीम की रचनाओं में मिलते हैं।

(५) कमल दल नैननि की उनमानि।
बिसरति नाहिं सखी मो मन ते मन्द मन्द मुसुकानि॥
यह दसनन दुति चपला हू ते महा चपल चमकानि।
बसुधा की बस करी मधुरता सुधा पगी बतरानि॥
अनुदिन श्रीवृन्दावन ब्रजते आवन आवन जानि।
वह रहीम चित ते न टरति है सकल स्याम की बानि॥

अलङ्कार-योजना :—

सामान्य बात-चीत में साधारण लोग भी अपनी उक्ति को प्रभावयुक्त बनाने के लिए अनजाने ही अलङ्कारों का प्रयोग कर जाते हैं। रहीम की रचनाओं में ऐसी ही अलंकार-योजना है जिससे वे इतने लोक प्रिय हैं।

(१) रहिमन पानी राखिए, बिन पानी सब सून।
पानी गये न ऊबरै मोती मानुष चून॥—यमक।

नीचे उत्प्रेक्षा और सन्देह का संयुक्त चमत्कार देखने योग्य है।

(२) रहिमन पुतरी स्याम, मनहुँ जलज मधुकर बसे।
कीधौं सालिग्राम, रूपे के अरघा भरे॥

यहाँ एक छन्द में सीता का एक करुण चित्र है जो मर्म को स्पर्श करने वाला है। जिन सीता के राम ने धनुष तोड़ा और वनवास के समय भी उनको साथ रखा, वन से लौटने पर जब सुख का अवसर आया तो सीता के प्रियतम ने उन्हें निर्वासित कर दिया। विधि की ऐसी (नसिया) विनाशलीला है। रहीम के इस छन्द में वेदना की तीव्र धारा बह रही है। शब्दालङ्कारों की लहरियाँ कितनी नैसर्गिक हैं। क्या भारतीयता के शत्रु इन पंक्तियों पर ध्यान दे सकते हैं ?—

कहे बीच 'रहीम' रह्यो न कछू जिन कीनो हुतो उन हार हिया।
विधि यों नसिया, रस बार सिया, कर बार सिया पिय सो रसिया॥

भाषा:—

तुलसी की भाँति रहीम का भी अवधी तथा ब्रज भाषाओं पर समान अधिकार है। बरवै-नायिकाभेद तथा बरवै नामक ग्रन्थों की भाषा अवधी है तथा शेष की भाषा प्रायः ब्रज है। इनकी भाषा में कहीं भी सजावट की कृत्रिमता नहीं। इनकी भाषा सर्वथा लोक-भाषा है।

रहीम ने संस्कृत तथा फारसी में भी कविता की है। रहीम-काव्य नामक ग्रन्थ हिन्दी तथा संस्कृत में लिखा गया है। खेट-कौतुकम् की रचना संस्कृत फारसी में हुई है। रहीम तुर्की भाषा के भी अच्छे ज्ञाता थे। उन्होंने तुर्की के वाकयात-बाबरी नामक ग्रन्थ का फारसी में अनुवाद किया। ऊपर रस तथा अलङ्कारों के सन्दर्भ में संस्कृत, ब्रज तथा अवधी भाषाओं के उद्धरण दिये जा चुके हैं जिनमें भाषा के मधुर रूप स्पष्ट हैं।

छन्द :—

कविता कह्यो, दोहा कह्यो, तुलै न छप्पय छन्द।
विरच्यो यहै विचारी कै, यह बरवै रसकन्द॥

सच पूछा जाय तो जो सफलता सूर को पद, तुलसी को चौपाई तथा बिहारी को दोहा में मिली, वही रहीम को बरबे छन्द में प्राप्त हुई। रहीम बरवै-छन्द के जन्मदाता कहे जाते हैं। कहा जाता है कि रहीम को एक स्त्री की प्रेम-पत्रिका मिली थी जिसका मुख्य वाक्य था:—

'प्रिति को बिरवा चलेहु लगाय।'

इसी बिरवा शब्द से बरवै-छन्द नाम पड़ा जो उपर्युक्त छन्द की गति में लिखा जाने लगा। रहीम को इस छन्द में ममता है। दोहा-छन्द के सम्बन्ध में रहीम का मत है :—

दीरघ दोहा अरथ के आखर थोरे आहिं।
ज्यों रहीम नट कुंडली सिमिटि कूदि चढ़ि जाहिं॥

इस प्रकार रहीम ने बरवै, दोहा, सवैया, कवित्त, सोरठा, छप्पय तथा पद आदि विविध छन्दों में रचना की। भाषा पर रहीम का पूर्ण प्रभुत्व है। अतः उनके छन्द स्वाभाविक तथा सशक्त हैं। उनके छन्द सामान्य जनता के गले के हार हैं जिन पर पण्डित-जन मुग्ध रहते हैं। उनसे हिन्दी भाषा तथा समाज का बड़ा उपकार हुआ है।

रीतिकाल अथवा शृङ्गार-काल

भूमिका :—

सहस्रों वर्षों से यह हम देखते चले आ रहे हैं कि साहित्य और समाज के सम्बन्धों की भूमिका में कभी साहित्य ने समाज में क्रान्ति का प्रयत्न किया है कभी समाज ने साहित्य से मनोरंजन किया है। यह भी सत्य है कि ये दोनों ही परिस्थितियाँ मुख्य और गौण बनकर बराबर एक साथ ही चलती रही हैं। हम भूतकाल के विशेष विस्तार में न जाकर विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी को ही सामने रखते हैं। उस शताब्दी में एक ओर राम-भक्ति धारा तथा कृष्ण भक्ति-धारा के प्रवाह चल रहे थे तो दूसरी ओर केशव रीतिकाल की आधार शिला रख रहे थे।

मुगल साम्राज्य की प्रबल स्थापना से देश के छोटे-छोटे राज्यों की शक्ति टूट गई थी। वे अब संघर्ष की कल्पना छोड़कर अपनी सीमा में उसी प्रकार

विलास में लीन हो गये जिस प्रकार मुगल-दरबार। देश की चेतना लुप्त हो गई। इन्द्रियता का प्राधान्य हो गया। भक्ति कालीन आध्यात्मिकता का लोप हो गया। सौन्दर्य और श्रृंगार ही दरबारों के लक्ष्य हो गये। सौन्दर्य-पूजा के नाना उपकरणों में कविता भी एक उपकरण बन गई।

देश की आध्यात्मिक चेतना पर भौतिकता का दबाव बढ़ गया। यह भौतिकता भी निम्नकोटि की थी। भौतिक-साधनों का उत्पादन करके उनसे भौतिक-सुख नहीं प्राप्त किया जा रहा था बल्कि दरिद्र जनता के रक्त-शोषण से दरबारों की रौनक बढ़ाई जा रही थी। उधर मुगल-शक्ति का दुर्निवार आतंक समग्र देश पर था। किसी क्रान्ति की कल्पना, साहित्य तथा समाज में धूमिल पड़ गयी थी। हमारे कवियों ने जीविका के लिए दरबारों का आश्रय लिया।

उधर भक्ति-काल के कृष्ण-साहित्य में बहुत तल्लीन होकर सौन्दर्य की पूजा की गई थी। उस सौन्दर्य का आधार अलौकिक था। वही सौन्दर्य-पूजा ज्यों कि त्यों इस काल में भी चली आई, किन्तु यहाँ सौन्दर्य की अलौकिकता अब लौकिकता में बदल गई। वह भाव मन्दिरों से निकल कर दरबारों में आ गया। उसकी पूजा की सामग्रियाँ भी बदल गईं। भक्ति-काल की सखियाँ, राधा और कृष्ण सभी विलासिता के दलदल में फँस गये और एकाग्र चित्त होकर फँसे क्योंकि निर्गुण-सगुण आदि के विवाद का अब कोई रगड़ा-झगड़ा रह नहीं गया। हमारे कलाकार भी अब क्या करते ?—

'बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।'

रीतिकाल में दो प्रकार के ग्रन्थ लिखे गये, लक्ष्य ग्रन्थ तथा लक्षण ग्रन्थ। इन लक्ष्य-ग्रन्थों का प्रधान रस है श्रृङ्गार, जो सीधा कृष्ण-साहित्य से अनवरत रूप में आया। रीतिकालीन श्रृङ्गार का प्रेम न तो आत्मा की प्रतीक गोपिकाओं का प्रेम है न जायसी की नागमती का, जिसमें सारी प्रकृति डूबी हुई है। यहाँ प्रेम का आधार आत्मा अथवा प्राण नहीं सरासर इन्द्रियाँ हैं।

लक्षण ग्रन्थों के लिए इस काल के कवि संस्कृत के लक्षण-ग्रन्थों की ओर दौड़े। इस काल के बहुत से कलाकार कवि भी हैं साथ ही आचार्य भी हैं। इन आचार्यों ने भरतमुनि, दण्डी, भामह, उद्भट, वामन, कुन्तक तथा आनन्दवर्धन के लक्षण ग्रन्थों का अध्ययन किया। केशव ने संस्कृत के अलंकार-वादियों की भाँति अलंकार को ही काव्य कहा। आचार्य चिन्तामणि ने रस के महत्त्व को भी स्वीकार किया। आगे चलकर केशव तथा चिन्तामणि के आदर्शों का व्यापक प्रभाव पड़ा। केशव पर दण्डी और रुय्यक का विशेष प्रभाव

पड़ा। शुक्ल जी का कहना है कि पीछे के कवियों ने केशव के आदेशों को न अपनाकर चिन्तामणि के आदेशों को अपनाया। चिन्तामणि ने अलंकारों का वर्णन चन्द्रालोक तथा कुवलयानन्द के आधार पर किया और रस-सिद्धान्त में ये विश्वनाथ से प्रभावित हुए।

देश की इस निद्रावस्था में छत्रसाल और शिवाजी के दरबारों में जागरण के स्वर भी सुनाई पड़ते हैं। कबीर के साहित्य में समत्व के धरातल से क्रान्ति का जो स्वर फूटा, उसका भीम-गर्जन तुलसी के रामत्व में सुनाई पड़ा। प्रत्यक्ष विस्फोट तो हुआ भूषण के साहित्य में। भूषण की वाणी से अनुप्राणित शिवा जी की तलवार से जो ज्वाला उठी उसने सन्तप्त मानवता को प्रकाश दिया। वही ज्वाला बीच में राणा प्रताप में दिखाई पड़ी थी किन्तु वहाँ उनका प्रेरक कोई कवि नहीं था। लाल कवि ने छत्रसाल के दरबार की शोभा बढ़ाई।

रीतिकाल कला के उत्कर्ष का काल है। इस काल में भाषा को बड़ी शक्ति मिली। अलंकारों की दिव्य-छटा तथा कल्पना की सूक्ष्मता के साथ-साथ रचनाओं की ध्वन्यात्मकता की दृष्टि से उस काल की कला अत्यन्त उत्कृष्ट है। उस काल के कलाकार कला के पुजारी हैं जिन्होंने अपनी सारी शक्ति को कला-देवी के श्रृङ्गार में लगा दिया। श्रृङ्गार की उस सजावट से कविता-कमिनी का शरीर जगमगा उठा। इन कवियों की देन ऐतिहासिक महत्त्व रखती है।

रीति-कालीन कवि तथा सहित्य :—

शुक्ल जी रीतिकाल की परम्परा का प्रारम्भ चिन्तामणि से मानते हैं। इसका कारण यह बतलाते हैं कि केशव भक्ति काल में हुए तथा उनके बाद बहुत दिनों तक यह धारा रुकी रही। चिन्तामणि से ही अनवरत गति से चल सकी। रीतिकाल की जो सीमा शुक्लजी निर्धारित करते हैं, काल की दृष्टि से भले ही केशव उस काल में न आते हों किन्तु इतना तो निश्चित है कि वे भक्त नहीं हैं, विशुद्ध कवि तथा रीतिकार हैं और घोर अलङ्कारवादी अथवा चमत्कारवादी। रीतिवादी तथा अलंकारवादी होने की बार-बार घोषणा भी करते हैं। केशव पर आगे हम कुछ विस्तार से विचार करेंगे।

चिन्तामणि :—

इनका जन्म सं० १६६६ तथा रचना का प्रारम्भ सं० १७०० से है। ये भूषण और मतिराम के भाई थे। काव्य-विवेक, कविकुल-कल्पतरु और काव्यप्रकाश इनके तीन प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। छन्द-विचार नाम का एक पिंगल-ग्रन्थ भी है। संस्कृत के साहित्य-दर्पण तथा काव्यप्रकाश का प्रभाव इनके

ग्रन्थों पर है। इन्होंने रस तथा अलङ्कार, दोनों के महत्त्व को स्वीकार किया है।

महाराज जसवन्तसिंह :—

इनका जन्म सं० १६८३ तथा मृत्यु सं० १७३८ है। सं० १६९६ में मेवाड़ की गद्दी पर बैठे। ये शाहजहाँ के विश्वास-पात्र सहायक थे। इनका अलङ्कार-ग्रन्थ भाषा-भूषण प्रसिद्ध है। दोहे की प्रथम पंक्ति में अलङ्कार का लक्षण तथा दूसरी में उसी अलंकार का उदाहरण देकर उन्होंने इस ग्रन्थ को बड़ा उपयोगी बना दिया है। इस ग्रन्थ पर संस्कृत के चन्द्रालोक का प्रभाव है। तत्त्वज्ञान सम्बन्धी इनके अपरोक्ष-सिद्धान्त, सिद्धान्त-बोध, सिद्धान्त-सार प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

बिहारी :—

इन पर कुछ विस्तार से विचार आगे किया जायगा।

मतिराम :—

(जन्म सं० १६७४) बूँदी के महाराज के आश्रित थे। इनका ललित-ललाम प्रसिद्ध अलङ्कार ग्रन्थ है। इनका रसराज रसों का लक्षण ग्रन्थ है। इनके अतिरिक्त साहित्य-सार तथा मतिराम-सतसई प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। भाषा, रस तथा अलङ्कार की दृष्टि से इनकी रचनाएँ प्रशंसनीय हैं।

भूषण तथा देव :—

इन पर आगे विस्तार से विचार किया जायगा।

कुलपति मिश्र :—

ये प्रसिद्ध कवि बिहारी के भांजा थे। बिहारी के आश्रयदाता जयसिंह के पुत्र रामसिंह के दरबार में रहते थे। रस-रहस्य, गुण-रस-रहस्य, नखशिख इनके प्रसिद्ध लक्षण-ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त मुक्त-तरङ्गिणि तथा संग्रह-सार इनकी रचनाएँ हैं।

भिखारी दास:—

(कविता-काल सं० १७८५ से १८०७ तक) इनके काव्य-निर्णय नामक प्रसिद्ध लक्षण-ग्रन्थ पर संस्कृत के काव्य-प्रकाश का प्रभाव है। इसके अतिरिक्त रस-सारांश, छन्द-प्रकाश, छन्दार्णव-पिंगल, शृङ्गार-निर्णय, पुराण-भाषा तथा अमर-प्रकाश इसके अमूल्य लक्षण-ग्रन्थ हैं।

इनके अतिरिक्त कवि तोषनिधि का सुधानिधि सं० १७९१ में लिखा गया जो रस-भेद तथा भाषा-भेद का प्रसिद्ध लक्षण-ग्रन्थ है। मुसलमान कवि सय्यद गुलाम नबी उर्फ रसलीन ने अङ्गदर्पण की रचना सं० १७९४ में की। कवि दूलह का रचनाकाल सं० १८०७ से १८२५ तक है। इन्होंने कवित्त और सवैयों में कवि-कुल-कण्ठाभरण की रचना की। यह अलङ्कारों का प्रसिद्ध लक्षण-ग्रन्थ है। कवि बेनी अवध के वजीर टिकैतराय के आश्रित थे। हास्य तथा व्यंग्य के प्रसिद्ध कलाकार थे। रस, श्रृङ्गार तथा नायिका-भेद के लिए बेनी प्रवीन का रस-तरंग प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

पद्माकर :—(जन्म सं० १८१० मृत्यु सं० १८९०) का कई दरबारों में सम्मान था। ये पन्ना-महाराज के गुरु थे। रस के लिए इनका जगद्विनोद बड़ा उपयोगी लक्षण-ग्रन्थ है। लक्षणों की सरसता और स्पष्टता, उदाहरणों की उपयुक्तता तथा काव्यत्व के कारण पद्माकर रीतिकाल के श्रेष्ठ कवि हैं। इनके लाक्षणिक शब्दों की मूर्तिमत्ता की प्रशंसा शुक्ल जी ने की है। हिम्मत बहादुर विरुदावली, पद्माभरण, जयसिंह विरुदावली, अलीजाह प्रकाश, हितोपदेश रामरसायन तथा गङ्गालहरी इनके प्रसिद्ध काव्य हैं।

रसिकानन्द, रसरङ्ग, कृष्णजू का नखशिख, रामाष्टक, कृष्णाष्टक आदि ग्वाल कवि के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इनके छन्दों में तत्कालीन वैभव तथा ऋतुओं के मोहक चित्र हैं। सबल सिंह चौहान ने दोहे चौपाइयों में महाभारत की सरल और लोकप्रिय रचना की। वृन्द कवि औरंगजेब के पुत्र मुअज्जम के गुरु थे। यमक सतसई, भाव पञ्चाशिका, श्रृङ्गार शिक्षा, वचनिका तथा सत्य-स्वरूप इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। ये लोक-नीति के अच्छे (कविताकाल कलाकर थे। बैताल (जन्म सं० १७३४) की कुण्डलियाँ प्रसिद्ध हैं। आलम (सं० १७४० से १७६०) ब्राह्मण थे तथा बाद में प्रेमपाश से मुसलमान हो गये थे। इनकी रचनाओं में हृदय की स्वतंत्र-मार्मिक अभिव्यंजना है। गुरु गोविन्दसिंह सिक्खों के दशम तथा अन्तिम गुरु थे। आप अत्यन्त उदार हृदय के व्यक्ति थे। सिक्ख-सम्प्रदाय में निर्गुण-भक्ति का प्राधान्य है किन्तु इन्होंने चण्डी-चरित की ओजपूर्ण रचना की। कृष्णोपासना सम्बन्धी रचनाएँ भी कीं। सुमति-प्रकाश, प्रेमसुमार्ग तथा बुद्धि सागर इनके अन्य ग्रन्थ हैं। दुख की बात है कि हिन्दू तथा हिन्दी के रक्षक, उन्हीं गुरु जी के शिष्य, आज उल्टी दिशा में बह रहे हैं। आर्यजाति के रक्षकों की यह दशा है।

लाल कवि, महाराज छत्रसाल के दरबारी थे। इनके छत्रसाल-प्रकाश का नाम प्रसिद्ध है जिसका ऐतिहासिक महत्त्व है। यह ओजपूर्ण प्रबन्धकाव्य है

जिसकी रचना चौपाइयों-दोहों में की गई है। गिरधर कविराय (जन्म सं० १७७०) लोकप्रिय कवि थे। तथ्य-सम्पन्न नीति और व्यवहार से सम्बन्धित इनकी कुण्डलियाँ बहुत लोकप्रिय हैं। भरतपुर महाराज सूरजमल के आश्रित प्रसिद्ध कवि सूदन का सुजान-चरित्र नामक ग्रन्थ वीररस का श्रेष्ठ ग्रन्थ है। कवि बोधा (जन्म सं० १८०४) के विरह वारीश तथा इश्कनामा दो ग्रन्थ हैं जिनमें प्रेम का स्वच्छन्द उल्लास है। कवि सम्मन के नीति-परक दोहे प्रसिद्ध हैं। दीनदयाल गिरि (जन्म सं० १८५९) का अन्योक्ति-कल्पद्रुम लोकप्रिय प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इनकी अन्योक्तियों में रस तथा अनुभव का अद्भुत मिश्रण है।

सामान्य-विशेषताएँ :—

इस काल में लक्ष्य-ग्रन्थों की अपेक्षा लक्षण-ग्रन्थ अधिक लिखे गये। संस्कृत के लक्षण-ग्रन्थों के मौलिक-चिन्तन की परम्परा का अभाव इन ग्रन्थों में है। इनमें काव्यांगों के मौलिक विवेचन नहीं हैं। इनका मुख्य लक्ष्य कुछ तो परम्परा का पालन है और कुछ चमत्कार-प्रदर्शन है। समग्र रूप से देखा जाय तो उनमें श्रृङ्गार तथा विलासिता के मार्ग को प्रशस्त करने का सामूहिक प्रयास दिखाई देता है। इस साहित्य में स्वतंत्र-चेतना का प्रभाव विवशता का द्योतक है। भूषण तथा लाल कवि ही अपवाद हैं।

रस तथा अलङ्कारों की विवेचना के सन्दर्भ में, श्रृङ्गार तथा प्रकृति के उद्दीपनकारी चित्रों में, भाषा को बड़ी शक्ति मिली और उसमें मधुर प्रवाह आया। इस साहित्य में परिवार तथा मानव-सौन्दर्य के मोहक चित्र हैं। रीतिकालीन-साहित्य, हिन्दी-साहित्य का ताजमहल है जो कला का उत्कृष्टतम उदाहरण है। ताजमहल यद्यपि शोषण तथा दीन-जनता के रक्त और अस्थि-पंजर पर खड़ा है किन्तु मानव के भीतर छिपी हुई सौन्दर्य-कला की चरम-अभिव्यक्ति के कारण वह विश्व का एक चमत्कार है। कला की दृष्टि से रीतिकालीन साहित्य, हिन्दी-साहित्य में एक चमत्कार ही है। कलाकारों ने इसे बड़े मनोयोग से शब्दों के पत्थरों को तराश-तराश कर बड़ी कम मजदूरी में बड़े परिश्रम से सजाया है। उस मकबरे के नीचे हिन्दू-वैभव की लाश दबी पड़ी है।

मनोरंजन के वातावरण में लिखे जाने के कारण इस साहित्य में भौतिक जीवन की कृत्रिमता तथा सजावट है। इसमें भावों तथा सिद्धान्तों की उन्मुक्त गहराई नहीं। इस साहित्य में वात्सल्य-सौन्दर्य के चित्रण तथा नाटक के

लक्षण-ग्रन्थों का अभाव खटकता है। इसी काल में भूषण तथा लाल कवि के समान राष्ट्र-कवि भी हुए जिन्होंने राष्ट्र के घोर अशिव तत्वों पर अग्नि वर्षा की। उनके साहित्य में भाव तथा भाषा का ओज बड़ा ही स्तुत्य है। उनका स्वर हड्डियों को हिला देने वाला है।

आगे चलकर आधुनिक काल में, रीतिकाल का स्थूल शृङ्गार छायावाद के सूक्ष्म मार्ग को पकड़ कर किसी अदृश्य लोक की शरण ढूँढ़ने लगा तथा कल्पना लोक में विलीन भी हो गया किन्तु भूषण तथा लाल के स्वरों ने एक ओर भारत-भारती के मार्ग से आगे बढ़ कर अँग्रेजी-राज्य की नींव हिलाना प्रारम्भ किया तथा दूसरी ओर प्रगतिवाद की धारा से जनता को अग्रसर किया। कबीर की क्रान्ति, तुलसी के रामत्व, भूषण के हुँकार तथा आधुनिक कवियों की राष्ट्रीय चेतना का संयुक्त विस्फोट सन् १९४२ में हुआ तथा उन पावन-साधकों की साधना साकार हुई। अब भ्रष्टाचार तथा सीमा के दानव देश के भीतर तथा बाहर से उन्हीं साधकों को जन्म लेने के लिए चुनौती दे रहे हैं। साहित्य तथा जीवन का ऐसा ही क्रम चलता है।

———

केशव का जीवन-परिचय

इनका जन्म सं० १६१२ में ओरछा रियासत में हुआ था। ये सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम काशीनाथ था। इनके पितामह कृष्णदत्त मिश्र ओरछा-नरेश रुद्रप्रताप के यहाँ पुराणवृत्ति पर नियुक्त थे। इनकी मृत्यु के बाद पं० काशीनाथ तथा क्रमशः उनके भाई बलभद्र मिश्र ओरछा-नरेश मधुकर शाह के दरबार में रहे। उनके बाद रामशाह गद्दी पर बैठे किन्तु उन्होंने राज्य का सब भार अपने छोटे भाई इन्द्रजीतसिंह के ऊपर छोड़ दिया।

इन्द्रजीत सिंह ने केशव को अपना गुरु माना। उन्होंने भेंट में केशव को बहुत गाँव दिये। फलस्वरूप केशवदास अपने जीवन में आर्थिक चिन्ताओं से मुक्त रहे। वंश परम्परा से ही उन्हें पाण्डित्य प्राप्त हुआ था। निश्चिन्त होकर स्थिर-चित्त से उन्होंने जीवन भर कला की सेवा की। जिस समय इनका पदार्पण साहित्य में हुआ उस समय देश में भक्ति की धारा बह रही थी किन्तु केशव आने वाले युग के निर्माण में लग गये। इनकी मृत्यु सं० १६७२ में हुई।

केशव की कृतियाँ

लाला भगवानदीन केशव के बहुत बड़े प्रशंसक रहे हैं। उनके अनुसार केशव के सात ग्रन्थ प्राप्त हैं—रसिक-प्रिया, रामचन्द्रिका, कविप्रिया, रतन बावनी, वीरसिंहदेव-चरित्र, जहाँगीर-जस-चन्द्रिका, राम-अलंकृत-मंजरी, नखशिख, छन्दशास्त्र। केशव के नाम से बालचरित्र तथा हनुमान-जन्म-लीला, दो और ग्रन्थ मिले हैं। दूसरी पुस्तक पर टिप्पणी करते हुए सर्वे रिपोर्ट के लेखक ने लिखा है :—

Keshava Das, the writer of Hanuman janama Lila is an unknown poet. He was certainly not the famous poet of Orchha.

रसिकप्रिया :—(रचनाकाल सं० १६४८)

इसमें रस-निरूपण है जिसमें श्रृङ्गार-रस प्रधान है। इसमें कल्पना-सौन्दर्य, वाग्विदग्धता, सरसता तथा प्रवाह है। कवि ने अपने प्रिय अलङ्कारों का प्रयोग किया है। इस काव्य के कृष्ण-भक्तिकालीन कृष्ण नहीं बल्कि उनका रूप

वही है जिसे रीतिकालीन कवियों ने ग्रहण किया। इसमें कृष्ण अवतारी नहीं रसिक मात्र हैं। इसमें सन्देह नहीं रहना चाहिए कि केशव ही रीतिकाल के उद्घाटक हैं।

रामचन्द्रिका :—(रचना-काल कार्तिक सं० १६५८)

यह छन्द-शास्त्र का विशाल उदाहरण ग्रन्थ है। इसमें रामकथा का आधार है। इसमें २४ मात्रिक तथा ५८ वार्णिक, कुल ८२ छन्दों के प्रयोग हुए हैं। संवाद-शैली तथा अलङ्कार-कौशल की दृष्टि से यह ग्रन्थ अनूठा है।

कविप्रिया :—(फाल्गुन सं० १६५८)

इस काव्य का मुख्य उद्देश्य कवि-शिक्षा है। इसमें कवि का ध्यान अलङ्कारों की ओर अधिक है। इसमें भी कृष्ण का रसिक रूप ही है।

विज्ञानगीता :—(सं० १६६७)

यह एक आध्यात्मिक ग्रन्थ है। इसमें केशव के दार्शनिक विचार हैं। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त केशव के कुछ प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

अन्य ग्रन्थ :—

शुक्ल जी का कथन है कि वीरसिंहदेव-चरित्र को काव्य ही नहीं कहा जा सकता। इसमें चरित्र तो थोड़ा है, दान, लोभ आदि के संवाद भरे हैं। इसके अतिरिक्त रतन बावनी और जहाँगीर-जस-चन्द्रिका प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थ हैं। केशव ने रीति-ग्रन्थों के अतिरिक्त जिन स्वतंत्र ग्रन्थों की रचना की है वे भी रीति-बद्ध ही हैं। उनका जितना ध्यान कला के चमत्कारों की ओर है उतना प्रभाव रस-प्रवणता की ओर नहीं। उनकी कृतियों में हृदय-पक्ष की तुलना में बुद्धि-पक्ष प्रबल है। एक दृष्टि से उनकी कृतियाँ अमूल्य हैं।

केशव की काव्य-कला

केशव पण्डित थे, विद्वान् थे, आचार्य थे, कवि थे और थे दरबारी। उनकी कला में उनके व्यक्तित्व के उपर्युक्त सभी रूप स्पष्ट लक्षित होते हैं। केशव की कला से ही रीतिकालीन प्रवृत्तियों का प्रारम्भ समझना चाहिए। भाषा का वैभव, अलङ्कारों का चमत्कार, उक्तियों का वैचित्र्य, कल्पनाओं का व्यायाम, भौतिक अथवा लौकिक ऐश्वर्य का आकर्षण, काव्य की रीतियों का प्रकाशन, स्थूल श्रृङ्गार की प्रधानता सामान्य जन-जीवन की उपेक्षा तथा दर-

वारिता आदि रीतिकाल के समग्र तत्त्व, केशव की कला के आभूषण हैं। वास्तव में केशव ही रीति-परम्परा के जन्मदाता हैं। यह दूसरी बात है कि अधिकांश कवियों ने चिन्तामणि का अनुसरण किया।

केशव के किसी काव्य को रसाभाव अथवा अपनी भावुकता के कारण हम महाकाव्य न मानें, तो भी इतना निश्चित ही है कि केशव आचार्य तो थे ही, महाकवि भी थे। उनमें महाकवि की शक्ति थी उसका प्रयोग उन्होंने दरबार में किया। इस शक्ति को चमत्कार से प्रेरणा मिली थी न कि हृदय की तन्मयता अथवा रसानुभूति से? केशव की कला के महत्त्वपूर्ण तत्त्वों पर यहाँ विचार किया जायेगा।

संवाद-योजना : चरित्र चित्रण :—

किसी भी कथा-काव्य की घटनाओं के संचालक उसके पात्र ही होते हैं। वे पात्र घटनाओं में पड़कर संघर्ष करते हैं। तथा विजय-पराजय का सामना करते हुए कथा को आगे बढ़ाते चलते हैं। इस विकास की शृङ्खला की अभिव्यक्ति के लिए कलाकार कई शैलियों का प्रयोग करता है। कहीं तो वह स्वयं वर्णन करता है और कहीं पात्रों के कथोपकथन का उपयोग करता है। कला में कथोपकथन की शैली अर्थात् संवाद-योजना का बड़ा महत्त्व है।

नाटक-साहित्य का सम्पूर्ण आधार तो इसी संवाद-शैली पर टिका रहता है। कथा-काव्यों में भी इसका कम महत्त्व नहीं है। इस शैली से कला में जान आती है, घटनाओं में सजीवता आती है, विषय में रोचकता की वृद्धि होती है तथा कथा के विकास में सहायता मिलती है। पात्रों के चरित्र का वास्तविक मूल्याङ्कन भी इन्हीं स्थलों पर होता है। इसी संवाद-क्रम में पात्र की मनोदशा, उसके स्वभाव तथा विचार, उसके गुण-दोष और योग्यता का सम्पूर्ण पता चल जाता है। इस उपयोगी शैली का प्रयोग सभी कथाकारों ने किया है। जायसी के पद्मावत में छोटे मोटे कथोपकन तो पग-पग पर चलते हैं, अनेक महत्त्वपूर्ण स्थल हैं जहाँ यही शैली मूल आधार बन जाती है। रतनसेन-सुआ संवाद, रतनसेन-गंधर्वसेन संवाद, पद्मावती-सुआ संवाद तथा राघवचेतन-अलाउद्दीन संवाद विशेष महत्त्व के संवाद हैं। तुलसी का सम्पूर्ण मानस ही कई युगल श्रोता-वक्ता के बीच कहा सुना गया है। कथा के प्रवाह में भी पात्र सर्वत्र कहते सुनते आगे बढ़ते हैं किन्तु कुछ स्थलों पर तो कथोपकथन बहुत ही महत्त्वपूर्ण हो गये हैं जिनमें लक्ष्मण-परशुराम-संवाद, चित्रकूट का राम-भरत संवाद, सीता-हनुमान संवाद, रावण-हनुमान संवाद तथा अंगद-रावण संवाद मुख्य हैं।

प्रत्येक सूफी कथा-काव्य में इस शैली का प्रयोग किया गया है। नन्ददास के भ्रमरगीत का गोपिका-उद्धव संवाद अत्यन्त नाटकीय तथा रोचक है। तुलसी की संवाद-योजना बड़ी ही सरस तथा मनोवैज्ञानिक है। दशरथ जहाँ बेहाल पड़े हैं, राम तथा कैकेयी के व्यक्तित्व देखने ही योग्य हैं। यही शैली है जिसके द्वारा एक ही आदर्श की सीमा में चलने वाले अनेक पात्रों के व्यक्तित्वों में तुलसीदास वैचित्र्य ला सके हैं। लक्ष्मण-परशुराम-संवाद के अवसर पर राम तथा लक्ष्मण के अन्तर को समझ सकते हैं। अभिप्राय यह कि, यह शैली कथा-काव्य का प्राण है।

केशव की रामचन्द्रिका संवाद-शैली में लिखी गई छन्द-शिक्षा की पुस्तक है। यदि यह गद्य में होती तो विशुद्ध-नाटक की पुस्तक होती। यदि रामचन्द्रिका काव्य-ग्रन्थ है तो निश्चित ही उसका बहुत कुछ काव्यत्व इसी शैली पर टिका हुआ है। संवाद-योजना उस काव्य का मूल तत्त्व है। इस ग्रन्थ में योजना-बद्ध छन्दों के उदाहरण प्रस्तुत करने तथा अलङ्कार प्रदर्शन की ऐसी धुन है कि यदि इसकी रचना संवाद-शैली में न हुई होती तो इसकी दशा कुछ और ही होती।

केशव बहुज्ञाता थे। उच्च कुल में उत्पन्न हुए थे। महान विद्वान् थे। दरबार में रहते थे और सम्पन्न थे। फलस्वरूप राजनीति, कूटनीति तथा व्यवहार-नीति का उन्हें व्यापक ज्ञान था। उनके संवादों में हम देखते हैं कि उनके पात्रों में अवसर के अनुसार शिष्टाचार तथा विपक्षी की मर्यादा का ध्यान है। संवादों के क्रम में पात्रों की वाकपटुता को देखकर केशव के पाण्डित्य का पता चलता है। तुलसी के ऊपर यह आक्षेप किया जाता है कि दरबारों के संवाद-स्थलों पर वे शिष्टाचार का निर्वाह नहीं कर सके हैं। उदाहरणार्थ सम्राट रावण के लिए अंगद का 'कस रे सठ बंगा' आदि प्रयोग शोभनीय नहीं तथा व्यवहार से दूर हैं।

केशव की संवाद-शैली बड़ी रोचक है। पग-पग पर उससे पात्रों का व्यक्तित्व खुलता जाता है तथा प्रसंग में रोचकता आती रहती है। प्रसंग के अनुसार कहीं संवाद छोटे तथा कहीं कुछ बड़े हो जाते हैं किन्तु कहीं इतने बड़े नहीं हो जाते, जितने तुलसी के संवाद कहीं-कहीं बहुत लम्बे हो जाते हैं। उपदेशों तदा सिद्धान्तों की व्याख्या में तुलसी का एक ही पात्र लगातार पृष्ठों में बोल जाता है। वे भाषण अस्वाभाविक भी नहीं हैं। केशव की एक ही पंक्ति में (कहीं-कहीं पर) पात्र कई बार प्रश्नोत्तर कर लेते हैं। यहाँ राम-वन-गमन के बाद भरत-कैकेयी संवाद प्रस्तुत है।

मातु कहाँ नृप ? तात गये सुरलोकहिं, क्यों ? सुत सोक लये।
सुत कौन ? सुराम, कहाँ हैं अवै ? वन लच्छन सीय समेत गये॥
वन काज कहा ? कहि केशव मो सुख तोको कहा सुख यामें भये ?
तुमको प्रभुता, धिक तोको कहाँ ? अपराध बिना सिगरेई हये॥

इस संवाद में भरत का छोटा-छोटा तथा जल्दी-जल्दी प्रश्न पूछना स्वाभाविक ही है। घटना ऐसी ही हो गयी है। इस कथोपकथन से भरत की मनोदशा तथा उनके उदार चरित्र पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। 'सिगरेई हये' अर्थात् सर्वनाश कर दिया, कह कर अपना आह तथा शील एक ही साथ भरत व्यक्त कर देते हैं। नाटकों की भाँति केशव प्रायः कथोपकथन के पूर्व हरबार पात्रों का नाम देते जाते हैं। अगर वे ऐसा न करते तो जल्दी समझ ही में न आता कि कौन, किससे और क्या कह रहा है। तब तो लोग केशव को कठिन-काव्य का प्रेत ही नहीं बल्कि पिशाच तथा न जाने क्या क्या कह डालते। यहाँ हम धनुर्भंग के बाद के कुछ कथोपकथन प्रस्तुत करते हैं।

परशुराम—यह कौन को दल देखिए ?
वामदेव—यह राम को प्रभु लेखिए ?
परशुराम—कौन राम ? न जानियो।
वामदेव—शर ताड़ुका जिन मारियो।

इसी प्रकार प्रश्नोत्तर का क्रम आगे चलता है। इस वाक्यावली के पूर्व का एक प्रश्नोत्तर हम देते हैं जो न केवल मनोरंजक बल्कि मनोवैज्ञानिक है।

महादेव को धनुष यह को तोरेउ रणधीर ?
वामदेव—महादेव को धनुष यह परशुराम ऋषिराज !
तोरेउ, रा" यह कहत ही समझेउ रावनराज।

बस इतना काफी था। परशुराम रावण पर बरसने लगे। यहाँ केशव का मौलिक कवित्व है। "तोरेउ रा" कहते ही रावण समझ लेना परशुराम के लिए स्वाभाविक था क्योंकि धनुष को देखकर पहले ही उनकी दशा बिगड़ चुकी थी। फिर रावण के विरुद्ध आग उगलना तो स्वाभाविक था ही ! यहाँ केशव की भाषा का ओज अनुभव करने योग्य है।

परशुराम—पुनि लंकहिं औंटि कलंकित कै,
फिरि पंक कलंकहिं की भरिहौं।
सितकंठ के कंठन को कठुला,
दसकंठ के कंठन को करिहौं॥

यहाँ रौद्र की पराकाष्ठा है तथा साथ ही केशव की छन्द-शिक्षा तथा अलङ्कार की प्रतिज्ञा भी पूरी होती चलती है। तुलसी के समान केशव भक्त नहीं हैं। अतः इनके पात्रों के शील में भिन्नता है। केशव के राम मर्यादा में उतने बँधे हुए नहीं हैं। वे परशुराम से कहते हैं :—

राम—भगन भयो हर धनुष साल तुमको अब सालै।
वृथा होइ विधि सृष्टि ईस आसन ते चालैं॥

आगे पद्मावत की भाँति, महादेव उपस्थित होकर समझौता कराते हैं। राजनीतिक दाव-पेंच और कूटनीतिक-वाक्पटुता के लिए अंगद-रावण-संवाद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसमें रावण तथा अंगद दोनों ही प्रज्ञाशील, नीतिज्ञ तथा व्यवहार-कुशल हैं। दोनों ही शिष्टाचार का पालन करते हैं। यहाँ रावण से संवाद का प्रारम्भ होता है।

राम को काम कहाँ? रिपु जीतहिं, कौन कबै रिपु जीत्यौ कहा?
बालि बली, छलसों भृगुनन्दन गर्ब हर्‌यो, द्विज दीन महा?
दीन सु क्यों छिति छत्र हत्यो बिन प्राणन हैहयराज कियो।
हैहय कौन? वहै बिसराय जिन खेलत ही तोहि बाँध लियो॥

केशव ने संवादों में कहीं-कहीं प्रसन्नराघव तथा हनुमन्नाटक के सफल अनुवाद रख दिये हैं किन्तु अधिकतर उनकी मौलिकता ही लक्षित होती है। पात्रों के व्यक्तित्व के प्रकाशन में केशव के संवाद बड़े सहायक हैं। उनके संवादों में कवित्व का चमत्कार, कल्पना का सौष्ठव, सजीवता तथा रोचकता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उनके संवाद बहुत सफल हैं। रस प्रवाह के अभाव, हृदयहीनता तथा क्लिष्टता के कितने भी लांछन लगाये जाँय किन्तु सबके बाद केशव की रामचन्द्रिका अपने इन गुणों के कारण हिन्दी की अमूल्य सम्पत्ति समझी जायगी क्योंकि अपने स्थान पर वह अकेली है।

इसकी रामचन्द्रिका में सुमति-विमति, दशरथ-विश्वामित्र, राम-शूर्पणखा, राम-लक्ष्मण, सीता-हनुमान, बाणासुर-रावण, राम-परशुराम, रावण,-हनुमान, रावण-सीता तथा रावण-अंगद संवादों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनमें हनुमान-रावण तथा रावण-अंगद संवाद विशेष महत्त्व रखते हैं। इन संवादों में कूट नीति, दूत-चातुर्य तथा दूतों की निर्भीकता देखने योग्य है। आज के संकट काल में हनुमान तथा अंगद के आदर्श विचारणीय हैं। हनुमान-रावण का कौशल देखिए :—

रावण—रे कपि कौन तू ?
हनुमान—अक्ष को घातक दूत बली रघुनन्दन जू को।
रावण—को रघुनन्दन रे ?
हनुमान—त्रिशिरा खरदूषण दूषण भूषण भू को।
रावण—सागर कैसे तर्‍यो ?
हनुमान—जस गोपद,
रावण—काज कहा ?
हनुमान—सिय चोरहिं देखो।
रावण—कैसे बँधायो ?
हनुमान—जु सुन्दरी तेरी छुई दृग, सोवत पातक लेख्यो।

यहाँ हनुमान के अतिरिक्त उत्तर में साहस, बुद्धिमत्ता, व्यंग्य तथा भारतीय चरित्र का पावन आदर्श विचारणीय है। इसी प्रकार रावण-अंगद संवाद देखिए :—

रावण—कौन हो, पठयो सो कौन ह्यौं तुम्हें, कह काम है ?
अंगद—जाति वानर, लंक नायक दूत, अंगद नाम है।
रावण—कौन है वाँधि के हम देह पूँछ सबै दही ?
अंगद—लंक जारि संहारि अक्ष गयो सो बात वृथा कही।
रावण—कौन के सुत ?
अंगद—वालि के,
रावण—वह कौन वालि ? न जानिये।
अंगद—काँख चाँपि तुम्हें जो सागर सात न्हात न वखानिये।
रावण—है कहाँ वह वीर ?
अंगद—देव लोक बताइयो।
रावण—जो सुत अपने बाप को वैर न लेइ प्रकाश।
तासों जीवत ही मर्‍यो............।

रावण की भेद-नीति असफल हुई और देश-भक्त अंगद ने उसे किंकर्तव्यविमूढ़ बना दिया। क्या शत्रु को सहायता पहुँचाने वाला, सन्तानों के भविष्य को नष्ट करने वाला, अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के लोभ में अपने ही साथ राष्ट्र को ले डूबने वाला यह हृदय हीन जड़-समाज अंगद जैसे निःस्वार्थी तथा साहसी के आदर्शों से प्रेरणा ग्रहण कर सकेगा ? अथवा वह अपनी परम्परा पर दृढ़ रहने के लिए कृत-संकल्प है ? सम्भवतः ऐसे आदर्श नवचिन्तनवादी साहित्य के लिए भी चिन्तन के विषय हैं।

रस-योजना :—क्या केशव कठिन काव्य के प्रेत हैं ?

वैसे तो केशव अलंकारवादी हैं और रस भी अलंकार की ही सीमा में रखते हैं किन्तु यत्र-तत्र उनकी रचनाओं में रस का संचार भी पाया जाता है। रस की दृष्टि से उनके साहित्य की आलोचना भी नहीं होनी चाहिए। अपने स्थान पर उनकी कला अनोखी है। साहित्यमें बहुत कुछ रहता है। सहृदयता का प्रश्न उठाकर तुलसी आदि से तुलना करके उनकी कला के चमत्कार की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। उनकी सामग्री काव्य-शास्त्र के विद्यार्थियों तथा मर्मज्ञों के लिए उपयोगी है तो बुरा क्या है ? केशव सुकवि नहीं यदि काव्याचार्य हैं तो क्या हर्ज है ? यहाँ हम केशव के कुछ सरस स्थलों को उद्धृत कर रहे हैं।

(१) केशव चौंकति सी चितवै छितिपा धरकै तरकै तकि छाँहीं।
बूझिये और कहै मुख और न और की और भई छन माहीं॥
डीठि लगी किधौं बाइ लगी मनभूलि पर्‌यो कै कर्‌यो कछु नाहीं।
घूँघट की घट की पट की हरि आजु कछु सुधि राधिकै नाहीं॥

यहाँ संयोग श्रृङ्गार की कैसी मधुर व्यंजना है !

(२) आई है एक महावन तें तिय गावति मानो गिरा पगु धारी।
सुन्दरता जनु काम की कामिनि बोलि कह्यो वृषभानु दुलारी॥
गोपिकै ल्याइ गुपालहिं वै अकुलाइ मिलीं उठि सादर भारी।
केशव भेंटत ही भरि अंक हँसी सब कीक दै गोप-कुमारी॥

यहाँ कवि की कैसी मधुर अभिव्यक्ति है ! वास्तव में आलोचक केशव की रामचन्द्रिका को मानस के मानदण्डों से मापने लगते हैं। इसीलिए थककर केशव को कठिन-काव्य का प्रेत तक कह देते हैं। एक ओर तो वे यह भूल जाते हैं कि रामचन्द्रिका के रचयिता का उद्देश्य क्या है, दूसरी ओर उनकी कविप्रिया तथा रसिकप्रिया की ओर आँख नहीं उठाते।

रामचन्द्रिका में मानस की अपेक्षा रस का अभाव यदि है तो इसका कारण स्पष्ट है। जिस उद्देश्य से उसकी रचना हुई उस दृष्टि से उसकी समीक्षा होनी चाहिए। छन्द तथा अलंकार प्रदर्शन के लिए जहाँ भी केशव को स्थल मिला वहीं वे जम गये और सफल भी हुए। उन्होंने जिन स्थलों का चुनाव किया है उनके चुनाव का मानदण्ड कुछ दूसरा है। सम्बन्ध-निर्वाह तथा मार्मिक स्थलों को प्रबन्धात्मक दृष्टि से केशव के काव्य में ढूँढ़ने की क्या

आवश्यकता है ? केशव को मानस नहीं लिखना था, बहुछन्द की रामचन्द्रिका लिखनी थी।

रसिकप्रिया की रचना रसबोध के लिए की गई है। कविप्रिया तथा उनकी रामचन्द्रिका में अलंकारों पर विशेष बल है। केशव की अलंकार-योजना बहुत से स्थलों पर रस-योजना के विपरीत पड़ गई है। निश्चित ही वहाँ पर कवि का ध्यान चमत्कार पर है। जनकपुर में प्रवेश के समय सूर्योदय हो रहा है। उस दृश्य का भव्यचित्र उतारते-उतारते कवि यहाँ तक बढ़ जाता है :—

'कै शोणित कलित कपाल यह कित कापालिक काल को।

राम की वियोग-दशा का चित्रण करते हुए केशव कहते हैं :—

'वासर की संपति उलूक ज्यों न चितवत।'

कमल पर बैठे भ्रमर के दृश्य का चित्रण इस प्रकार करते हैं :—

'केशव केशवराय मनो कमलासन के ऊपर सिर सोहैं।'

प्रकृति-चित्रण के रूपक में वन की तुलना पाण्डव से करते हैं, जबकि रामायण की घटना के बहुत बाद पाण्डवों का प्रादुर्भाव हुआ। वन तथा पाण्डव की तुलना पता नहीं किन गुणों के आधार पर की गई है :—

पाण्डव की प्रतिमा सम लेखौं।
अर्जुन भीम महामति देखौं॥

इस प्रकार केशव के साहित्य में रस के कुछ स्थलों को छोड़कर अधिकांश स्थलों पर अलंकार-प्रदर्शन के लिए बड़ा परिश्रम किया गया है।

अलङ्कार-योजना :—

केशव, रस के महत्त्व को अस्वीकार न करते हुए भी यह मानते थे कि बिना अलङ्कार की कविता सुशोभित नहीं हो सकती।

'भूषण बिनु न बिराजई कविता बनिता मित्त।'

जहाँ पाण्डित्य-प्रदर्शन से प्रेरित होकर बिना सोचे समझे उन्होंने अलङ्कारों का प्रयोग किया है वहाँ हम उनके कल्पना-कौशल और बुद्धि को दाद दे सकते हैं किन्तु काव्य-चातुर्य की प्रशंसा नहीं कर सकते। विशेषतया यह प्रवृत्ति रामचन्द्रिका में ही मिलती है, जिसकी रचना इसी के लिए की गई थी। केशव जनकवि नहीं थे। दरबार के सभासदों, विद्वानों तथा कलाविदों से लोहा मनवाने के लिए पाण्डित्य-प्रदर्शन के द्वारा उन्हें अपनी प्रतिभा की धाक जमाने की आवश्यकता थी।

शब्दालंकारों में केशव ने सबसे अधिक श्लेप का प्रयोग किया है और उनके चमत्कार प्रदर्शन का यही प्रमुख आधार है। दरबार के बुद्धिविलासी, इसी का लोहा मान सकते थे किन्तु यह सरस काव्य का मार्ग नहीं है। केशव की कुछ रचनाओं में अलंकार-प्रयोग सरल तथा स्वाभाविक भी हैं। नख-शिख, रतन बावनी, विज्ञान गीता और जहाँगीर-जस-चंद्रिका में कवि ने अपने विशेष प्रिय अलंकारों का ही प्रयोग किया है, किन्तु रामचन्द्रिका में उन अलंकारों का प्रयोग अधिक किया है जो चमत्कार-प्रधान हैं।

श्लेष— तिन नगरी तिन नागरी प्रतिपद हंसक हीन।
जलज हार शोभित न जहँ प्रगट पयोधर पीन॥

यहाँ श्लेष, सन्देह तथा रूपक का एक संयुक्त चित्र सागर के लिए उपस्थित किया गया है :—

है किधौं केशव कश्यप को घर देव अदेवन को मन मोहै॥
संत हियो कि बसै हरि संतत शोभ अनंत कहै कवि कोहै॥
चंदन नीर तरंग तरंगित नागर कोउ कि सागर सोहै॥

परिसंख्या के अनेक उदाहरण रामचन्द्रिका के भीतर भरे हुए हैं। यहाँ अवधपुरी का एक चित्र है :—

मूलन ही की जहाँ अधोगति केशव पाइय।
होम हुताशन धूम नगर एकै मलिनाइय॥
दुर्गति दुर्गन ही, जु कुटिल गति सरितन ही में।
श्रीफल को अभिलाष प्रकट कविकुल के जी में॥

रामचन्द्रिका में एक भी छन्द ऐसा नहीं जिसमें अलङ्कार का प्रयास न हो। यहाँ दो चार उद्धरण ही दिये जा सकते हैं।

विभावना—'नेकु ताहि कर पल्लव सों छ्वै,
फूल मूल जिमि टूक करी द्वै—धनुर्भंग किया।

यमक— हरित हरित हार हेरत हियो हरत,
हारी हौं हरिननैनी हरि न कहूँ लहौं।
बन माली ब्रज पर बरसत बनमाली,
बनमाली दूरि दुख केसव कैसे सहौं॥
हृदय-कमल नैन देखि कै कमल नैन,
होहुगी कमलनैनि और हौं कहा कहौं।

आप घने घनस्याम घन ही से होत घन,
सावन के द्यौस घनस्याम विन क्यों रहौं ॥

अबुलफ़ज़ल की मृत्यु से अकबर के अश्रुपूरित नेत्रों के लिए उत्प्रेक्षा देखिए :—

चंचल लोचन जल झलमले।
पवन पाइ जनु सरसिज हले— वीरसिंहदेव-चरित्र से।

केशव की अलङ्कार-योजना में अप्रस्तुतों की दुर्बोधता तथा अस्पष्टता उतनी चिन्तनीय समस्या नहीं जितनी कि अप्रस्तुतों की अस्वाभाविकता तथा अनुपयुक्तता है। जनकपुर के सूर्योदय में रक्त की लाली आदि देखना अवसर के विपरीत है। ब्रह्मा के सिर पर विष्णु अथवा शंकर के मस्तक पर राम के शोभित होने की कल्पना कुछ जँचती नहीं है। जलती हुई लंका में जलने वाले राक्षसों के लिए कामदेव की उपमा खटकने वाली है।

'मनो ईस रोषाग्नि में काम डाढ़े।'

सावधानी से धनशाला के निरीक्षण करने वाले राम का चित्र कैसा है ?

चतुर चोर से शोभित भये।
धरणीधर धनशाला गये॥

अधिकांश स्थलों पर केशव के अलङ्कार बड़े आकर्षक हैं। वियोगिनी सीता :—

धरे एकवेणी। मिली मैल सारी॥
मृणाली मनो। पंक तें काढ़ि डारी॥

भाषा :—

कहा जाता है कि तुलसी अपनी सरलता और सूर अपनी गम्भीरता के लिए सराहनीय हैं वैसे ही वरन् उससे भी बढ़कर केशव अपनी भाषा की परिपुष्टता के लिए प्रशंसनीय हैं किन्तु डॉ० हीरालाल दीक्षित का कहना है कि केशव उस दल के कवि नहीं थे जो अपने विचारों को उसी भाषा में व्यक्त करते हैं जिसमें वह उनके मन में उठते हैं। केशव उस कुल में उत्पन्न हुए थे जिसके दास भी 'भाषा' में बात नहीं करते थे।

भाषा बोलि न जानहीं जिनके कुल के दास।
भाषा कवि भो मंदमति तेहि कुल केशवदास॥

परिस्थितियों से विवश होकर केशव को यह हेय भाषा अपनानी पड़ी।

वे उतर भी कितना सकते थे ? भाषा के पाण्डित्य की रक्षा के लिए उन्होंने अलङ्कारों का जमकर प्रदर्शन किया। फिर भी उनको सन्तोष नहीं था।

डा० श्यामसुन्दर दास का कथन है कि एक-एक छन्द के चार-चार पाँच-पाँच अर्थ लगते हैं इसलिए केशव की भाषा क्लिष्ट है किन्तु वह हिन्दी-साहित्य के लिए गौरव है।

आचार्य शुक्ल जी ने लिखा है—'भाषा पर जैसा अधिकार चाहिए वैसा केशव को प्राप्त न था। अपनी रचनाओं में उन्होंने अनेक संस्कृत काव्यों की उक्तियाँ लेकर भरी हैं। उन उक्तियों को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने में उनको भाषा बहुत कम समर्थ हुई है। पदों और वाक्यों की न्यूनता, अशक्त, फालतू शब्दों के प्रयोग और सम्बन्ध के अभाव आदि के कारण भाषा भी अप्रांजल और ऊबड़-खाबड़ हो गई है और तात्पर्य भी स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं हो सका है। केशव की कविता जो कठिन कही जाती है उसका प्रधान कारण उनकी यही त्रुटि है—उनकी मौलिक भावनाओं की गम्भीरता नहीं।'

वास्तव में केशव की भाषा प्रौढ़ है किन्तु क्लिष्ट भी है। इस क्लिष्टता का यह कारण नहीं कि भाषा पर केशव का अधिकार ही नहीं था बल्कि इसके दो कारण थे। पहला यह कि संस्कृत, इनके लिए मातृभाषा के समान थी जिसके मूल प्रभाव को उन्होंने अपनी काव्य-भाषा में बनाये रखा। वे जनता के वक्ता नहीं थे और जनता श्रोता भी नहीं थी। फलस्वरूप नीचे उतरना उनके लिए मर्यादा से गिरने के समान था। दूसरा कारण यह था कि अलङ्कारों का चमत्कार ही उनका लक्ष्य था। भाषा के पाण्डित्य तथा अलङ्कारों के चमत्कार ने संयुक्त होकर उनके काव्य को सामान्य रसिकों के लिए इतना क्लिष्ट बना दिया कि लोग उन्हें कठिन-काव्य का प्रेत तक कहने लगे।

शुक्ल जी को केशव की भाषा की शक्ति तथा शुद्धता के प्रति जो शिकायत है वह उचित नहीं है। बात तो यह है कि केशव जैसे दिग्गज पण्डित की ही भाषा थी जो उनके कवित्व-चमत्कार के भार तथा स्वप्न को सम्हाल सकी। वास्तव में उस क्लिष्टता तथा चमत्कार में ही केशव की कल्पना छिपी थी। उनकी कला विशिष्ट समाज के लिए थी। उनकी भाषा भी उसीके अनुरूप थी।

केशव की कला, कला के लिए अधिक थी जीवन के लिए कम। यदि जीवन के लिए थी तो केवल एक विशेष वर्ग के लिए थी। उनकी कला में आश्चर्य था सौम्यता नहीं, आकर्षण या मोहकता नहीं, तेज था कान्ति नहीं,

चमत्कार था भावुकता नहीं, कमाल था मस्ती नहीं। केशव की भाषा उनकी कला के योग्य थी। उनकी भाषा में उनका व्यक्तित्व बोलता है और भाषा उनके व्यक्तित्व को बोलती है। उनकी भाषा में भी चमत्कार है। उनकी रामचन्द्रिका की भाषा में कहीं-कहीं संस्कृत की अधिक प्रेरणा है।

सीता शोभन व्याह उत्सव सभा संभार संभावना।
तत्कार्य समग्र व्यस्त मिथिलावासी जना शोभना॥

उनकी भाषा में कहीं-कहीं संस्कृत की विभक्तियों के भी प्रयोग मिलते हैं।

उरसि अंगद लाज कछू गहो।

स्यों, गौरमदाइन, जानवी आदि बुन्देलखण्डी शब्द, कौन, इहाँ, उहाँ आदि अवधी के प्रयोग, सिरताज, फौज, शोर आदि विदेशी शब्द भी उनकी भाषा में मिलते हैं। साध (साधु), माइ (समाइ) के अतिरिक्त बिचूचै और मिलेव जैसे अप्रचलित शब्द भी मिलते हैं। बीस बिसे, फूल से भरें आदि मुहावरों के अतिरिक्त कहावतों के भी प्रयोग मिलते हैं। केशव की भाषा में माधुर्य का प्रवाह भी मिलता है।

एक रदन गज बदन सदन बुधि मदन कदन सुत।
गौरिनन्द आनन्द कन्द जगवन्द चन्द जुत॥

रसिकप्रिया में सबसे अधिक माधुर्य-गुण-सम्पन्न भाषा है। वीर-रस के प्रसंगों में केशव की भाषा में वीरगाथाकालीन ओज है। उनकी भाषा में प्रसाद गुण की भी कमी नहीं है। संवाद-प्रसंगों में उनकी भाषा का रूप सजीव है। वहाँ भाषा सरल, सरस, गम्भीर, अर्थपूर्ण तथा व्यंग्य-शक्ति से सम्पन्न है। अन्त में डॉ० हीरालाल दीक्षित का एक कथन विचारणीय है:—

"केशव को अपनी काव्य-भाषा पर पूर्ण अधिकार है। यदि तुलसी के समान ब्रज और अवधी दोनों भाषाओं पर उन्हें समानाधिकार न था तो इस कमी की पूर्ति, ब्रजभाषा पर केशव का असीमाधिकार कर देता है किन्तु कहीं-कहीं भाषा की जो अस्वाभाविक जटिलता है उसी के कारण केशव को कठिन काव्य के प्रेत की संज्ञा मिली। जहाँ तक भाषा के सामान्य स्वरूप का प्रश्न है केशव की भाषा वास्तव में नितान्त प्रौढ़ एवं शक्ति-शालिनी है।"

छन्द-योजना :—

अलङ्कारवादी केशव एक महान रीतिकार थे। भले ही रीतिकाल की परम्परा का प्रारम्भ उनके पचास वर्ष बाद हुआ किन्तु उसका शिलान्यास करने वाले वे ही माने जायँगे। केशव की कला की सारी विशेषताएँ रीतिकालीन

आभूषण बनीं। रीतिकालीन साहित्य में अलङ्कार तथा छन्द का वही चमत्कार हम देखते हैं।

रामचन्द्रिका की रचना का उद्देश्य छन्द-चमत्कार ही है। इसमें २४ मात्रिक तथा ५८ वर्णिक, कुल ८२ छन्दों के प्रयोग हुए हैं। उस समय तक के सभी छन्द इसमें आ गये हैं। हिन्दी के आदिकाल से लेकर आजतक किसी काव्य में इतने छन्दों का प्रयोग नहीं हुआ। छन्द-प्रयोग के अभिनव ग्रन्थ के रूप में रामचन्द्रिका की रचना हुई है। केशव का हिन्दी को यह उपहार अद्वितीय है। उनके शशक्त व्यक्तित्व से ही ऐसा हो सका है। छन्द रचना के लिए स्फुट भावों को लेने की अपेक्षा उन्होंने राम-कथा का सहारा लेकर सुविधाजनक कार्य ही किया। एक-एक भाव को कल्पित करने की कठिनाई दूर हो गई और बना बनाया कथा का सहारा प्राप्त हो गया। जो लोग रामचन्द्रिका में प्रबन्धात्मकता ढूँढ़ने के लिए 'मानस' से तुलना करने के लिए बैठ जाते हैं, भूल करते हैं। यदि ऐसा करना ही है तो उन्हें केशव के वीरसिंहदेव-चरित्र तथा जहाँगीर-जस-चंद्रिका की ओर जाना चाहिए।

'रामचन्द की चन्द्रिका वर्णत हौं बहुछन्द।' की घोषणा से ही शंका का समाधान हो जाना चाहिए। केशव की यह छन्द-चन्द्रिका संयोग से रामचन्द्रिका हो गई, पाठकों का सौभाग्य है। छन्द-शास्त्र की यह श्रेष्ठतम पुस्तक है। अलङ्कारों के चमत्कार, संवादों के आकर्षण तथा कल्पना के सौन्दर्य आदि तो केशव के व्यक्तित्व से प्राप्त होने वाले अतिरिक्त लाभ हैं। यह रामचरित का मानस नहीं जिसमें उमड़ते हुए भावों का अनुसन्धान किया जाय। इसमें कवितावली की प्रबन्धात्मकता की आशा की जा सकती है किन्तु राम के यशगान के लिए भक्तिपूर्वक कलाकार ने बचन नहीं दिया है। अलबत्ता ग्रन्थ के छन्द-छन्द से चमत्कार की चन्द्रिका छिटक जाय, इसके लिए ग्रन्थकार बचनबद्ध है। वैसे तो यह ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य में अपनी कोटि का अकेला है।

केशव ने छन्द के लघु आकार से प्रारम्भ किया है। आगे क्रमशः छन्दों का आकार बढ़ता गया है। काव्य की अन्य विशेषताओं पर इस पद्धति का शासन है। काव्य के प्रारम्भ में ही एकाक्षरी से लेकर अष्टाक्षरी तक के छन्द एक ही स्थल पर प्रयुक्त हैं। उदाहरणार्थः—

(१) श्री छन्द—सी री। धी री

(२) सार छन्द—राम नाम। सत्य धाम ॥
और नाम। को न काम ॥

(३) रमण छन्द—दुख क्यों। हरि हैं॥
हरि जू। हरि हैं॥

(४) तरणिजा छन्द—बरणियो। बरष सो।
जगत को। शरण सो॥

इसी प्रकार यहीं पर क्रमशः प्रिया, सोमराजी, कुमारललिता और नगस्वरूपिणी का प्रयोग आकार के अनुसार हुआ है। सबसे बड़े दण्डक छन्द का प्रयोग अन्त में हुआ है। केशव की यह मौलिकता अद्वितीय है। केशव ने छन्द सम्बन्धी कुछ नवीन प्रयोग भी किये हैं। उदाहरणार्थ कहीं दो छन्दों को एक साथ मिश्रित करके चलाया है और कहीं अतुकान्त छन्द की सृष्टि की है। 'मानस' की आलोचना करते समय जब यह कहा जाता है कि तुलसी ने भावों के अनुसार छन्दों का चुनाव किया है तब आलोचक यह क्यों भूल जाते हैं कि केशव ने छन्दों के अनुसार भावों का चुनाव किया है। इन सेवाओं के लिए हिन्दी-साहित्य निश्चित ही इस कवि-सम्राट का ऋणी रहेगा। उसकी चन्द्रिका युग-युग तक मन्द-मन्द छिटकती रहेगी।

यहाँ रामचन्द्रिका के ८२ छन्दों के नाम दिये जाते हैं:—

मात्रिक छन्द:—दोहा, रोला, घत्ता, छप्पय, प्रज्झटिका, अरिल, पादाकुलक, त्रिभंगी, सोरठा, सवैया, कुण्डलिया, गीतिका, डिल्ला, विजया, सोभना, हीर, सुखदा, मोहन, मधुगार, हरिगीतिका, पद्मावती, रूपमाला, चौबोला, हरिप्रिया।

वर्णिक छन्द :—श्री, सार, दण्डक, तरणिजा, सोमराजी, हंस, समानिका, नराच, कुमारललिता, नगस्वरूपिणी, चंचला, शशिवदना, विशेषक, शार्दूलविक्रीड़ित, विजोहा, कमला, तुरंगम, मल्ली, चंचरी, तारक, स्वागता, कलहंस, मोदक, संयुता, भुजंगप्रयात, मत्तगयंद, तामरस, अनुकूला, मोटनक, चन्द्रकला, किरीट, चामर मालिनी, तन्वी, कुसुमविचित्र, सुमुखी, सुन्दरी, मदिरा, सारवती, स्वरितगति, मोतियदाम, वसन्ततिलका, मत्तमातंग, द्रुतविलम्बित, चित्रपदा, दुर्मिल इन्द्रवज्रा, अनंगशेखर, उपेन्द्रवज्रा, चन्द्रवर्त्म, वंशस्थविलम्, रथोद्धता, प्रमिताक्षरा, मल्लिका, पृथ्वी, कमल, गंगोदक तथा मनोरमा।

कलादेवी को सजाने और सँवारने में केशव ने जिस रुचि और श्रम से प्रयत्न किया, स्तुत्य है। उनका व्यक्तित्व अजेय है। कलादेवी को समर्पित किये गये उनके रत्न अमूल्य हैं।

बिहारी का जीवनवृत्त

इनका जन्म सं० १६६० में बताया जाता है। ये जयपुर के महाराज जयसिंह के आश्रित थे। ये जाति के माथुर चतुर्वेदी ब्राह्मण थे। इनका जन्म ग्वालियर राज्य के बसुआ गोविन्दपुर में बताया जाता है। इनके वंशज बूँदी में अब भी विद्यमान हैं। इन्होंने संवत् १७१९ में अपनी प्रसिद्ध सतसई समाप्त की थी।

संवत् ग्रह शशि जलधि छिति तिथि छठ बार चन्द।
चैत मास पख कृष्ण में, पूरन आनन्द कन्द॥

ग्रह ९, शशि १, जलधि ७, छिति १ के द्वारा, 'अंकानां वामतो गति' के अनुसार सं० १७१९ हुआ। उस समय उनकी अवस्था ५९ वर्ष ठहरती है। उनके पिता का नाम केशव था।

प्रकट भये द्विजराज कुल, सुजस बसे ब्रज आइ।
मेरे हरो कलेस सब, केसव केसवराइ॥

यहाँ केसव में तथा द्विजराज में श्लेष है। केशव उनके पिता का नाम था और कृष्ण को भी केशव कहते हैं। द्विज का अर्थ ब्राह्मण तथा चन्द्रमा दोनों होता है। पं० केशव ब्राह्मण थे तथा कृष्ण चन्द्रवंशी। बिहारी का बचपन बुन्देलखंड में बीता था और युवावस्था में अधिकांश मथुरा (ससुराल) में रहे। बिहारी ने अपने जीवन पर प्रकाश डालने वाले स्पष्ट दोहे तो नहीं लिखे किन्तु बहुत से दोहे ऐसे हैं जिनमें उनके जीवन तथा तत्कालीन समाज की झाँकी मिलती है।

(१) आवत जात न जानियत तेजहिं तजि सियरानु।
घरहँ जँवाई लौं घट्यो खरो पूस दिनमानु॥

सम्भव है ससुराल में आगे चलकर उनका सम्मान घट गया हो।

(२) नहीं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास इहि काल॥
अली कली ही सौं बिंध्यो, आगे कौन हवाल॥

शायद इस दोहे से जयसिंह की आँखें खुल गई थीं।

(३) स्वारथ सुकृत न स्रम वृथा देखि विहंग विचारि।
बाज पराए पानि पर तू पंछीनु न मारि।

इस दोहे से तत्कालीन राजाओं का पता चलता है जो मुगलों की ओर से देश का दमन करते थे।

बिहारी की गणना हिन्दी के महाकवियों में होती है। इन्होंने सात सौ दोहों की एक ही रचना की किन्तु उससे ही इनको इतना उच्च स्थान दिया गया है। इनकी श्रेष्ठता के प्रश्न को लेकर आलोचना जगत् में एक बार देव-बिहारी की तुलना का आन्दोलन सा खड़ा हो गया था। सतसई की पचासों टीकाएँ कई भाषाओं में हो चुकी हैं।

बिहारी की काव्य-कला

बिहारी रीतिकाल के महान् कलाकार थे। उनका एक-एक दोहा हीरे के नग के समान है। एक ही (केवल सात सौ छन्दों की) रचना के बल पर शायद ही किसी को इतनी ख्याति मिली होगी। बिहारी की केवल एक ही रचना सम्पूर्ण रीतिकालीन साहित्य का प्रतिनिधित्व करने की योग्यता रखती है। इसकी लोकप्रियता, प्रभाव तथा शक्ति का इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि इन तीन सौ वर्षों में ही कई भाषाओं में, गद्य-पद्य में, इसकी पचासों टीकाएँ हो चुकी हैं जिनसे बिहारी सम्बन्धी एक अलग साहित्य ही खड़ा हो गया है।

शुक्ल जी ने अपने इतिहास में लिखा है—"बिहारी ने लक्षण ग्रन्थ के रूप में अपनी 'सतसई' नहीं लिखी है, पर नख-शिख, नायिका-भेद, षट्ऋतु के अन्तर्गत उनके सब शृङ्गारी दोहे आ जाते हैं और कई टीकाकारों ने दोहों को इस प्रकार के साहित्यिक क्रम के साथ रखा भी है। दोहों को बनाते समय बिहारी का ध्यान लक्षणों पर अवश्य था। इसीलिए हमने बिहारी को रीतिकाल के फुटकल कवियों में न रख, उक्त काल के प्रतिनिधि कवियों में ही रखा है।"

'सतसई' लक्षण ग्रंथ नहीं है, लक्ष्य ग्रन्थ है। इसकी रचना करते समय बिहारी के मन में चमत्कार का जोश नहीं था। उनका ध्यान अलङ्कारों के चमत्कारों की ओर नहीं था बल्कि अनुभूति की ओर था। बिहारी समर्थ कलाकार थे। भावों की सफल अभिव्यक्ति के साथ उनके दोहों में अलङ्कार का स्वाभाविक चमत्कार स्वयं आ गया है। लक्ष्य ग्रन्थ होते हुए भी यह अलङ्कार तथा रीति के विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। इस ग्रंथ में भावों के उत्कर्ष तथा अलङ्कारों के चमत्कार में कोई अन्तर ही नहीं है। इसमें कला का उत्कृष्टतम रूप है।

रस तथा ध्वनि :—

बिहारी के प्रत्येक दोहा में रसात्मकता तथा ध्वन्यात्मकता का ऐसा संयुक्त चमत्कार पाया जाता है कि कुछ लोग उन्हें रसवादी तथा कुछ लोग ध्वनिवादी समझते हैं। इतना तो स्पष्ट है कि बिहारी, केशव की भाँति अलङ्कारवादी नहीं हैं। बिहारी के दोहों में अनुभूति की प्रधानता है। अलङ्कार उसमें सहायक हैं।

तंत्री नाद कवित्त रस, सरस राग रति रंग।
अनबूड़े बूड़े, तिरे जे बूड़े सब अंग॥

डॉ० विजयेन्द्र ने लिखा है—"यदि रस-ध्वनि को काव्य की आत्मा मानकर बिहारी के काव्य में रस-ध्वनि संधान ही मुख्य माना जाय तो ध्वनिके माध्यम से बिहारी रस-सम्प्रदाय का स्पर्श अवश्य करते हैं; परन्तु उनका इष्ट रस-सम्प्रदाय नहीं है। रस-ध्वनि के उदाहरणों की भरमार होने पर भी वे रस-सम्प्रदाय के पोषक न होकर ध्वनि-सम्प्रदाय के ही अनुगामी हैं। रस-ध्वनि, अलङ्कार-ध्वनि और वस्तु-ध्वनि को ग्रहण करके बिहारी ने सांकेतिक अर्थ को ही प्रधानता दी है; अतः उनकी अभिरुचि ध्वनिसम्प्रदाय के प्रति ही है।"

इस सन्दर्भ में शुक्ल जी ने लिखा है—"मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस की धारा नहीं होती जिससे कथा-प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है।" अन्त में वे कहते हैं—"इसीसे वे दोहे ऐसे छोटे छन्द में इतना रस भर सके हैं। इनके दोहे क्या हैं रस के छोटे-छोटे छींटे हैं।"

आगे शुक्ल जी लिखते हैं—"बिहारी की रसव्यंजना का पूर्ण वैभव उनके अनुभावों के विधान में दिखाई पड़ता है। अधिक स्थलों पर तो इनकी योजना की निपुणता और उक्ति कौशल के दर्शन होते हैं, पर इस विधान में इनकी कल्पना की मधुरता झलकती है। अनुभावों और हावों की ऐसी सुन्दर योजना कोई शृङ्गारी कवि नहीं कर सका है।' पुनः शुक्ल जी उद्धरण प्रस्तुत करते हैं।

बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करै भौंहनि हँसै, दैन कहै नटि जाइ॥
नासा मोरि नचाइ दृग, करी कका की सौंह।
काँटे सी कसके हिये, गड़ी कँटीली भौंह॥

आगे शुक्ल जी कहते हैं—"भाव-व्यंजना या रस-व्यंजना के अतिरिक्त बिहारी ने वस्तु व्यंजना का सहारा भी बहुत लिया है। विशेषतः सोभा या कान्ति, सुकुमारता, विरह-ताप, विरह की क्षीणता आदि के वर्णन में कहीं-कहीं इनकी वस्तु-व्यंजना औचित्य की सीमा का उलंघन करके खेलवाड़ के रूप में हो गई है। जैसे—

पत्रा ही तिथि पाइए, वा घर के चहुँ पास।
नित प्रति पून्योई रहै, आनन ओप उजास॥
छाले परिबे के डरन, सकै न हाथ छुवाइ।
झिझकति हियै गुलाब कै झवा झवावति पाइ॥
इत आवति चलि जात उत, चली छ सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरे सी रहै, लगी उसासन साथ॥"

अब शुक्ल जी का कथन ध्यान देने योग्य है—"अनेक स्थानों पर इनके व्यंग्यार्थ को स्फुट करने के लिए बड़ी क्लिष्ट कल्पना अपेक्षित होती है। ऐसे स्थलों पर केवल रीति या रूढ़ि ही पाठक की सहायता करती है और उसे एक पूरे प्रसंग का आक्षेप करना पड़ता है।

नए विरह बढ़ती विथा, खरी विकल जिय बाल।
बिलखी देखि परोसिन्यौं, हरषि हँसी तिहि काल॥"

इस प्रकार शुक्ल जी ने बिहारी के दोहों को रस के छींटों की कसौटी पर कसने का प्रयत्न किया है। विजयेन्द्र जी ध्वनि-सौन्दर्य को ही बिहारी का लक्ष्य बताते हैं। उन्होंने उदाहरण दे-देकर उनके दोहों की ध्वनि-शक्ति की प्रशंसा की है। उनका कहना है कि बिहारी के काव्य की आत्मा शृङ्गार है। शृङ्गार की व्यंजना ध्वनि के माध्यम से हुई है। शृङ्गार के संयोग तथा वियोग दोनों पक्ष बिहारी ने स्वीकार किये हैं।

उनके मत से संयोग-पक्ष के चित्रण में बिहारी ने अपनी मौलिक उद्भावनाओं का प्रयोग कर संयोग को आनन्द की चरम स्थिति पर पहुँचा दिया है।

प्रीतम दृग मीचत प्रिया, पानि परस सुख पाय।
जानि पिछानि अजान बनि, नैंक न होत लखाय॥

बिहारी ने अन्योक्ति के व्याज से कृपण, मूर्ख, अविवेकी, स्वार्थी, कपटी और दम्भी व्यक्तियों को भी प्रबोधा है। दूसरी ओर विद्वान, धैर्यशाली, चतुर प्रेमी तथा अभागे व्यक्तियों को समझा कर शान्त रहने की प्रेरणा दी है।

उनकी अन्योक्तियाँ हिन्दी साहित्य में सबसे अधिक शक्तिशाली हैं। काव्यत्व के कारण उनकी मार्मिकता बढ़ गई है। उनमें गहरे प्रभाव हैं।

रसात्मक अनुभूति तथा ध्वनि-शक्ति के कारण बिहारी की सतसई रसिकों तथा मर्मज्ञों, दोनों के लिए आकर्षक रही है। यह रम्य वनस्थली तो नहीं किन्तु वनस्थली ही के चुने हुए पुष्पों से निपुणतापूर्वक सजाई गई है। इसमें गम्भीर सरिता तो नहीं नैसर्गिक निर्झर अवश्य झरते हैं। इसमें वनराजों की दहाड़ तो नहीं, पक्षियों का कलरव अवश्य है।

सतसई की भाषा :

बिहारी ने रमणीय अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त भाषा का प्रयोग करके रीतिकालीन कवियों में भाषा विषयक व्यवस्था का सूत्रपात किया था। डॉ० विजयेन्द्र का मत है कि उनसे पहले किसी कवि की भाषा में ऐसा परिमार्जन दृष्टिगत नहीं होता। कारण यह है कि पहले के कवि एक ही शब्द को एक ही विभक्ति में अनेक रूपों में लिखने पर कोई दोष नहीं मानते थे। अन्त्यानुप्रास के लिए शब्द को यथारुचि ह्रस्व या दीर्घ कर लेना तो जैसे विधेय मान लिया गया था। बिहारी ने सब से पहले शब्दों की एकरूपता और प्रांजलता पर ध्यान दिया। फलस्वरूप परवर्ती कवियों की भाषा में परिष्कार का मार्ग प्रशस्त हो गया।

सतसई की भाषा ब्रज है। ब्रजभाषा का काव्यक्षेत्र बहुत विस्तृत रहा है। ब्रजप्रदेश के अतिरिक्त बुन्देलखण्ड, राजस्थान, अवध, मध्य-भारत, बिहार, गुजरात और महाराष्ट्र तक इस भाषा का काव्यभाषा के रूप में प्रचार था। शुद्ध ब्रजभाषा का प्रयोग करने वाले बहुत कम कवि हुए हैं। विजयेन्द्र जी का कहना है कि बिहारी की भाषा को हम अपेक्षाकृत शुद्ध ब्रजभाषा कह सकते हैं—"साहित्यिक ब्रजभाषा का रूप आपकी ही भाषा में सबसे पहले इतने निखार को प्राप्त हुआ। आपके बाद घनानन्द और पद्माकर ने उसे और अधिक परिष्कृत किया।"

बिहारी की भाषा में बुन्देलखण्डी और पूर्वी का प्रभाव है, घनानन्द पूर्वी प्रभाव से मुक्त हैं। बिहारी ने पूर्वी के प्रयोग कहीं तुक के आग्रह से और कहीं प्रयोग बाहुल्य के कारण स्वीकार किये हैं, किन्तु बुन्देली के प्रयोग तो सहज रूप में शैशव के अभ्यास के कारण आये हैं। साथ के लिए स्यौं, लखबी, करबी, पायबी आदि अनेक शब्द हैं।

उनकी भाषा में अनुपात की दृष्टि से संस्कृत के तत्सम परिनिष्ठित शब्दों

की संख्या अधिक है। वे अपनी समास-पद्धति में संस्कृत पदावली के कारण ही सफल हो सके हैं और गागर में सागर भर सके हैं। संस्कृत के अतिरिक्त अरबी-फारसी के इजाफा, ताफ्ता, कुतुवनुमा, रोज, कबूल, खूबी, गरज, चश्मा, जमीन, जोर, जर, तरफ, दाग, दरवार, तेज, वहार, राह, हजार, फौज, सावित, सीसी, हुकुम, नाजुक, प्याला तथा हाल इत्यादि शब्दों का प्रयोग मिलता है।

विहारी ने भाषा को प्रवाहपूर्ण तथा प्रेषणीय वनाने के लिए लोकोक्ति एवं मुहावरों का भी प्रयोग किया है। एक ही दोहे में मुहावरों की वन्दिश देखने योग्य है।

मूड़ चढ़ाएऊ रहै, पर्‌यो पीठि कच भार।
रहै गरे परि राखियो, तऊ हियें पर हार॥

एक ही दोहे में मूड़ चढ़ाना, गले पड़ना, हिय पर हार आदि मुहावरे विहारी की शक्ति का परिचय देते हैं। सतसई में ऐसे मुहावरों की कमी नहीं है।

(१) आँखिन आँखि लगी रहैं, आँखें लागति नाहिं।
(२) जब ते लागे पलक दृग, लागत पलक पलौ न।
(३) जिनहीं उरझ्यो मो हियो, तिनहीं सुरझे बार।
(४) खरी पातरी कान की, कौन वहाऊ वानि।
(५) फूली अंगन में फिरै, आंगु न आंगु समात।

शब्दों की विकृति से भी विहारी ने अर्थ की रमणीयता पर आघात नहीं आने दिया है। शब्द-सौन्दर्य अपनी सीमाओं में रहता हुआ अर्थ-सौन्दर्य को दीप्त करे तभी प्रयोग की सफलता है। विहारी की भाषा की एक विशेषता उसकी चित्रोपमता भी है।

छवि रसाल-सौरभ सने मधुर माधवी गंध।
ठौर ठौर झूमत झिपत झौंर-झौंर मधु अंध।

ध्वन्यात्मकता (वस्तु-ध्वनि) उनकी भाषा की दूसरी विशेषता है।

रनित भृङ्ग घंटावली. झरत दान मधु नीर।
मंद-मंद आवतु चल्यौ, कुंजर कुंज समीर॥

विहारी की भाषा में अथाह शक्ति और मधुर-रस का स्रोत है। उन्होंने रीतिकालीन शृंगार के अतिरिक्त वीर, रौद्र अथवा भयानक रसों को अपने काव्य

में स्थान नहीं दिया। अतः हम उनकी भाषा में ओजस्वीरूप को नहीं देख सके। यदि उनमें भूषण की सी राष्ट्र-चेतना रही होती तो निश्चित ही वे 'स्वारथ सुकृत न स्रम वृथा' से आगे बढ़ गये होते और तब पता नहीं राष्ट्र और साहित्य में उनका क्या स्थान होता। इसमें देश का दुर्भाग्य ही मानना चाहिए।

जो कुछ भी हो बिहारी ने अपनी प्रबल शक्ति से भाषा की मधुर सेवा की। उनसे भाषा को अजस्र शक्ति मिली। उस शक्ति का एक ओर दुरुपयोग तो हुआ है किन्तु दूसरी ओर उपकार भी कम नहीं हुआ है। डॉ० ग्रियर्सन के शब्द विचारणीय हैं।

Behari Lal has been called the Thompson of India, but I do not think that eiher he or any of his brother-poets of Hindustan can be usefully compared with any western-poet. I know nothing like his verses in any European Language.

अलङ्कार-योजना :—

भाषा के प्रसाधन के लिए यमक, अनुप्रास तथा श्लेष आदि शब्दालङ्कार का प्रयोग कवि लोग करते हैं। शब्दालङ्कार केवल शब्दों के चमत्कार के लिए ही नहीं—अर्थ की रमणीयता के लिए भी होते हैं, यह बिहारी के काव्य से विदित होता है। पद्माकर आदि ने तो अनुप्रास के मोह में पड़कर काव्य की हानि तक कर ली है, किन्तु बिहारी इस दोष से सर्वथा दूर रहे।

नभ लाली चाली निसा, चटकाली धुनि कीन।
रति पाली आली अनत आये बनमाली न॥

अनुप्रास के लिए एक साथ छः शब्दों का आडम्बर होने पर भी यहाँ विरह-वेदना की विवृत्ति में कोई बाधा नहीं पहुँची है। यमक के स्वाभाविक प्रयोग भी बिहारी के काव्य में अत्यन्त मनोहर हैं।

तोपर वारौं उरवसी, सुनि राधिके सुजान।
तू मोहन के उरवसी, ह्वै उरवसी समान॥

श्लेष के आकर्षक प्रयोग भी उनके काव्य में अत्यन्त स्वाभाविक हैं।

चिरजीवौ जोरी जुरै, क्यों न सनेह गँभीर।
को घटि ए वृषभानुजा, वे हलधर के बीर॥

बिहारी का उद्देश्य कवि-शिक्षक बनना नहीं था शृङ्गार भावना को काव्य के चरमोत्कर्ष पर पहुँचाने की अभिलाषा से उन्होंने सतसई का निर्माण किया और उसमें सफलता पाई।

शास्त्रीय परम्परा और मुक्तक परम्परा का सुन्दर समन्वय सतसई में हुआ है। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के शब्दों में बिहारी न रीति-बद्ध, न रीतिमुक्त कवि थे, वे रीति-सिद्ध कवि थे। कदाचित ही कोई ऐसा अलङ्कार हो जिसका प्रयोग बिहारी ने न किया हो। बिहारी के एक-एक दोहे में सोलह-सोलह अलङ्कारों की छटा देखकर आश्चर्य होता है।

यह मैं तोही मैं लखी भगति अपूरब बाल।
लहि प्रसाद मालाजु भो तन कदम्ब की माल॥

इस एक दोहे में पं० कृष्ण बिहारी मिश्र ने अनन्वय, परिकर, परिसंख्या, द्वितीय तथा छठी विभावना, सम, लेश, पिहित, हेतु, पर्यायोक्ति, तुल्ययोगिता, तद्गुण अनुगुन, लुप्तोपमा, छेकानुप्रास, यमक और अद्भुत अलङ्कारों की ओर संकेत किया है।

लक्ष्य-ग्रन्थ होते हुए भी सतसई किसी भी लक्षण-ग्रन्थ से उत्कृष्ट है। स्थानाभाव के कारण कुछ ही और अलंकारों के उदाहरण दिये जा सकते हैं।

असंगति—दृग उरझत टूटत कुटुम,जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन हिये, दई नई यह रीति॥

विभावना—मन न मनावन को करे, देत रुठाइ रुठाइ।
कौतुक लागे पिय पिया खिजहूँ रिझवत जाइ॥

दृष्टान्त—कहा भयो जो बीछुरे मोमन तो मन साथ।
उड़ी जाहु कितहू गुड़ी तऊ उड़ायक हाथ॥

उत्प्रेक्षा—सोहत ओढ़े पीत पट स्याम सलोने गात।
मनौ नील मनि सैल पर आतप पर्‌यो प्रभात॥

विरोधाभास—तंत्री नाद कवित्त-रस, सरस राग रति-रंग।
अनबूड़े बूड़े, तीरे जे बूड़े सब अंग॥

बिहारी की कला उनकी मान्यताओं तथा निपुणता आदि को समझने के लिए यहाँ अन्तिम दोहा अच्छा उदाहरण है। शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार का उत्कृष्ट उदाहरण तो है ही ध्वनि का भी श्रेष्ठ उदाहरण है। डूबना और तरना तो जलाशय में ही सम्भव है, कवित्त-रस या सरस-राग जैसे अमूर्त-तत्त्व

में नहीं। अतः इनका अर्थ ध्वनि-शक्ति से रसास्वादन कराता है। रस तथा डूबने-तरने का विश्लेषण करके, न केवल उन्होंने रस का महत्त्व समझाया है और न केवल इसी विश्लेषण को सरस दोहे में उतारा है बल्कि उनका हर दोहा ऐसा है जिसमें पाठक डूबते और उतराते रहते हैं।

सारांश यह कि बिहारी का यह दोहा विचित्र है। रस, ध्वनि तथा अलंकारों का एक ही संयुक्त उदाहरण भी है और परिभाषा भी है। स्वयं लक्ष्य भी है और लक्षण भी है। दूसरी ओर रीतिकालीन शृङ्गार की प्रधानता की ऐतिहासिक ध्वनि भी इसी में निहित है। यहाँ तंत्री-नाद, कवित्त तथा राग रसों के साथ केवल रति-रंग को रखकर शृङ्गार-रस की सर्व-रस-श्रेष्ठता सिद्ध करके रीतिकाल का ऐतिहासिक परिचय भी दिया है। इस दोहे से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि बिहारी विविध कलाओं के पारखी थे। जैसा कि हम देखते हैं यहाँ वाद्यों में तार-यंत्र, संगीत तथा कवित्त आदि विविध रूपों का गूढ़ परिचय दिया गया है। इस दोहा में कला की पूर्ण इकाई है। तार-यंत्र का स्वर, राग की लय, कविता का भाव, शृङ्गार के स्थूल तथा सूक्ष्म अंग आदि संयुक्त होकर किस जीवन तथा रस को प्रतिध्वनित करते हैं! इसे तो वे ही समझ सकते हैं जो बिहारी के इस दोहे में डूबे। इस एक दोहे में सतसई, बिहारी कवि तथा रीति-काल का पूर्ण परिचय भरा हुआ है। वह परिचय सरस, ध्वन्यात्मक तथा अलंकृत है।

इस विश्लेषण से संक्षेप में अनुमान लगाना चाहिए कि बिहारी रसवादी हैं, या ध्वनिवादी हैं अथवा अलङ्कारवादी हैं अथवा समन्वयवादी हैं? बिहारी की कला साक्षात् पूर्णकला है। उनकी कला के वर्णानाम्, अर्थसंघानाम् तथा रसानाम् का छन्दसाम् में पूर्ण समुच्चय है। उससे हिन्दी-साहित्य का पूर्ण मंगल हुआ। काव्य कला की अद्भुत सेवा हुई। खेद है कि ऐसे महान् व्यक्तित्व की कला से चेतना के स्वर न फूट सके।

छन्द-योजना : सामासिकता : गागर में सागर:—

सतसई की रचना विविध छन्दों में नहीं हुई है। दोहा अथवा सोरठा जैसे छोटे छन्द के द्वारा बिहारी को बड़े कठिन काम करने पड़े हैं। रहीम ने दोहा के सम्बन्ध में कहा था :—

दीरघ दोहा अरथ के आखर थोरे आहिं।
ज्यों रहीम नट कुंडली सिमिटि कूदि चढ़ि जाहिं॥

इस छन्द का प्रयोग कबीर, जायसी, तुलसी, वृन्द तथा रहीम आदि कवियों के साहित्य में पर्याप्त मात्रा में हो चुका था। बिहारी के दोहों में न्यून अथवा अधिक पदत्व दोष कहीं नहीं।

यह निश्चित करना कठिन है कि बिहारी में भाषा-शक्ति अधिक थी या कवित्व (कल्पना तथा भाव-प्रवण) शक्ति। दोनों शक्तियों में हम अद्भुत चमत्कार देखते हैं। एक ओर भावों का उमड़ता सागर, जिसमें कल्पना की रंग-बिरंगी लहरियाँ तथा दूसरी ओर उस समूचे सागर को गागर में समेटने वाली जादू की शक्ति और कला। बिहारी अवश्य जादूगीर कलाकार हैं।

आलोचना साहित्य में इस कला को समास-पद्धति की संज्ञा दी गई है। विशेषता यह है कि बिहारी की यह पद्धति संस्कृत-पदावलियों के अनुकरण के सहारे नहीं खड़ी की गई है।

> बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाइ।
> सौंह करै, भौंहनि हँसै, दैन कहैं नटि जाइ॥

इससे बढ़कर मौलिक उदाहरण क्या हो सकता है? यहाँ समास-पद्धति कहें, या गागर में सागर कहें, अथवा 'देखत में छोटे लगें घाव करें गम्भीर' कहें, या कला का जादू कहें, अथवा रीतिकालीन चमत्कार कहें, या प्रतिभा की दिव्य अभिव्यक्ति कहें, अथवा घटना का संयोग कहें? इस एक रचना के कला-सौन्दर्य की 'सबी' खींचने के लिए यदि सम्पूर्ण 'जगत के चतुर चितेरे' बैठ जाँय तो अवश्य ही उनका 'गरब-गरूर' उड़ जायगा और वे बिचारे 'कूर' सिद्ध हो जायँगे क्योंकि उस सौन्दर्य की स्थिति जड़वत स्थिर नहीं है। उसमें नित्य नवीनता की गति है।

इस दोहे का संक्षिप्त अर्थ इस प्रकार है—राधिका के मन में कृष्ण से बतरस करने की लालच पैदा हुई। एक उपाय निकाल लिया और उनकी वंशी चुराकार रख दी। अब क्या पूछना, कृष्ण को उलझना पड़ा। वे राधिका से वंशी का पता पूछने लगे। स्त्री स्वभाव से राधिका सौंह करके (शपथ खाकर) विश्वास दिलाती हैं कि भला वंशी का पता उन्हें क्या मालूम है? यदि वे जानतीं तो प्रिय-कृष्ण से कैसे छिपातीं। इस सौंह से कृष्ण को विश्वास सा होने लगा। चतुर राधिका ने ताड़ लिया कि अब तो शिकार हाथ से निकल जायगा। बस चट अपनी भौंहों में हँस देती हैं। हँसी का यह तरीका ही खतरनाक है।

'इकरार भी है इनकार भी है।'

इसी तरीके में सारा कौशल छिपा है। राधिका खुल कर नहीं हँसतीं क्योंकि पूरा भेद खुलने का भय है। उधर भौंहों में हँसकर कृष्ण को चकमे में डाल देती हैं। कृष्ण अपनी सारी बुद्धि लगाकर अनुमान करने लगते हैं कि यह हँसी सिद्ध करती है कि वंशी राधिका के पास है। राधिका पुनः नट जाती हैं और 'सौंह' करने तथा भौंहों में हँसने का वही क्रम चलता है।

इसी कौशल को देखते हुए शुक्ल जी ने कहा था—'मुक्तक कविता में जो गुण होना चाहिए वह बिहारी के दोहों में अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचा है, इसमें कोई सन्देह नहीं।'

बिहारी की कविता में कल्पना की समाहार-शक्ति और भाषा की समास-शक्ति का सुन्दर समन्वय है। उनके प्रत्येक दोहे का अपना अलग अस्तित्व है, जिनके प्रसंग भी अलग-अलग हैं। उनकी समास-पद्धति में शब्द-लाघव का चमत्कार मर्म की सृष्टि करने में सहायक होता है। बिहारी की इस कला की व्याख्या करते हुए पद्मसिंह शर्मा ने लिखा है :—

"जरा से दोहे में जो अर्थ सिमटा बैठा था वह वहाँ से निकलते ही इतना फैल गया कि कुण्डलियों और कवित्तों के बड़े मैदानों में नहीं समा सका। मानो गंगा का समृद्ध प्रवाह है जो शिवजी की लटों से निकलकर किसी के काबू में नहीं आता। ऐसी भागीरथी के प्रवाह को किसी बड़े गड्ढे में भरकर रखना सामर्थ्य से बाहर है।"

पहले जो 'तंत्री-नाद कवित्त-रस' वाले दोहे की संक्षिप्त व्याख्या की गई है वहाँ हम गागर में बाँधे गये विराट सागर का दर्शन कर चुके हैं। सतसई के एक-एक गागर में एक-एक सागर बँधा बैठा है। ऊपर आचार्य पद्मसिंह ने बिहारी के दोहों में निहित रस-धारा की तुलना गंगा से की है। उस धारा में रस से सराबोर करने तथा शीतलता प्रदान करने की शक्ति तो है किन्तु उसमें गंगा की सभी लोकमंगल की प्रवृत्तियाँ नहीं हैं। इस धारा में जड़ी-बूटियों के ऐसे रस बहकर नहीं आ सके हैं जिनसे जीवों के विविध रोग दूर होते हैं। इस धारा का स्रोत रीतिकाल के पर्वत से फूटा है, गंगोत्री से नहीं। इसकी धारा दजला-फरात से टक्कर ले सकती है गंगा से कदापि नहीं। किन्तु तत्कालीन पराभव के रेगिस्तान में इस शीतल-सरिता का कम महत्त्व नहीं।

बिहारी के गागर में बाँधे गये सागरों की एक विशेषता है। सभी सागरों में, कोटि की एक ही श्रृंखला है। अन्य स्वादों तथा गुणों से युक्त जलों के बस छींटे मात्र हैं क्योंकि उन एक ही कोटि के महासागरों में, उनका कोई अस्तित्व

नहीं। वे सागर कैसे हैं जिनमें जीवन-चेतना के बड़वानल का नाम तक नहीं। यदि कलाकार बड़वानल को अपनी शक्ति से दवाये रखने में सफलता मानता रहा हो अथवा विवशता से उसने फूटने न दिया हो तो इसे चिन्तनीय दुर्भाग्य समझना चाहिए।

जिस प्रकार का भी सागर रहा हो बिहारी उसे अपने गागर में समेट सके हैं। काव्य-मर्मज्ञ उनकी इस कला की प्रशंसा हर युग में करते रहेंगे। हिन्दी की काव्य-कला अपने इस प्रिय लाड़ले पर गर्व करती रहेगी और दूसरी ओर सचेत जन-मानस उस महान प्रतिमा के दुरुपयोग पर दुर्भाग्य की कल्पना से आँसू बहाएगा।

———

भूषण का जीवन-परिचय

इनके जन्म सम्वत् के सम्बन्ध में मतभेद है। शिवसिंह सेंगर ने इनका जन्म सं० १७३८ तथा मिश्रबन्धुओं ने सं० १६९२ तथा शुक्ल जी ने सं० १६७० निर्धारित किया है। अधिकतर विद्वान इनको चिन्तामणि तथा मतिराम कवियों का भाई मानते हैं। भूषण का जन्म तिकवाँपुर (कानपुर) के कान्यकुब्ज कुल में बताया जाता है।

दुज कन्नौज कुल कश्यपी रत्नाकर सुत धरि।
बसत त्रिविक्रमपुर सदा, तरनि तनूजा तीर॥

मीर गुलामअली तथा चिटनीस ने भी लिखा है कि ये मतिराम के भाई थे। भूषण के वास्तविक नाम का पता नहीं।

कुल सुलंकि चित्रकूट पति, साहस सील समुद्र।
कवि भूषण पदवी दई, हृदयराम सुत रुद्र॥

इस प्रकार सोलंकी राजा रुद्रसिंह द्वारा इन्हें भूषण की उपाधि मिली थी। भगीरथ प्रसाद दीक्षित ने भूषण को मतिराम का भाई होने में सन्देह प्रगट किया है। वे तो भूषण को शिवाजी का समकालीन भी नहीं मानते। मिश्र-बन्धुओं का मत है कि भूषण की रुद्रसाह से भेंट सं० १७२८ के पूर्व ही हो चुकी थी और छत्रसाल से सं० १७२८ में भेंट हुई। जो कुछ भी हो इतना तो निश्चित है कि शिवाजी के दरबार में भूषण रहते थे।

भूषण की कृतियाँ

शिवराज-भूषण :—

रीतिकालीन प्रभाव में लिखा गया अलङ्कार ग्रन्थ है। अलंकारों के उदाहरणों में शिवाजी का यशगान है। उसमें अलङ्कारों के लक्षण तथा उदाहरण शुद्ध नहीं हैं। वास्तव में भूषण में राष्ट्र-चेतना थी और उन्होंने व्यर्थ ही लकीर पीटने का प्रयास किया था। उनके हृदय में एक पुकार थी जिसका विस्फोट उनकी स्वतंत्र रचनाओं में हुआ।

शिवा-बावनी :—

ओजपूर्ण भाषा में लिखे गये ५२ स्वतंत्र छन्द हैं। भूषण की जलती हुई आत्मा का भीषण स्वर इन्हीं छन्दों में मुखरित हुआ है।

छत्रसाल-दशक :—

बुन्देलखण्ड-केशरी अपनी मातृभूमि की रक्षा में लगे हुए थे। भूषण उनके दरबार में भी गये थे। भूषण ने उनकी प्रशंसा में दस अमूल्य छन्दों की रचना की थी।

अन्य-रचनाएँ :—

ऐसा कहा जाता है कि भूषण ने भूषण-उल्लास, भूषण-हजारा और दूषण-उल्लास नामक तीन अन्य ग्रन्थों की रचना की थी। तीनों ही कृतियाँ अप्राप्य हैं। कुछ फुटकर छन्द भी मिलते हैं जिनकी संख्या ६५ के लगभग है। इनमें ३६ छन्द शिवाजी की प्रशंसा के, १० छन्द शृंगार के तथा शेष अन्य राजाओं की प्रशंसा के हैं।

राष्ट्रीय कवि भूषण

लोग कभी-कभी भूषण की कविताओं पर जातीयता तथा साम्प्रदायिकता का आरोप करते हैं। उनका कहना है कि भूषण ने द्वेष के कारण मुसलमानों की निन्दा की है। महात्मा गाँधी इनकी कविताओं को राष्ट्र-विरोधी कहा करते थे। इसी विरोध के कारण उनकी रचनाओं को पाठ्य-पुस्तकों से निकाल देने का प्रयास भी किया गया।

भूषण की रचनाओं को यदि हम तत्कालीन राष्ट्रीयता की कसौटी पर अथवा आज की कसौटी पर कसें तो यह निर्विवाद सिद्ध हो सकता है कि उनमें राष्ट्रीय-विरोधि तत्त्व नहीं हैं। पहले हम तत्कालीन राष्ट्रीयता को लेते हैं। इस देश के लिए मुसलमान विदेशी तो थे ही, ऊपर से औरंगजेब की पाशविकता ने कहर ढा दिया। उस अत्याचारी के विरुद्ध आवाज न उठाने में ही कायरता और अराष्ट्रीयता थी। दुर्भाग्य से वह आततायी मुसलमान था, नहीं तो भूषण की कृतियों को राष्ट्रविरोधी कहने का दुस्साहस कौन करता?

इस कसौटी पर यदि भूषण राष्ट्र-विरोधी ठहरते हैं तो अंग्रेजों के विरुद्ध आन्दोलन करने वाले महात्मा गान्धी से बढ़कर कौन राष्ट्र-विरोधी होगा? मुसलमानों की भाँति अंग्रेज भी तो सैकड़ों वर्ष पूर्व ही से देश में आ चुके थे? भारत छोड़ो का नारा क्या राष्ट्र विरोधि था? इन अंग्रेजों से उन आततायियों की क्या तुल्ना है? संसार के किस भागमें कब मानवता पर इतने पाशविक अत्याचार हुए? ऐसे अत्याचार तो पशु भी नहीं कर सकते। किस आराष्ट्रीय बुद्धि से लोग भूषण की कृतियों का मूल्यांकन करते हैं?

निरपराध मुसल्मानों के प्रति शिवाजी के वर्तावों की प्रशंसा मुसल्मान इतिहासकार भी करते हैं।

आज की राष्ट्रीयता की कसौटी पर भी भूषण की कृतियाँ अराष्ट्रीय नहीं ठहराई जा सकतीं। आततायी का विरोध करना यदि अराष्ट्रीय कृत्य समझा जाने लगेगा तब राष्ट्रीयता किसे कहेंगे ? क्या मुसलमान बन्धु औरंगजेब को अपना प्रतिनिधि नेता मानने के लिए तैयार हो सकते हैं ? पाकिस्तान को छोड़कर संसार का कोई भी मुसलिम राष्ट्र औरंगजेब के आदर्शों को पाक नहीं मान सकता। पता नहीं भारतीय आलोचक अपनी राष्ट्रीयता का कैसा मानदण्ड रखते हैं। हमारी संस्कृति में रावण जैसे ब्राह्मण का घोर विरोध किया गया। उस पर प्रहार करने वाले कितने काव्यों की रचना हुई। तो फिर दानवों को भी लज्जित करने वाले औरंगजेबों के विरुद्ध आवाज उठाना, किसी भी देश की परिभाषा के अनुसार, अवश्य राष्ट्रीय-कृत्य है। वह आवाज जिस साहित्य में अभिव्यक्त हो, उसकी पूजा राष्ट्रीय-स्तर पर हर सम्प्रदाय के लोगों को करनी चाहिए। जिन लोगों की आत्मा इसके लिए तैयार न हो वे निश्चित ही विदेशी हैं।

भूषण की कृतियों को राष्ट्रीय ठहराने के लिए उपर्युक्त तर्क पर्याप्त हैं। उक्त पागलपन के निवारण के लिए उदारचेता भूषण की कुछ ऐसी पंक्तियों को उद्धृत किया जा रहा है जिनसे तो आँखें खुल ही जानी चाहिए।

> बब्बर अकब्बर हुमायूँ हद्द बाँधि गये,
> हिन्दू और तुरक की, कुरान बेद ढब की।
> और बादशाहन में दूनी चाह हिन्दुन की,
> जहाँगीर शाहजहाँ साख पूरे तन की॥

इन पंक्तियों से क्या सिद्ध होता है ? बहुत प्रयत्नों तथा तर्कों के बाद नारद जी कंस को आठ शिशुओं का वध करने के लिए तैयार कर सके। बड़े कष्ट से कंस जैसे आततायी ने इस कुकृत्य को स्वीकार किया। उसे अपने प्राण का भय भी था। औरंगजेब का तो यह नित्य-धर्म था। उसका विरोध न करना ही कवियों के लिए अराष्ट्रीय था। यहाँ हम डॉ० उदयनारायण तिवारी का एक कथन उद्धृत कर रहे हैं।

"भूषण के कुछ छन्दों में म्लेच्छ वंश के प्रति एक-आध स्थल पर कुछ असम्मानपूर्ण भाव प्रगट हुए हैं पर ध्यान से देखा जाय तो वहाँ म्लेच्छ शब्द से भूषण का अभिप्राय समस्त मुसलमान जाति से न होकर उस विशिष्ट वर्ग से

था जिनका औरंगजेब और उसकी तानाशाही से सम्बन्ध था। उसके राजकीय अधिकारी वर्ग केवल मुसल्मान ही लोग थे, यह बात नहीं है। क्योंकि इसी सिलसिले में भूषण ने राजा जसवन्तसिंह तथा उदयभान की भी निन्दा की है। यदि जातिगत विद्वेष की भावना से प्रेरित होकर उन्होंने औरंगजेब की निन्दा की होती तो कोई कारण न था कि वे उपर्युक्त हिन्दू नरेशों की निन्दा करते।"

वीर-रस के श्रेष्ठ कवि भूषण

वीर-रस का स्थायी भाव उत्साह है। यही उत्साह जब तीव्रतम अवस्था को पहुँच जाता है तो उस अनुभूति को वीर-रस की संज्ञा दी जाती है। भूषण प्रधानतः वीर-रस के कवि हैं। उनके हृदय में देश-भक्ति की भावना का समुद्र उमड़ रहा था। देशोद्धार उनका लक्ष्य था। उनको योग्य नायक भी मिल गये। इससे उनके हृदय में आशा तथा उत्साह की लहरें उठने लगीं। उनके उत्साह की प्रबल तरंगें शिवाजी के शौर्य-चित्रणों में लहराती हुई, वीर-रस का संचार करने वाली हैं।

तुलसी के समान वल्कि उनसे भी स्पष्ट शब्दों में राष्ट्र के इस निर्भीक तथा वीर सेनानी ने रावणत्व के विरुद्ध स्वर ऊँचा किया। उसके भीम-गर्जन से महाराष्ट्र लहराने लगा और दिल्ली की नीवें हिलने लगी। उसके कवित्व का तेज शिवा जी की तलवारों में चमकने लगा। उसकी कविता के रस ने प्रत्यक्ष ही इतिहास की दिशा बदल दी। उस रस की संजीवनी पीकर शिवाजी अमर हो गये तथा छत्रसाल महाराज में नयी कान्ति आ गई।

भूषण की वीर-रस की कविताएँ चापलूसी में नहीं लिखी गई थीं। उनके भीतर देशोद्धार की प्रचण्ड प्रेरणा थी। पाठकों के मनोरंजन के लिए नहीं लिखी गई थीं वल्कि-उनमें ऐसा रस था जिसने मृतक जाति में प्राण डाल दिया वह रस आततायियों के लिए हलाहल सिद्ध हुआ।

उनकी कविताओं में वीर-रस का समुद्र उमड़ रहा था। भूषण को उसे गागर में बाँधने की न तो फुर्सत थी और न आवश्यकता थी। उस सागर के अन्तस्तल में ऐसा बड़वानल धधक रहा था जिसके विस्फोट से रावणत्व ध्वस्त होने वाला था। उस बड़वाग्नि की गगन को चूम लेने वाली लपटों ने निश्चित ही रावणत्व को झुलस दिया। उन लपटों से ऐसा प्रकाश फूटा जिसने पीड़ित जनता के हृदय को प्रकाशित कर दिया। उस सागर से उठे हुए बादलों ने

मंगल की वर्षा की। यदि शिवाजी के समान नायक तथा भूषण जैसा गायक न रहा होता तो आज इतिहास सर्वथा भिन्न होता।

दानवीर, धर्मवीर, दयावीर तथा युद्धवीर, चार प्रकार के वीर बताये जाते हैं। वे चारों ही वीर-रस के स्रोत होते हैं। शिवा जी में इन चारों का समन्वय है। भूषण के साहित्य में शिवाजी का देशोद्धारक-वीर-रूप ही अधिकतर चित्रित हुआ है। यहाँ एक ऐसा छन्द है जिसमें वीर-रस के चारो रूप हैं।

दान समै द्विज देखि, मेरहू कुबेरहू की,
संपति लुटाइबे को हियो ललकत है।— (दानवीर)

साहि के सपूत सिव साहि के बदन पर,
सिव की कथान में सनेह झलकत है॥— (धर्मवीर)

भूपन जहान हिन्दुवान के उबारिबे को,
तुरकान मारिबे को वीर बलकत है।— (दयावीर)

साहिन सो लरिबे को चरचा चलत आनि,
सरजा के दृगनि उछाह छलकत है॥— (युद्धवीर)

भूषण ने शिवाजी के युद्धों का बड़ा ही सजीव चित्र खींचा है।

छूटत कमान अरु गोली तीर बानन के,
मुसकिल होत मुरचान हूँ की ओट में।
ताहि समय सिवराज हुकुम कै हल्ला कियो,
दावा बाँधि पर्यो हल्लावीर बर जोट में॥
भूषण भनत तेरी हिम्मत कहाँ लौं कहौं,
किम्मति इहाँ लगि है जाकी भट झोट में।
ताव दै दै मूँछन, कँगूरन पै पाँव दै दै,
अरि मुख घाव दै दै कूदि परैं कोट में॥

यहाँ शिवाजी की आज्ञा पर उत्साह से उन्मत वीर सैनिकों के युद्ध तथा उनकी प्रगति का चित्र खींचा गया है। शत्रु आलम्बन हैं। शत्रुओं के अस्त्र तथा शिवाजी की आज्ञा उद्दीपन हैं। मूछों पर ताव देना तथा शत्रुओं के मुख पर चोट देते हुए किले के कँगूरों पर चढ़ दौड़ना आदि अनुभाव हैं। धृति तथा उग्रता आदि संचारी भाव हैं। गोलियों तथा तीरों की वर्षा, मोर्चों की भीषणता के बीच में शिवा जी की ललकार, तथा उनके सैनिकों की भयंकर प्रगति का चित्रण, प्राण फूकने वाला है। इस छन्द की सजीव भाषा में

कहीं पर शब्द स्वयं गोली और तीर बनकर छूट रहे हैं, कहीं मोर्चा लगा रहे और किले में धावे के साथ उछल-उछल कर कूद रहे हैं।

आगे शिवाजी की युद्ध-यात्रा का एक चित्र है। इस छन्द के शब्दों में पूरी सेना की हलचल है। शब्द-योजना में कहीं वेग, कहीं धक्कम-धुक्की और कहीं आकाश-पृथ्वी को एक कर देने की प्रवृत्ति दिखाई दे रही है।

'साजि चतुरंग वीर-रंग में तुरंग चढ़ि,
सरजा शिवाजी जंग जीतन चलत हैं।'

यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि भूषण के शब्द, उनके शिवत्व को अपनी पीठ पर बिठा कर उमंग में उछल रहे हैं। साथ ही कूच करने वाले शिवत्व की व्यवस्थित रण-यात्रा में एक लहर सी उठती दिखाई देती है। आगे भूषण के शब्दों से निकलती हुई, नगाड़ों की ध्वनि सुनिये। साथ ही पर्वतों को उखाड़ फेंकने वाली उनकी गम्भीर गति भी दर्शनीय है।

'भूषण भनत नाद बेहद नगारन के,
नदी-नद मद गैबरन के रलत हैं॥
ऐल फैल खैल भैल खलक में गैल गैल,
गजन की ठैल पैल सैल उसलत हैं।

भूषण के शब्दों पर सवार होकर उनका शिवत्व, खलक की गली-गली में फैलता हुआ अशिव तत्त्वों में खलबली मचा रहा है। भूषण के शब्दों की रौंद से भयंकर धूल, उठकर सूर्य को ढँक लेती है, फिर तो धरती भी उनके शब्दों को नहीं सम्हाल पाती। अन्तिम पंक्तियों की विस्फोटक ध्वनि धरती की नींद तोड़ने वाली है :—

तारा सो तरनि धूरि-धारा में लगत जिमि,
थारा पर पारा पारावार यों हलत है॥

आगे भूषण की शब्दावली की ज्वालामुखी से शिवत्व के गोले छूट रहे हैं। उनकी विश्व-व्यापिनी धड़क, कितनी विस्फोटक है!

बाने फहराने घहराने घंटा गजन के,
नाहीं ठहराने राव राने देश देश के।
नग भहराने ग्राम-नगर पराने सुनि,
बाजत निसाने सिवराज जू नरेस के॥
हाथिन के हौदा उकसाने कुम्भ कुञ्जर के,
भौन के भजाने अलि छूटे लट केस के।

दल के दरारेन ते कमठ करारे फूटे,
केरा के पात विहराने फन सेस के ॥

कायर लोग भूषण के उद्‌गारों में अतिशयोक्ति देख सकते हैं। जो देश के वीर-प्रहरी सीमान्त पर प्रलयङ्कर अग्नि-वर्षा के बीच अपने प्राणों की आहुति देते हैं उनकी आत्मा से उठती हुई ज्वाला के प्रकाश में यदि भूषण की शब्दावली को पढ़ा जाय तब सत्यार्थ का बोध हो सकेगा। उन भारत माता के लालों के लिए जीवन तथा मृत्यु, स्वर्ग तथा धरती, आकाश तथा पाताल में क्या अन्तर है ? उन वीरों के उत्साह को कैसे नापा जा सकता है ! उन योद्धाओं के रक्त से सुरक्षित देश के भीतर, मौज से भ्रष्टाचार में लीन समाज यदि इन महान् कवियों की शब्दावली में अतिशयोक्ति देखता है तो बड़ी घृणा होती है।

भूषण के एक-एक शब्द में सच्चे उत्साह की चिनगारियाँ हैं। उन चिनगारियों में रोष की ज्वाला, भयानक तेज तथा प्रचण्ड प्रहारक शक्ति है। अतिशयोक्ति कहीं नहीं। अन्य कवियों की भाँति वे कोरी कल्पना के कवि नहीं हैं। युद्ध के मैदान के कवि हैं। भूषण वीर-रस के श्रेष्ठ कवि हैं और हिन्दी-साहित्य भर में इस रस के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं।

भूषण की काव्य-कला

भूषण ने किसी प्रबन्ध काव्य की रचना नहीं की। भूषण के चारो ओर उग्र वातावरण था। शान्तिपूर्वक बैठकर वे व्यवस्थित प्रबन्ध की रचना करने की स्थिति में नहीं थे। भूषण एक ऐसे कवि सेनानी हैं जिन्हें इतिहास के भयंकर रोमांचकारी-मोर्चे पर जीवन पर्यन्त मोर्चेबन्दी करनी पड़ी। उस योद्धा ने अपनी मौलिक प्रतिभा से डँटकर संग्राम किया। उसके छन्दों में चतुरंगिणी सेना की ललकार है। उसकी शब्द-योजना में कहीं व्यूह-रचना है तो कहीं भीषण प्रहारक गति है। उसके एक-एक शब्द में तलवारों की चमक, तीरों की लपक तथा भयंकर गोलों की धमक है। भूषण का एक-एक शब्द एक-एक योद्धा सैनिक है। उनकी करामात देखते ही बनती है। भूषण की कला से एक ऐसी ज्वाला उठी जिसने इतिहास की धारा ही मोड़ दी।

भूषण के नायक, रासो ग्रन्थों के प्रेमी नायक नहीं हैं। राष्ट्र को गड्ढे में ले जाने वाली कुत्सित-प्रेम-वासना से प्रेरित होकर उन्होंने युद्ध नहीं किये। असहाय जनता के उद्धार तथा राष्ट्र की रक्षा के लिए सब कुछ किया। ऐसे

पवित्र नायक के गायक हमारे भूषण कवि हैं। इस प्रकार निम्न आदर्शों वाले वीरगाथाकालीन चारणों से भूषण की कोई तुलना ही नहीं की जा सकती। भूषण के आदर्शों में तुलसी के रामत्व की हुंकार है। तुलसी के रामत्व को, वास्तविक युद्ध-क्षेत्र तो भूषण के साहित्य में मिला। उस रामत्व की रावणत्व से वास्तविक टक्कर तो विक्रम की इस अठारहवीं शताब्दी में हुई। सच पूछा जाय तो तुलसी और भूषण के बीच का काल, राम के वनवास का काल है।

इस यथार्थ और वास्तविक सन्दर्भ का ध्यान रखते हुए भूषण की काव्य-कला का मूल्यांकन करना चाहिए। प्रारम्भ में, जैसा कि हम शिवराज-भूषण में देखते हैं, भूषण ने रीतिकालीन धारा को पकड़कर उसे ही पवित्र सागर की ओर मोड़ना चाहा किन्तु शीघ्र ही वे इस बवाल को किनारे छोड़कर वास्तविक मैदान की ओर दौड़ पड़े। छत्रसाल-दशक और शिवा-बावनी में उनकी शक्ति देखने योग्य है।

रस-योजना :—

भूषण वास्तव में वीर-रस के कलाकार हैं। उन्होंने समझ लिया था कि मानवता को बचाने वाली शक्ति इसी रस में है। किसी भी जाति और राष्ट्र में इसी रस के द्वारा प्राणों का संचार होता है। इसके लिए भूषण को योग्य नायक भी मिल गये। जिन शिवाजी का गुण-गान उन्होंने किया, वे अलौकिक पुरुष नहीं थे, प्राकृत जन ही थे किन्तु इसके लिए गिरा (सरस्वती) को सिर धुन कर पछताना नहीं पड़ा। सत्य का कैसा उद्घाटन है :—

ब्रह्मा के आनन तें निकसे ते अत्यन्त पुनीत तिहूँ पुर मानी।
राम-युधिष्ठिर के बरने बलमीक हूँ व्यास के अंग सुहानी॥
भूखन यों कलि के कवि-राजन राजन के गुन गाइ न सानी।
पुन्य चरित्र सिवा-सरजा-सर न्हाइ पवित्र भयी पुनि बानी॥

वीर-रस के सहयोगी, अन्य रसों की प्रबल योजना भी भूषण के काव्य में मिलती है जिनमें रौद्र, भयानक और वीभत्स मुख्य हैं। रौद्र का स्थायी-भाव क्रोध, भयानक का भय तथा वीभत्स का स्थायीभाव घृणा है। अन्याय के प्रति क्रोध भी वीरता का एक लक्षण है। युद्ध मानवता के लिए अभिशाप है किन्तु उसकी रक्षा के लिए अनिवार्य है। युद्ध से बढ़कर भयावना दृश्य भी क्या हो सकता है ! अन्त में उसका वास्तविक चित्र बड़ा ही वीभत्स होता है।

भूषण ने युद्धों का चित्रण न तो काल्पनिक किया है और न तटस्थ

दर्शक रूप में ही। मानवता की रक्षा के प्रश्न को लेकर उनके हृदय में एक ज्वाला भड़क उठी थी। उनके काव्य के एक-एक शब्द उस ज्वाला की चिनगारियाँ हैं। इस छन्द में रौद्र-रस की एक योजना प्रस्तुत की जा रही है। औरंगजेब के दरबार में शिवाजी को अनुचित स्थान पर खड़ा किया गया था।

सबन के ऊपर ही ठाढ़ रहिबे के जोग,
ताहि खरो कियो छ हजारिन के नियरे।
जानि गैर मिसिल गुसीले गुसा धरि मन,
कीन्हों न सलाम न वचन बोले सियरे॥
भूषन भनत महावीर बलकन लाग्यो,
सारी पातसाही के उड़ाय गये जियरे।
तमक तें लाल मुख सिवा को निरखि भये,
स्याह मुख नौरंग, सिपाह मुख पियरे॥

भयानक-रस की कुछ पंक्तियाँ देखने योग्य हैं:—

चकित चकत्ता चौंकि चौंकि उठै बार बार,
दिल्ली दहसति चितै चाह खरकति है।
सिंह सिवराज तेरे धौंसा की धुकार सुनि,
केते पातसाहन की छाती धरकति है॥

यहाँ एक बीभत्स चित्र है:—

किलकति कालिका कलेजे को कलल करि,
करिकै अलग भूत भैरो तमकत हैं।
कहूँ रुंड मुंड कहूँ कुंड भरे सोनित के,
कहूँ बखतर करी झुण्ड झमकत हैं॥

पिछले पृष्ठों पर वीर-रस के उदाहरण दिये जा चुके हैं। प्रत्येक रस के छन्द भूषण के साहित्य में मिलते हैं। अद्‌भुत, करुण तथा शान्त के उदाहरण कम नहीं हैं किन्तु ये सबके-सब उनके प्रधान वीर-रस के सहायक हैं। समग्र हिन्दी-साहित्य में भूषण ही वीर-रस के एकमात्र यथार्थ श्रेष्ठ कवि हैं।

युद्ध-विहीन समाज की कल्पना, कोरी कल्पना मात्र है। कोई भी वैज्ञानिक चमत्कार मनुष्य की शोषक, हिंसक तथा पाशविक प्रवृत्तियों की शृङ्खला नहीं तोड़ सकता। मनुष्य इतना आततायी है कि अपने अल्प स्वार्थों

के लिए निरीह पशु, पक्षियों तथा मानवों का रक्त बहाता है। उस नीच ने इस कुकृत्य को कहीं-कहीं अपना धर्म बना लिया है। अपने इन पतित कुकृत्यों के विस्तार के लिए वह संगठित शक्ति का जब निर्माण करने लगता है तब तो मानवता के सामने घोर संकट आ जाता है। विश्वास रखना चाहिए कि इस संकट का निवारण, बिना युद्ध के कभी नहीं हो सकता। मनुष्य के अतिरिक्त सृष्टि के हर प्राणी पर विश्वास करना चाहिए। प्रमाण सामने भी है। भूषण की चेतना में यथार्थ की यही अनुभूतियाँ हैं।

अलङ्कार-योजना :—

"सिव चरित्र लखि यों भयो, कवि भूषन के चित्त।
भाँति भाँति भूषननि सों, भूषित करौं कवित्त॥"

इस दोहे के द्वारा 'शिवराज-भूषण' की प्रेरणा का पता चल जाता है। भूषण का कथन है कि कवित्तों को अलंकारों से भूषित करता हूँ (जैसा कि अन्य रीतिकालीन कवियों ने लक्षण-ग्रन्थों की रचना की) किन्तु शिवाजी के चरित्र को देखकर चित्त में यह बात उठी। इस अलङ्कारों के लक्षण-ग्रन्थ में भूषण का ध्यान शिवाजी के पावन चरित्र की ओर है। अलङ्कारों के लक्षण तथा उदाहरण सटीक चल रहे हैं या नहीं, भूषण को इसकी चिन्ता नहीं।

आगे चलकर भूषण अपने स्वतंत्र मार्ग पर आ गये। उनके अभिलषित रस के उद्रेक करने वाले, इन स्वतंत्र छन्दों में, अब अलङ्कारों को सहायतार्थ स्वयं ही अस्त्र-शस्त्रों की भाँति आना पड़ा। उन अलङ्कारों को दरबारी पायल की ध्वनि छोड़कर घोर ध्वनि करने के लिए अस्त्र-शस्त्रों में ढलना पड़ा। शब्दों के छूटते हुए गोलों के पीछे, कहीं उन्हें बारूद बनना पड़ा और कहीं तीर और तलवार की चमक बनना पड़ा। भूषण न तो अलङ्कारवादी थे और न रीतिकार। वे मूलतः रावणत्व के मूल में लगी हुई बारूद की सुरङ्ग थे जिसके विस्फोट से जो रंग विरंगी लपटें उठीं, उनके रंगों में अलङ्कारों की छटा देखी गई, उनकी चोट में कहीं भाषा की अस्त-व्यस्तता और कहीं तोड़-मरोड़ है। इसी विध्वंस पर युग का परिवर्तन निर्भर था।

शिवराज-भूषण की आलोचना में पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने लिखा है—"मतिराम का ललित-ललाम अलङ्कार का जैसा परिपूर्ण और प्रौढ ग्रन्थ है वैसा भूषण का नहीं। अलङ्कार का अभ्यास भूषण को बहुत कम था।" परन्तु हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं कि भूषण के स्वतंत्र छन्दों में ही उनका वास्तविक

रूप देखा जा सकता है। यहाँ छत्रसाल की तलवार की एक प्रशंसा में उपमा, रूपक, यमक, अनुप्रास तथा काकु वक्रोक्ति का संयुक्त चमत्कार देख सकते हैं।

भुज भुजगेस की वै संगिनी भुजंगिनी सी,
खेदि-खेदि खाती दीह दारुन दलन के।
पच्छी परछीने ऐसे परे परछीने वोर,
तेरी बरछी ने बरछीने हैं खलन के॥

यहाँ व्यतिरेक द्वारा ऐतिहासिक तथा पौराणिक सत्यों की तुलना विचित्र है।

तीनपुर त्रिपुर को मारे सिव तीन बान,
तीन पातसाही हती एक ही क्रिवाल सों।

भूषण शुष्क ऐतिहासिक तथ्यों को भी अलङ्कारों से सरस बना देते हैं। यहाँ अनुप्रास, उपमा तथा रूपक की संयुक्त छटा है।

कूरम कमल कमधुज है कमल फूल,
गौर है गुलाब राना केतकी निराज हैं।
लेइ रस एतेन को बैठ न सकत अहै,
अलि नवरंगजेब चंपा सिवराज हैं॥

इस प्रकार शिवाबावनी तथा छत्रसाल-दशक का एक भी ऐसा छन्द नहीं जिसे अलङ्कारों से स्वाभाविक शक्ति न मिली हो। उदाहरण के लिए उनका प्रत्येक छन्द उद्धृत किया जा सकता है।

भूषण की भाषा :—

उनकी भाषा व्रज है जिसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। उसमें देशी, विदेशी, प्रान्तीय बोलियों, अपभ्रंश आदि के शब्दों के व्यापक प्रयोग हुए हैं। लोकोक्तियों तथा मुहावरों के प्रचुर प्रयोग हैं। व्यंग, विनोद एवं नाटकीय शैलियों से काम लिया गया है। शब्दों के तोड़-मरोड़ का कारण, भूषण की अल्पज्ञता नहीं बल्कि रस-योजना के अनुसार शब्दों को स्वयं ढलना पड़ा है।

उनके प्रयोगों में अरबी के शरजः का सरजा, ऐलान का इलाम तथा फ़ारसी के तनाव का तनाय, पेशानी का पिसानी हो गया है। खड़ी उर्दू की शब्दावली के प्रयोग भी अधिक हैं।

(१) भूषण बखाने दिल आनि मेरा बरजा।
(२) पंच हजारिन बीच खड़ा किया, मैं उसका कुछ भेद न पाया।

प्रान्तीय बोलियों में बुन्देलखण्डी के धरबी, कीबी, बैसवाड़ी के जासती, कलींदे, छिया तथा अवधी के हारु-अहारु, आइयतु तथा पाइयतु के अतिरिक्त अपभ्रंश के समथ्थ, दुग्ग; खग्ग, कुतुब्ब जैसे प्रयोगों से भूषण की भाषा में शक्ति का संचार हुआ है। लोकोक्तियों के प्रयोग भी देखने योग्य हैं।

(१) काल्हि के जोगी कलिंदे के खप्पर।

(२) सिंह की सिंह चपेट सहे, गजराज सहे गजराज को धक्का।

मुहावरों से भी भूषण ने भाषा को बल दिया है :—

(१) नाह दीवाल की राह न धाओ।

(२) तारे सम तारे मूँद गए तुरकन के।

(३) कोट बाँधियतु मानो पाग बाँधियतु है।

डॉ० ब्रजकिशोर मिश्र ने लिखा है—"अपने युग के ये श्रेष्ठ भाषाधिकारी थे।" अनुप्रासमयता, स्वाभाविकता तथा ओज आदि, उनकी भाषा के मुख्य गुण हैं। जिस प्रकार युद्ध के मैदान में लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए योद्धा अपने चरम कौशल से देशी-विदेशी अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों का जी तोड़ प्रयोग करते हैं उसी प्रकार भूषण ने अपनी भाषा में अचूक निशानों को भेदने के लिए, देशी-विदेशी जो भी शब्द अनुकूल पड़े, जमकर प्रयोग किया। अनुकूलता में जरा सा अन्तर पड़ा कि उन्हें धक्का देकर बेरहमी से दुरुस्त कर लिया। जिनसे निशाना चूकने का भय था उन्हें ठोकर देकर हटा दिया। हिन्दी-साहित्य तथा भारतीय इतिहास दोनों ही इस सेनानी के, समान रूप से ऋणी हैं। वह समान रूप से रक्षक, उद्धारक तथा सजीव क्रान्तिकारी था जिसने युग की धारा ही मोड़ दी।

भूषण हमारे साहित्य के भूषण तथा युग-निशा के ज्वलन्त पूषण हैं। आज निश्चित ही इस देश को ऐसे भूषण की प्रबल आवश्यकता है जो ऐसे रामत्व का विस्फोट करें कि एक ही साथ अन्दर के भ्रष्टाचार तथा सीमान्त के दुर्दान्त दानवों को ध्वस्त कर दे।

————

कवि देव का जीवनवृत्त

ये इटावा के रहने वाले थे। मिश्रबन्धुओं ने इन्हें कान्यकुब्ज और शुक्ल जी ने सनाढ्य ब्राह्मण बताया है। अपने 'भाव-विलास' में उन्होंने लिखा है कि सोलह वर्ष की अवस्था में इसकी रचना की है। उसका हिसाब मिलाने से उनका जन्म सं० १७३० सिद्ध होता है। 'सुख-सागर-तरंग' को देखने से सं० १८२४ तक इनका जीवित रहना सिद्ध होता है। इस प्रकार से वे ९४ वर्ष से कम जीवित नहीं रहे।

इनकी रचनाओं को देखने से ज्ञात होता है कि आश्रय के लिए अनेक राजा-रईसों के दरबारों में भटकना पड़ा। कोई भी ऐसा आश्रयदाता नहीं मिला जहाँ वे केशव तथा बिहारी की भाँति सुखपूर्वक जीवन-पर्यन्त रह जाते। वे एक स्थान से दूसरे स्थान तक बराबर आश्रय ढूँढ़ते रहे। इस थकावट से उन्हें स्वाभाविक निराशा और विरक्ति हुई थी।

ऐसे जुहौं जानतौं कि जै है तू विषै के संग,
ए रे मन मेरे, हाथ पाँव तेरे तोरतो।
आजु लौं हौं केते नर नाहन की नाहीं सुनि,
नेह सों निहारि हारि बदन निहोरतो॥
चलन न देतो 'देव' चंचल अचल करि,
चाबुक चितावनिन मारि मुँह मोरतो।
भारी प्रेम पाथर नगारो दै गरो सों बाँधि,
राधावर बिरद के बारिधि में बोरतो॥

इस एक छन्द से देव के सम्पूर्ण जीवन पर प्रकाश पड़ता है। 'केते नर-नाहन की नाहीं' से विदित होता है कि अनेक राजाओं के पास गये किन्तु इच्छित सफलता न मिली। देव को यह भी बोध हो गया कि सांसारिक-सुख नश्वर हैं तथा उन्हीं के चक्कर में पड़ने से ठोकर खानी पड़ी। इस दुष्परिणाम के लिए वे अपने मन को दोषी बताते हैं, युग को नहीं। उन्हें ग्लानि हुई। उन्हें तो जवानी में प्रतिभा का दुरुपयोग करना पड़ा। यदि वे कृष्ण का गुण-गान कर सके होते तो कीर्ति के साथ गति भी मिली होती।

इस युग का अन्तिम इतिहास भी इस छन्द में झलक रहा है। दो बातें

स्पष्ट दिखाई देती हैं। विलास के भारी व्यय से पराधीन दरबारों की कमर टूट चुकी थी और वे गुणियों का पूरा भार नहीं उठा सकते थे। दूसरी ओर शिवाजी तथा छत्रसाल आदि वीरों की तलवारों के प्रचण्ड तेज तथा भूषण और लाल की ज्वाला से युग की परम्परागत विलासिता अलक्ष्य रूप से झुलस चुकी थी। आगे चलकर हम प्रत्यक्ष रूप से देखते हैं कि एक ओर केन्द्रीय रावणत्व की शक्ति टूट गई थी तथा विकेन्द्रित राज्य विलासिता तथा शोषण के कारण कंकाल मात्र थे। फलस्वरूप अँग्रेजों ने छल-बल से पूरे देश को दबोच लिया।

कवि देव आश्रय के लिए औरंगजेब के पुत्र रसिक आजमशाह, भवानीदत्त कुशलसिंह, उद्योतसिंह, अकबरअली खाँ तथा भोगीलाल आदि के पास गये। बड़ा पर्यटन भी किया।

देव की कृतियाँ

इनकी रचनाओं की संख्या ७२ तक बताई जाती है। उनमें २५ या २६ ही प्राप्त हैं। इनको पहले दो कोटियों में बाँटा जा सकता है—लक्षण-ग्रन्थ और लक्ष्य-ग्रन्थ। लक्षण ग्रन्थों के मुख्य विषय हैं रस तथा अलङ्कार। रसों में शृङ्गार के विभिन्न अवयव, नख-शिख तथा हाव-भाव के व्यापक वर्णन तो उन ग्रन्थों में हैं किन्तु उनमें विशेष मौलिकता नहीं है।

'काव्य-रसायन' में काव्य-शास्त्र के सभी अंगों का वर्णन है। 'भाव-विलास' तथा 'भवानी-विलास' में भी वही विषय है। वृत्तियों में वे अभिधा को विशेष महत्त्व देते हैं। मौलिकता प्रदर्शित करने के लिए देव ने एकाध स्थायी भाव तथा संचारियों के भेद-प्रभेद में हेर फेर करने का प्रयत्न किया है किन्तु उनमें सैद्धान्तिक मौलिकता नहीं दिखाई देती। रीतिकाल के अन्य कवियों की अपेक्षा आचार्यत्व में वे बहुत बढ़े चढ़े हैं। उनके मुकाबले के लिए कोई खड़ा हो सकता है तो केवल केशवदास। यह कहना कठिन है कि देव और केशवदास में आचार्यत्व की दृष्टि से कौन बड़ा है।

रीतिकाल के प्रवर्तक होने के कारण केशव को विशेष महत्ता दी जानी चाहिए। केशव में पाण्डित्य अधिक है और देव में अधिक स्पष्टता है। देव के उदाहरण अधिक सरस हैं। देव की रचनाओं की क्रम संख्या पर यदि विचार करें तो उनके मानसिक-विकास का क्रम भी ज्ञात हो जायगा। सत्तर वर्ष की अवस्था आते-आते उनका झुकाव वेदान्त और ज्ञान की ओर हो गया।

इस प्रकार देव के लक्ष्य-ग्रन्थों की दो श्रेणियाँ हैं। जवानी की उमंग में जो काव्य लिखे गये, उनमें शृङ्गार तथा भौतिक-विलास ही मुख्य विषय है।

थकी अवस्था में संसार की नश्वरता का बोध होने पर देव ने ज्ञान तथा वैराग्य प्रधान ग्रन्थ लिखे।

देव के भावविलास, अष्टयाम, भवानी-विलास, कुशल-विलास, प्रेमचन्द्रिका, जातिविलास, रस-विलास, शब्द रसायन, सुखसागर-तरंग, नीतिशतक, सुजान-विनोद, रागरत्नाकर, देव-शतक, वृक्ष-विलास, पावस-विलास, प्रेमदीपिका, सुमित्र-विनोद, राधिका-विलास, नखशिख प्रेमदर्शन के अतिरिक्त देव-चरित्र, देवमाया-प्रपंच तथा शिवाष्टक आदि मुख्य रचनाएँ हैं।

बाबू गुलाबराय ने लिखा है—"रस-विलास और प्रेम-चन्द्रिका में परमोच्च साहित्यिक गौरव है। शब्दरसायन में आचार्यत्व, भाव-विलास में रीतिकथन, वृक्ष-विलास में अन्योक्ति, देवमाया-प्रपंच में धर्मविवेचन तथा देव-चरित्र में कृष्ण-कथा है।"

देव और बिहारी

रीतिकाल हिन्दी काव्य-कला का स्वर्ण-युग है। इस काल की कला का चरम उत्कर्ष बिहारी और देव के साहित्य में दिखाई देता है। एक में भाव का घनत्व तथा दूसरे में मनोहर विलास है। एक भाव का सागर बाँध रहा है दूसरा सरिता बहा रहा है। एक में पाठक डुबकी लगाता है दूसरे में तैरता है। दोनों में एक ही शृङ्गार का स्रोत है। एक की अनुभूति में मुँह से वाह वाह निकलने लगता है, दूसरे में मन झूम-झूम जाता है। एक भाषा को गुरुत्व प्रदान करता है दूसरा उसमें प्राण-संचार करता है। एक में अलङ्कारों का चमत्कार है दूसरे में अलङ्कारों की फूलझड़ी है। एक में कवित्व का तेज है, दूसरे में कवित्व की कान्ति है। दोनों ने संतप्त जनता को भुलाकर एक समान ही अपनी प्रतिभा का दुरुपयोग किया किन्तु कला पर दोनों का समान ऋण है। दोनों में आश्चर्यजनक प्रतिभा तथा शक्ति थी।

भौतिक जगत में एक भाग्यशाली था और दूसरा भाग्यहीन किन्तु कवि-कीर्ति में दोनों के भाग्य समान हैं। एक में सौन्दर्य की सहजता और सजगता है, दूसरे में सजे हुए सौन्दर्य की उनींदी अबोधता। एक का प्रेम पागल है, दूसरे का मदहोश। एक में विह्वलता है, दूसरे में तन्मयता। दोनों ऐन्द्रिय-प्रेम के पथिक हैं। एक दीवाना है, दूसरा मस्ताना। एक में रस के फव्वारे हैं, दूसरे में बौछार। एक की कला में बारीकी है, दूसरे की कला में विशेषता। एक की कला अनोखी है दूसरे की मोहने वाली एक की कला अद्भुत है

दूसरे की विचित्र। दोनों शृङ्गार के रससिद्ध कलाकार हैं। एक में रस के सोते फूट रहे हैं, दूसरे में निर्झर झरते हैं।

महाकवि देव की काव्य-कला

रस-योजना :—

हिन्दी-साहित्य के शृङ्गार-युग को रीतिकाल या कला-काल की संज्ञा दी जाती है। दशांग-काव्य के विभिन्न-पक्षों पर, एक सुनिश्चित प्रणाली में रचना करने के कारण इस युग को रीतिकाल अथवा विशिष्ट पद-रचना के कारण कला-काल कहते हैं। तत्कालीन साहित्य में सौन्दर्य-साधना के विशिष्ट गुण पाये जाते हैं। देव इस युग के श्रेष्ठ कवि थे।

रीत्यानुसार शृङ्गार की रचना करते हुए और उसका पूर्ण विश्लेषण करते हुए भी उन्होंने शृङ्गार का बड़ा ही उदात्त और सात्विक आदर्श प्रस्तुत किया है। उनकी भावुकता गम्भीर, उदार तथा सरस है। उनकी कल्पना अत्यन्त सूक्ष्म और मनोरम चित्र अंकित करती है। अलंकरण तथा भाषा उनके सशक्त साधन हैं जिनके द्वारा उनकी कला, सौन्दर्य के सहज-दर्शन को ऐसे मोहक रूप में उपस्थित करती है जिससे आनन्द और चमत्कार का एक साथ आवि-र्भाव होता है।

देव ने शृङ्गार-मूर्ति कृष्ण का देव-रूप भी चित्रित किया है। उनको वात्सल्य में विशेष सफलता मिली है। बाल-स्वभाव के चित्रण में वे कुशल हैं। इष्टदेव के रूप में कृष्ण की उन्होंने वन्दना की है।

पायन नूपुर मंजु बजै, कटि किंकिनि में धुनि की मधुराई।
साँवरे अंग लसै पट पीत, हिये हुलसै बनमाल सुहाई॥
माथे किरीट, बड़े दृग चंचल, मंद हँसी मुखचंद जुन्हाई।
जै जग मन्दिर दीपक सुन्दर श्रीब्रज दूलह देव सहाई॥

यहाँ सम्पूर्ण चित्र गति और ध्वनि से युक्त है। संक्षिप्त गुण, ध्वन्यात्मकता ने छन्द में प्राण प्रतिष्ठा कर दी है। बाल-कृष्ण का कितना सजीव रूप है! कृष्ण का रूप तो अलौकिक है किन्तु उसका धरातल सर्वथा मानवीय है।

देव के संयोग-शृङ्गार के चित्र बड़े मनोहर हैं। ऐसे चित्रों में यद्यपि परम्परागत सौन्दर्य-प्रसाधनों के प्रयोग रहते हैं किन्तु कल्पना की सात्विकता

तथा छन्द की धारा उन्हें उदात्त बना देती है। यहाँ नायक-रूप कृष्ण का चित्र है।

कुडल मंडित गोल कपोल, सुधा सम बोल विलोल निहारनि।
सुन्दर नंद कुमार के ऊपर वारिये कोटिन मार कुमारनि॥

आगे देव की कल्पना के अतीन्द्रिय-लोक की एक झाँकी है। महारानी राधिका के इर्दगिर्द उनके शरीर की शुभ्र ज्योत्सना छिटकी हुई है। उस ज्योत्सना में देव की भक्ति की पावनता उमड़ रही है।

फटिक सिलानि सों सुधार्‌यो सुधा मन्दिर,
उदधि दधि की सी अधिकाई उमगै अमंद।
बाहेर ते भीतर लौं भीति न दिखैये देव,
दूध की सी फेन फैल्यो आँगन फरसबन्द॥
तारा सो तरुनि तामै ठाढ़ी झिलमिल होति,
मोतिन की जोति मिली, मल्लिका को मकरंद।
आरसी से अम्बर में आभा सी उज्यारी लागै,
प्यारी राधिका को प्रतिबिम्ब सो लगत चंद॥

राधिका की ज्योति के सामने सूर्य की प्रभा अस्त हो गई। राधिका का मुख-चन्द्र चमकने लगा तथा सखियाँ कुमुदनी की भाँति खिल उठी :—

कंजन कलिनमयी, कुंजन अलिनमयी,
गोकुल की गोलन नलिनमयी कै गई॥

देव की रचनाओं में सीता और पार्वती के चित्र भी अत्यन्त दिव्य मिलते हैं। भिन्न प्रान्तों की विभिन्न जाति की स्त्रियों के सुन्दर चित्र भी इन्होंने खींचे हैं। उनमें कुछ चित्र तो अवश्य ही ललित हैं। देव के रूप-चित्रण अत्यन्त गत्यात्मक तथा अभिनयात्मक हैं। उनके पात्र सजीव हैं। वे प्रायः चल-चित्रों के समान आँखों के आगे घूम जाते हैं।

वातावरण की सृष्टि करने में देव बड़े कुशल हैं। उन चित्रणों में प्रकृति का तन्मय वातावरण देखने ही योग्य है। यहाँ श्वेत चाँदनी में राधिका द्वारा कृष्ण के मिलन की प्रतीक्षा की एक झाँकी है :—

नगर निकेत, रेत, खेत सब सेत सेत,
ससि के उदोतु कछु देत न देखाई है।
राधा मधु मालतिहिं माधव-मधुप मिले,
पालकि पुलिन झोनी परिमल झांई है॥

देव का साहित्य विशाल है। उन्होंने लौकिक तथा अलौकिक दोनों सौन्दर्यों का चित्रण किया है। कृष्ण, राम, पार्वती, सीता तथा राधिका के चित्रों में उनकी स्पष्ट भक्ति लक्षित होती है। बिहारी के सौन्दर्य-चित्र एकान्त तथा सर्वथा लौकिक हैं। देव के अधिकांश चित्रों में सूर तथा अन्य कवियों की भी याद आ जाती है। अधिकांश रचनाओं की ऐन्द्रियता तथा अपने आचार्यत्व के कारण वे कवियों की कोटि में ही गिने जाते हैं, रसखान आदि भक्तों की श्रेणी में नहीं।

देव के साहित्य में जिन स्थानों पर भक्ति-भावना से प्रेरित चित्र हैं वहाँ तो बिहारी प्रायः अनुपस्थित ही रहते हैं। उन स्थलों पर तो देव रीतिकालीन भावना से मुक्त होकर भक्ति-काल में प्रवेश कर जाते हैं। यहाँ राधिका का एक दिव्य-चित्र है।

छहरि छहरि उठे, छवि की लहरि अंग,
अंगन अगाध गुन रतन समुन्द री।
देव ब्रज चन्द जू की चन्द्रिका अमन्द ब्रज,
मंदिर की देवी ब्रज वंद्य ब्रज-सुन्दरी॥

राधिका तथा गोपिकाओं के विरह-चित्र भी देव के साहित्य में मिलते हैं। बिहारी के विरह-चित्रों में विदग्धता तथा ऐन्द्रिय जलन की तिव्रता है किन्तु देव की वेदना में सरल-हृदय की स्वाभाविक व्यथा है।

गात में देखत गात तुम्हारोई बात तुम्हारीए बात बखानों।
या तन तें बिछुरे तो कहा मनते अनतै जु बसौ तब जानों॥

राम और कृष्ण की वीरता तथा उनके युद्धों का चित्रण भी देव ने किया है। उन चित्रों में भूषण की विह्वलता तो नहीं है किन्तु उनमें देव की व्यापक प्रतिभा के दर्शन अवश्य होते हैं।

(१) मल्लन मारि सँघारि करिंद, नरिंद पछारि कै डारि धरा धुनि।
देव कियो बसुदेवहिं छोरि निहोरि कै नंद सो वंदन कै दुनि॥

(२) दारुन जुद्ध प्रबुद्ध सुरासुर उद्धत वीर विरुद्ध उदार में।
सूर सिरामनि राम इतै उत रावन वीर धुरंधर धार में॥
कौशल भू भुज दू भुज शोभनि, बीस भुजा दस सीस विहार में।
नाचत रुंड फिरैं इत मंडल, मुंड हँसै हर के हिय हार में॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि बिहारी की अपेक्षा देव का क्षेत्र व्यापक है। बिहारी अनमोल हैं तथा देव बहुमूल्य। बिहारी की अपेक्षा देव की प्रतिभा का

अधिक सदुपयोग हुआ है। एक अजायबघर की वस्तु है दूसरा प्रदर्शनी की। सतसई में बिहारी का ठोस तथा प्रगल्भ किन्तु एकान्त जीवन है, देव के साहित्य में उनके आद्योपान्त जीवन की अभिव्यक्ति है। बिहारी की अपेक्षा देव अधिक सचेत हैं किन्तु भूषण की चेतना किसी में नहीं।

टिप्पणी :—केशव, बिहारी और देव तीनों ही रीतिकाल के तीन उच्चतम स्तम्भ हैं। एक में युग का आमंत्रण, दूसरे में चरमविकास तथा तीसरे में पूर्णाहुति है। भूषण का व्यक्तित्व अलग है। उन्होंने युग की छाती पर पैर अड़ाकर जागरण का मंत्रोच्चार किया। युग की निद्रा को झकझोरने का प्रयत्न किया। रावणत्व की जड़ तो अवश्य उखड़ गई किन्तु राष्ट्र का कुचला हुआ अधमरा शरीर पुनः दासता में जकड़ गया। कभी विलासिता और कभी भ्रष्टाचार, इस देश की परम्परा है।

अलङ्कार-योजना :—

उपमा और रूपक देव के बड़े प्रिय अलङ्कार हैं। रूपकातिशयोक्ति, यमक, उत्प्रेक्षा और अनुप्रास के सुन्दर प्रयोग इनके काव्य में हुए हैं। अप्रस्तुत विधान में उनकी मौलिकता देखने योग्य है। उनके रूपकों में अद्‌भुत चित्र तथा उपमा में संवेदना की कोमलता लक्षित होती है। शब्दालङ्कारों में ध्वनि-साम्य तथा संगीतात्मकता के कारण उनकी कला में आकर्षण है।

आगे संसार से विरक्ति के लिए एक अनुभूतिमय रूपक दिया जा रहा है। शरीर रूपी नगरी के बाज़ार में जीव रूपी बनिया है।

देव छतीस की छाप बिना जमराज जगाती महा दुख दैहै।
जात उठी पुर-देह की पैंठ, अरे बनिए बनिए नहीं रैहै।

यहाँ विवाह का एक मार्मिक रूपक है जिसमें करुण तथा शान्त की गम्भीर धारा है। कबीर के साहित्य में भी मृत्यु एक विवाह पर्व है। आत्मा और परमात्मा की दूरी यहीं समाप्त हो जाती है। दुलहिन की यह यात्रा कितनी करुण है।

काम परयो दुलही अरु दूलह, चाकर यार ते द्वारहिं छूटे।
माया के बाजने बाजि गए, परभात ही भातखवा उठि बूटे॥
आतसबाजी गई छिन में छुटि, देखि अजौं उठि कै अँखि फूटे।
देव दिखैयन दाग बने रहे, बाग बने तें बरोठेई लूटे॥

एक अन्य रूपक में देव ने इस क्षणभंगुर संसार में नश्वर शरीर की चिन्त-नीय स्थिति का प्रभावशाली चित्र खींचा है।

काँख में बाँधि कै पाँव पतंग के देव सुसंग पतंग को लीने।
मोम को मंदिर, माखन को मुनि बैठ्यो हुतासन आसन कीने॥

इस छन्द में विरह दशा का एक चित्र है। रूपक, उपमा, अतिशयोक्ति, विभावना तथा अनुप्रास की संयुक्त शक्ति में अनुभूति तीव्र हो उठी है।

देव तेहि काल गूँथि ल्याई माल मालिनि,
सो देखत विरह विष व्याल की लहरि परी।
छोह भरी छरी सो छबीली छिति माँह फूल,
छरी के छुअत फूल छरी सी छहरि परी॥

यहाँ वियोगिनी के संतप्त नेत्रों के लिए योगिनी का कैसा मार्मिक रूपक है नेत्रों के मानवीकरण में अनुभूति की पराकाष्ठा है।

बरुनी बघंबर औ गूदरी पलक दोऊ,
कोये राते बसन भगौहैं भेख रखियाँ।
बूड़ी जल ही में, दिन जामिनि हू जागैं,
भौंहैं धूम सिर छायो विरहानल बिलखियाँ॥
अँसुआ फटिकमाल लाल डोरे सेली पैन्हि,
भई हैं अकेली तजि चेली संग सखियाँ।
दीजिए दरस देव कीजिए सँजोगिन ये,
जोगिनि ह्वै बैठी हैं वियोगिनि की अँखिया॥

उपर्युक्त रूपक में लाक्षणिकता से भावों में असीम तीव्रता आ गई है। आँखें पार्वती की भाँति योगिनी बनकर तपस्या कर रही हैं। वियोग का ऐसा मार्मिक चित्र कम मिलेगा। देव अनुभूति के कलाकार हैं। अलंकार, छन्द तथा शब्द तो अनुचर हैं जिनपर उनका विशेष अधिकार है।

नीचे प्रकृति का एक अद्वितीय चित्र है। इसमें पवन का मानवीकरण किया गया है। इस रूपक में वह रसिक नायक की भाँति विहार कर रहा है। ऐसी रचना हिन्दी-साहित्य में दुर्लभ है। कैसा व्यापक सौन्दर्य उमड़ रहा है! अनुप्रास से धारा में गति आ गई है।

कुंज-कुंज केलि कै, नवेली बाल बेलिन सों,
नायक पवन बन झूमत फिरत है॥

अंब कुल बकुल समीड़ि पीड़ि पौंड़रनि,
मल्लिकन मोड़ि घने घूमत फिरत हैं।
द्रुमन द्रुमन दल दूमत मधुप देव,
सुमन सुमन मुख चूमत फिरत हैं॥

उपर्युक्त मौलिक चित्र की छायावादी चेतना विचारणीय है।

भाषा तथा छन्द :—

देव भाषा के आचार्य हैं। भाषा पर उनका असाधारण अधिकार है। शब्दनिर्माण, शब्दचयन, वाक्यविन्यास, लोकोक्तियों तथा मुहावरों के सफल प्रयोग, छन्दों में विलक्षण-तुकान्तों का आयोजन इनकी भाषा की कला को व्यक्त करते हैं। रस तथा अलंकार प्रकरण में ऊपर जो उद्धरण दिये गये हैं उनमें हम इन विशेषताओं का स्पष्ट चमत्कार देखते हैं।

देव की भाषा में रसों के अनुकूल विचित्र वेग है। जो धारा बहती है उसमें रस ही भाषा बनकर ढुलक पड़ता है अथवा भाषा ही रस बनकर बह निकलती है। उमड़ती हुई भाषा की धारा में छन्दों की गति है और अलंकारों की छलकती हुई तरंगें हैं। उनकी भाषा ने जवानी की मस्ती में शृङ्गार का शृङ्गार किया और ढलती उम्र में उसने शान्त करुणा की धारा से धरती और स्वर्ग को जोड़ दिया।

देव की भाषा में रस का वेग, शक्ति का सौन्दर्य, अर्थ की सजीवता, मस्ती की झूम, अलंकारों की धूम, सौन्दर्य की छटा कल्पना का रंग, अनुभूति की मादकता, कौशल का चमत्कार, अंगों की सुकुमारता, स्वभाव का अल्हड़पन, सजावट की बहार, युग का चमत्कार तथा कला कि तन्मयता है। उनकी भाषा में उनका शक्तिशाली व्यक्तित्व है। उनकी विशुद्ध ब्रजभाषा में विदेशी भाषाओं के शब्दों की आवश्यकता नहीं। प्रायः शब्दों को तोड़ने मरोड़ने की प्रवृत्ति भो इनमें नहीं पाई जाती।

तुकान्त प्रस्तुत करने में, रीतिकाल का कोई भी कवि उनकी समानता नहीं कर सकता। उनके तुकान्तों में मौलिकता का आकर्षण तथा भाषा-शक्ति का चमत्कार है। 'वासु लै अड़ाइतो,' 'बड़े सों बड़ाइतो,' 'कुमति छड़ाइतो,'[1] 'लरिकाई को लड़ाइतो,' में तुकान्त की विलक्षणता देखने योग्य है। भाषा का प्रवाह देखकर आश्चर्य होता है।

देव सबै सुख दायक सम्पति, सम्पति सोई जो दम्पति जोरी।
दम्पति दीपति प्रीति प्रतीति, प्रतीति की रीति सनेह निचोरी ॥
रीति सोई गुन गीति विचार, विचार की बानी सुधारस बोरी।
बानी को सार बखान्यो सिंगार, सिंगार को सार किसोर किसोरी ॥

कालिह के जोगी कलींदे को खप्पर, दिया न बरे कहुँ कारे के आगे, जैसी मधुर लोकोक्तियों के अतिरिक्त मुहावरों के सजीव प्रयोग भी उनकी रचनाओं में मिलते हैं।

देव के छन्दों में घनाक्षरी तथा सवैया की प्रधानता है। देवघनाक्षरी तो मानो उनका अपना छन्द है। दोहा तथा छप्पय छन्दों के प्रयोग भी इनकी रचनाओं में हुए हैं। देव की कला में सुखद, शीतल तथा गम्भीर रस की धारा बहती है। उनका हृदय अनुभूतियों का केन्द्र है जिसमें जीवन के सुख-दुख की छलकती हुई धारा है। जीवन की व्यापक अनुभूतियों के कारण देव का स्थान, रीतिकालीन कवियों में महानतम है। सच पूछिए तो यदि देव के सामने 'केते नरनाहन' के हाँ का प्रश्न न रहा होता और उनके साहित्य में आदि से अन्त तक समाज के शिव की चेतना रही होती तो, जैसी प्रतिभा देव के पास थी, उनका स्थान हिन्दी-साहित्य में विचित्र होता। चेतना आई भी तो अन्तिम समय में।

———

आधुनिक काल

(सन् १८५७ की क्रान्ति के बाद से)

पीछे हम देख चुके हैं कि कबीर, तुलसी से लेकर भूषण जैसे साधकों की साधना को इस राष्ट्र ने निष्फल कर दिया। भ्रष्टाचार, हिंसा तथा जाति-भेद का वही सड़ा ढाँचा ज्यों का त्यों रह गया। सन् १८५७ की विफल क्रान्ति के बाद जन्मजात मक्कार अंग्रेजों का सिक्का इस सड़े हुए समाज पर जम गया। उस समाज से विश्व में अंग्रेजों का सितारा बुलन्द होने लगा अंग्रेजों की गणना सभ्य जातियों में होने लगी तथा उनकी संस्कृतिहीन बाजारू भाषा भी चमकने लगी।

अंग्रेजों ने भारतीयों की मूर्खता से बड़ा लाभ उठाया। एक समय था जब तलवार की नोक पर बीसों करोड़ आर्य अलग कर दिये गये थे। इन मक्कार अंग्रेजों ने उन्हें कभी एक न होने दिया। चलते समय विभाजन की ऐसी मुहर लगा दी जिसे साठ करोड़ आर्य कभी तोड़ पायेंगे या नहीं ! भारतेन्दु से लेकर दिनकर तक असंख्य कलाकारों ने क्रान्ति की ज्वाला जलाई। सहस्रों लाल शहीद हुए। मुझे सन् १९४२ की क्रान्ति याद है। कुछ गिने चुने शहीदों ने असंख्य छात्रों को लेकर मक्कारों को धक्का दिया था। जिन अमर शहीद सुभाष को अन्य शहीदों की भाँति, यह देश भूल गया है, उनकी भी याद है। उस समय भी राष्ट्र का सड़ा हुआ बहुमत या तो तन्द्रा में लीन था या पैर खींच रहा था। मुझे ठीक याद है।

उस समय के लाखों देश-द्रोहियों का आज वर्तमान नेता-तंत्र पर प्रभुत्व है। देश का भ्रष्ट बहुमत उन्हें वोट देता है। उनके चंगुल से देश का मुक्त होना कठिन है। आज कलाकार के सामने यही भीषण समस्या है। इस मुक्ति के बाद ही यह राष्ट्र ब्रिटेन, अमेरिका, पाकिस्तान तथा चीन जैसे शत्रुओं से अपनी रक्षा कर सकेगा अथवा साठ करोड़ आर्यों को एकाकार कर सकेगा। आगे हम कलाकारों की इसी पवित्र साधना पर विचार करेंगे। इस साधना का प्रारम्भ भारतेन्दु युग से होता है।

भारतेन्दु-युग

कुछ पहले से ही अंग्रेजों ने हिन्दी-उर्दू का झगड़ा खड़ा कर दिया था। कबीर तथा रसखान-रहीम जैसे सन्तों ने हिन्दू-मुसलमान के अन्तर को कुछ

मिटाया था किन्तु अंग्रेजों की नीति ने सदा के लिए घातक बीज बो दिया। इस दौर में भारतेन्दु का प्रादुर्भाव महत्त्वपूर्ण है। भारतेन्दु ने स्वयं लिखा और अन्य लेखक पैदा किए। गद्य की खड़ीबोली को उसी समय बल मिला। उस काल के साहित्यकारों ने गद्य का रूप स्थिर किया। उनके सामने बहुत संकट थे। अंग्रेजों की कूटनीति, उर्दू की साम्प्रदायिकता तो घातक थी ही सबसे बड़ा संकट यह था कि अपना समाज भी बड़ी नीचता कर रहा था। अशिक्षित जनता को देश से कोई मतलब ही नहीं था। नया समाज नई रोशनी में था।

जिस प्रकार आज 'कोड भाषा' अंग्रेजी को पालकर हमारे देश के गद्दार, अंग्रेजी के स्टैण्डर्ड की वकालत कर रहे हैं ताकि देश की जनता पर उनकी धौंस और भ्रष्टाचार कायम रहे, उसी प्रकार उस समय भी यही समाज था। स्वामी दयानन्द तथा श्रद्धाराम जैसे वक्ताओं और भारतेन्दुयुग के लेखकों-कवियों ने हिन्दू और हिन्दी की बड़ी रक्षा की। पत्र तथा पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगीं। नाटक, उपन्यास तथा निबन्ध आदि लिखे गये। विशेषता ी यह है कि उन्हें केवल लिखना ही नहीं पड़ा बल्कि पाठक भी तैयार करने पड़े। प्रत्येक युग के सन्त-साहित्यकारों की दुर्दशा देखकर समाज से बड़ी घृणा होती है। इस जड़ता को धन्यवाद है।

उस काल के कवियों ने कविता में ब्रजभाषा को ही रहने दिया। परन्तु कविता के विषयों में देश की दुर्दशा को भी सम्मिलित कर दिया। इस परम्परागत भ्रष्ट-समाज में जीवित रहते हुए, वे सन्त अल्पकाल में कितना काम करते! जो कुछ उन लोगों ने कर दिया वही आश्चर्यजनक है।

द्विवेदी-युग

महावीर प्रसाद द्विवेदी ने एक सन्त की भाँति साहित्य की सेवा की। उन्होंने गद्य के रूप को परिमार्जित तथा शुद्ध किया। उन्होंने आलोचना का सूत्रपात किया। वे युग-प्रवर्तक सिद्ध हुए। उन्हीं के युग में कविता के क्षेत्र में खड़ी बोली का पदार्पण हुआ। रसिक लोग उस युग पर इतिवृत्तात्मकता तथा शुष्कता का दोष लगाते हैं किन्तु अपनी संकुचित बुद्धि पर ध्यान नहीं देते। द्विवेदी जी के मर्यादापूर्ण व्यक्तित्व ने रीतिकालीन वासना को गहरी ठोकर दी। उनका महान् व्यक्तित्व धन्य है जिसकी ठोकर से रसिकों की वासना छायावाद के आकाश में तिलमिलाने लगी। सामने जबान खोलने का साहस नहीं हुआ तो रसिक लोग 'नाविक' से प्रार्थना करने लगे कि वह

उन्हें उस 'निर्जन' में भगा ले चले जिसमें सागर-लहरी अम्बर के कानों में गहरी प्रेम-कथा कहती है।

द्विवेदी-युग की कविता का मुख्य विषय है, देश-प्रेम तथा मानव-सेवा। खड़ी बोली की कविता का वास्तविक प्रारम्भ इसी काल में हुआ। यह कविता के लिए एक अनगढ़ भाषा थी। इस काल के कलाकारों ने भाषा को कविता के योग्य बनाने में बड़ा श्रम किया। जो प्रबन्ध-काव्य लिखे गये उनके पात्र यद्यपि पौराणिक तथा ऐतिहासिक थे किन्तु उनके चरित्रों में युग के अनुकूल नवीन आदर्शों की प्रतिष्ठा की गई। युग की चेतना ही उन काव्यों की मुख्य विशेषता है।

सन् १९०६ में द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' का सम्पादन कार्य हाथ में लिया। उसके पहले से ही श्रीधर पाठक तथा हरिऔध जैसे कवि खड़ी बोली में नवीन कविता कर रहे थे परन्तु द्विवेदी युग में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। द्विवेदी जी स्वयं भी कविता करते थे। इसी काल में खड़ी बोली का प्रथम महाकाव्य 'प्रिय-प्रवास' लिखा गया। इस काल की हरिऔध जी की देन अमूल्य है। उनके पाण्डित्य तथा प्रतिभा से कविता को मौलिक शक्ति मिली। इसी युग में गुप्त जी की रचनाओं की धूम मची। उनकी भारत-भारती की गूँज चारो ओर फैल गई।

हरिऔध ने कृष्ण को देश-सेवक तथा राधिका को समाज-सेविका के रूप में चित्रित किया। गुप्तजी ने पौराणिक तथा ऐतिहासिक पात्रों में नवीन चेतना की प्रतिष्ठा की। रामचरित उपाध्याय तथा लोचन प्रसाद पाण्डेय की सेवाएँ भी स्मरणीय हैं। रामनरेश त्रिपाठी ने कल्पित प्रबन्धों की रचना करके नूतन आदर्श प्रस्तुत किया। द्विवेदी जी काव्य में नवीनता लाने पर बराबर जोर देते थे।

कविता में छायावाद

द्विवेदी जी ने कविता में नवीनता का आग्रह करते हुए 'सरस्वती' में लिखा थाः—"इस तरह की कविता सैकड़ों वर्ष से होती आ रही है। अनेक कवि हो चुके जिन्होंने इस विषय में न मालूम क्या-क्या लिख डाले हैं। इस दशा में नये कवि अपनी कविता में नयापन ला सकते हैं। वही तुक, वही छन्द, वही शब्द, वही उपमा, वही रूपक! इस पर भी लोग पुरानी लकीर बराबर पीटते हैं। कवित्त, सवैये, दोहे, सोरठे लिखने से बाज नहीं आते।"

द्विवेदी युग के समाप्त होने से कुछ पहले ही कविता में एक नयी शैली का जन्म होने लगा। शुक्लजी कहते हैं—"खड़ी बोली की कविता जिस रूप में चल रही थी उसमें सन्तुष्ट न रहकर कई कवि खड़ी बोली काव्य को कल्पना का नया रूप रंग देने और उसे अधिक अन्तर्भावव्यंजक बनाने में प्रवृत्त हुए जिनमें प्रधान थे सर्व श्री मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय और बदरीनाथ भट्ट। कुछ अंग्रेजी ढर्रा लिए हुए जिस प्रकार की फुटकर कविताएँ और प्रगीत-मुक्तक (Lyrics) बँगला में निकल रहे थे। उनके प्रभाव से कुछ विशृंखल वस्तु-विन्यास और अनूठे शीर्षकों के साथ चित्रमयी, कोमल और व्यंजक भाषा में इनकी नये ढंग की रचनाएँ सन् १९१३ से ही निकलने लगी थीं जिनमें से कुछ के भीतर रहस्यभावना भी रहती थी।"

इसी छायावाद के सन्दर्भ में शुक्लजी आगे लिखते हैं—"ये कवि जगत और जीवन के विस्तृत क्षेत्र के बीच नयी कविता का संचार चाहते थे। ये प्रकृति के साधारण असाधारण सब रूपों पर प्रेम दृष्टि डाल कर उसके रहस्य भरे सच्चे संकेतों को परखकर, भाषा और अधिक चित्रमय, सजीव और मार्मिक रूप देकर कविता का एक अकृत्रिम, स्वच्छन्द मार्ग निकाल रहे थे। भक्ति-क्षेत्र में उपास्य की एक देशीय या धर्म विशेष में प्रतिष्ठित भावना के स्थान पर सार्वभौम भावना की ओर बढ़ रहे थे।"

उन आलोचकों की शुक्लजी ने कड़ी आलोचना की है जिन लोगों का कहना है कि इन कवियों के मन में एक आँधी उठ रही थी जिसमें आन्दोलित होते हुए वे उड़े जा रहे थे। एक नूतन वेदना की छटपटाहट थी जिसमें सुख की मीठी अनुभूति भी लुकी हुई थी। रूढ़ियों के भार से दबी हुई युग की आत्मा अपनी अभिव्यक्ति के लिए हाथ पैर मार रही थी। शुक्ल जी ने स्पष्ट कहा है कि न कोई आँधी थी न तूफान। न कोई नयी कसक थी, न वेदना, न प्राप्त युग की नाना परिस्थितियों का हृदय पर कोई नया आघात था। शुक्लजी आगे कहते हैं कि इन बातों का कुछ अर्थ तब हो सकता था जब काव्य का प्रवाह ऐसी भूमियों की ओर मुड़ता जिनपर ध्यान न दिया गया रहा होता। छायावाद के पहले नये-नये मार्मिक विषयों की ओर हिन्दी कविता प्रवृत्त होती चली आ रही थी। कसर थी तो आवश्यक और व्यंजक शैली की, कल्पना और संवेदना के अधिक योग की। तात्पर्य यह कि छायावाद जिस आकांक्षा का परिणाम था उसका लक्ष्य केवल अभिव्यंजना की रोचक प्रणाली का विकास था जो धीरे धीरे अपने स्वतंत्र ढर्रे पर चला आ रहा था।

इसी विकास काल में पाश्चात्य रहस्यवाद को लेकर चलनेवाली, रवीन्द्र

की कविताओं की धूम बंगाल में मच गई। पुराने ईसाई सन्तों के छायाभास (Phantasmata) तथा योरोपीय काव्य-क्षेत्र में प्रवर्तित आध्यात्मिक प्रतीकवाद (Symbolism) के अनुकरण पर रची जाने के कारण बंगाल में ऐसी कविताएँ 'छायावादी' कही जाने लगीं। शुक्लजी कहते हैं कि यह 'वाद' क्या प्रगट हुआ एक बने बनाए रास्ते का दरवाजा खुल पड़ा और हिन्दी के कुछ नये कवि उधर एकबारगी झुक पड़े। यह अपना क्रमशः बनाया हुआ रास्ता नहीं था।

शुक्ल जी पुनः कहते हैं—"छायावाद नाम चल पड़ने का परिणाम यह हुआ कि बहुत से कवि रहस्यात्मकता, अभिव्यंजना के लाक्षणिक वैचित्र्य, वस्तु-विन्यास की विशृंखलता चित्रमयी भाषा और मधुमयी कल्पना को ही साध्य मानकर चले। शैली की इन विशेषताओं की दूरारूढ़ साधना में ही लीन हो जाने के कारण अर्थभूमि के विस्तार की ओर उनकी दृष्टि न रही। विभाव पक्ष या तो शून्य अथवा अनिर्दिष्ट रह गया। असीम और अज्ञात प्रियतम के प्रति अत्यन्त चित्रमयी भाषा में अनेक प्रकार के प्रेमोद्गारों तक ही काव्य की गति-विधि प्रायः बँध गई! हृत्तंत्री की झंकार, नीरव सन्देश, अभिसार, प्रतीक्षा' प्रियतम का दबे पाँव आना, आँखमिचौनी, मद में झूमना आदि के साथ-साथ प्याला और साकी भी इकट्ठे हो गये। कुछ हेरफेर के साथ वही बँधी पदावली, वेदना का वही प्रदर्शन कविताओं में मिलने लगा।"

छायावाद की पहली दौड़ तो बंगभाषा की रहस्यात्मक कविताओं के सजीले और कोमल मार्ग पर हुई। पर उनकी बहुत कुछ गति-विधि अंग्रेजी वाक्य-खंडों के अनुवाद द्वारा संघटित देख हिन्दी-कवि सीधे अंग्रेजी से ही लाक्षणिक प्रयोग लेकर उनके ज्यों के त्यों अनुवाद अपनी रचनाओं में जड़ने लगे। कनक प्रभात, विचारों में बच्चों की साँस, स्वर्ण समय, तारिकाओं की तान, स्वप्निल कान्ति ऐसे प्रयोग अजायबघर के जानवरों की तरह उनकी रचनाओं में मिलने लगे।

पहले पश्चिमी जगत से हिन्दी-छायावादी-कविता का सम्बन्ध बँगला साहित्य के माध्यम से हुआ। सर्व प्रथम अठारहवीं शताब्दी के क्लासिकल कवि पोप, ड्राइडन तथा गोल्डस्मिथ आदर्श बने फिर वर्ड्सवर्थ, शेली, कीट्स तथा टेनीसन के प्रभाव पड़े। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक कविता रीतियों, परम्पराओं तथा रूढ़ियों तक बँधी रही जिसमें कलाकार के व्यक्तित्व के लिए कोई स्थान न था। नये छायावादी कवि ने प्राचीन रूढ़ियों तथा रीतियों को चुनौति दी। नये रहस्य तथा नयी विचारधारा ने तरुण कवियों को आक्रान्त

किया। पहली बार धर्म, दर्शन तथा संस्कृत-साहित्यशास्त्र के संसार से बाहर निकलकर ये कवि प्रकृति, मानव के सुख-दुख और जनता के सम्पर्क में आये। उनकी सबसे बड़ी खोज स्वयं उनका व्यक्तित्व था। उसी के भीतर से वे संसार को देखने लगे। सब कुछ अद्‌भुत था, विचित्र था।

नये कवियों ने परम्परागत कविता के बाहर की कविता का अनुभव किया। वे अंग्रेजी कविता के छन्द, भाषा, रीति-निति तथा अलंकार भण्डार से प्रभावित हुए। गीतिकाव्य (लिरिक) के रूप में एक नवीन सामग्री सामने आई। यह परिवर्तन केवल ऊपरी ढाँचे तक सीमित न रहा। स्पिरिट ही बदल गई। नारी के प्रति दृष्टिकोण बदला। वह प्राचीन वासना के शीशमहल से निकल कर जीवन के अनेक पथों पर दिखाई देने लगी। सहस्रों वर्षों की प्राचीन काव्य-सम्पत्ति को छोड़कर हिन्दी के कवि पश्चिम के दो सौ वर्षों के साहित्य को ही सब कुछ मानकर चले।

इतना तो निर्विवाद है कि हिन्दी कविता को विश्व के काव्य-जगत के सम्पर्क में लाने का श्रेय छायावाद को ही मिलेगा। आलोचना करते हुए हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—"इन कवियों ने बाह्यजगत् को अपने अन्तर के योग में उपलब्ध किया था। कवि-जगत् को अपनी रुचि, अपनी कल्पना और अपने दुख-सुखों में गुँथा हुआ देखता था और रचना-कौशल से उसका व्यक्तिजगत् पाठक का उपयोग हो उठता था। पिछले पन्द्रह-बीस वर्षों की कविता में उसकी सैकड़ों वर्षों की परम्परा के विरुद्ध वैयक्तिकता का अबाध प्रवेश हुआ है।" उनके अनुसार इस नयी कविता की विशेषताएँ हैं—कल्पना की प्रधानता, चिन्तनमूलक प्रवृत्तियाँ, प्रभाववाद, वैयक्तिकता, भावुकता तथा भाषा और शैली के नवीन प्रयोग।

रवीन्द्र और रोमाण्टिक कवियो का प्रभाव, रीतिकाव्य और द्विवेदी-काव्य के प्रति विद्रोह, भाषा-शैली और छन्दों की नवीनता के प्रति आग्रह ने छायावाद को जन्म दिया। सामाजिकता का अभाव ही इसकी सबसे बड़ी त्रुटि है। परन्तु इससे हिन्दी का एक उपकार भी हुआ। रीतिकालीन अभिव्यंजना कला की जड़ता को अच्छी ठोकर लगी। सहस्रों नये शब्द, सहस्रों नये शब्द-समूह, असंख्य मूर्त-चित्र, अनेक नूतन भाव-विन्यास की प्राप्ति हिन्दी साहित्य को हुई। इस देन का प्रभाव गद्य-शैली पर भी पड़ा।

प्रसाद, पन्त, निराला तथा महादेवी की साधना तथा नेतृत्व से इस नवीन शैली को बड़ी शक्ति मिली। विशेषता यह है कि इन चारों विभूतियों का व्यक्तिगत जीवन बड़ा ही करुण था। उन्हें मातृवियोग, पितृवियोग अथवा

अन्य वियोग सहने पड़े थे। फलस्वरूप इनकी अभिव्यक्तियों में अनुभूतियों की यथार्थता आ सकी। इनमें वेदना, पीड़ा तथा विषाद का प्राधान्य है। प्रसाद, पन्त तथा निराला की प्रारम्भिक रचनाओं पर गीताञ्जलि का प्रभाव लक्षित होता है किन्तु आगे चलकर उनका स्वतंत्र व्यक्तित्व सामने आ गया।

प्रसाद के व्यथित व्यक्तित्व ने भारतीय संस्कृति के अन्तर्लोक में शान्ति की खोज की। कामायनी का 'आनन्द' उनकी चरम उपलब्धि है जो विश्व-संस्कृति को अमूल्य उपहार है। वास्तव में छायावाद अपने मूल में अभिव्यंजना-शैली का आन्दोलन है। प्रत्येक कलाकार ने अपने-अपने व्यक्तित्व तथा दृष्टिकोण से युग को आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया किन्तु उनकी अभिव्यंजना-शैली में एकसी छायावादी सजीवता है। चिन्तन तथा अनुभूति की स्वतंत्र तथा सूक्ष्म अभिव्यक्तियों का भार वहन करने की शक्ति छायावादी शैली ही में थी। उस युग के अन्य सभी कवियों ने भी इससे बल प्राप्त किया।

प्रकृति के सुकुमार कलाकार पन्त के प्रकृति-चित्रणों में इस शैली का सजीव तथा स्वाभाविक प्रयोग हुआ। आगे चलकर पन्त की बदलती प्रवृत्तियों ने युगों का अनुसरण किया। निराला में शैली तथा भाव दोनों का विद्रोह है। महादेवी ने अपने लिए आध्यात्मिक रहस्यवाद की परम्परा स्वतंत्र रूप से स्थापित की। अब हम छायावाद के इन उन्नायकों के कथनों को ही उद्धृत करना अधिक उपयुक्त समझते हैं।

प्रसाद और छायावाद :—

छायावाद की नवीन विशेषताओं के जन्म तथा विकास में प्रसाद का ही सबसे अधिक हाथ रहा है। प्रसाद छायावाद को अभिव्यंजना का एक रूप मानते हैं। वे कहते हैं—"ये नवीन भाव आन्तरिक स्पर्श से पुलकित थे। आभ्यन्तर सूक्ष्म भावों की प्रेरणा बाह्य स्थूल आकार में भी कुछ विचित्रता उत्पन्न करती है। सूक्ष्म आभ्यन्तर भावों के व्यवहार में प्रचलित पद-योजना असफल रही। उनके लिए नवीन शैली, नया वाक्य-विन्यास आवश्यक था।" नयी कविता के सम्बन्ध में प्रसाद की मान्यताएँ ध्यान देने योग्य हैं :—

(अ) साहित्य का कोई लक्ष्य नहीं होता।

(आ) साहित्य के लिए कोई विधि या बन्धन नहीं है।

(इ) साहित्य में साहित्यकार का व्यक्तित्व ही महत्त्वपूर्ण है।

(ई) साहित्य के विषय हैं सत्य तथा सुन्दर।

(उ) पाश्चात्य नवीन मानदण्डों और विशेषताओं के अनुसार कविता होनी चाहिए।

(ऊ) नयी कविता के गुण होंगे—भावमयता, उत्तेजना, आत्म-विस्मरण, संगीतमयता, आह्लादकता तथा शान्तिमयता।

इस प्रकार प्रसाद के साहित्य में छायावादी विशेषताओं को सर्वत्र ही पाते हैं। प्रकृति के सम्बन्ध में उनका नया दृष्टिकोण, अध्यात्म-करुणा तथा लौकिक प्रेम का समन्वय, कल्पना के आग्रह तथा लाक्षणिक प्रयोग, प्रतीकों के नवीन प्रयोग आदि मुख्य विशेषताएँ हैं जो प्रसाद की फुटकर रचनाओं तथा कथाकाव्यों में सर्वत्र विद्यमान हैं। उनकी कोई भी कविता उद्धृत की जा सकती है।

आगे चलकर प्रसाद के साहित्य में जीवन के यथार्थ रूप का चित्रण, लघु तथा उपेक्षित जीवों एवं व्यक्तियों के प्रति सहानुभूति, दुख तथा वेदना की अनुभूति, व्यक्तिगत भावों की अभिव्यक्ति, संकीर्ण संस्कारों के प्रति विद्रोह, मानव-मन तथा सामाजिक रूढ़ियों की परख तथा नारी का नवीन मूल्यांकन पाते हैं। प्रसाद की पंक्ति-पंक्ति में हम इन विशेषताओं को देख सकते हैं।

प्रसाद की कला में शैलीगत विशेषताएँ हैं—व्यक्तिवादत्व, भावों की सूक्ष्म अभिव्यक्ति, काव्य में नाटकीयता का प्रयोग, लाक्षणिकता तथा शब्दों की नवीन भावभंगिमा, कल्पना के अतिरेक के अतिरिक्त छन्दों की नवीन योजना और गीतमयता। सन् १९०९ से १९०१३ तक प्रसाद ने सफल नवीन प्रयोग किया। सन् १९२६ में प्रकाशित उनका 'आँसू' छायावाद का प्रथम लोकप्रिय प्रसिद्ध काव्य है। लहर तथा कामायनी उनकी अन्तिम प्रौढ़तम रचनाएँ हैं। कामायनी छायावाद की श्रेष्ठतम सम्पत्ति है।

प्रसाद की काव्य-कला का मूल्यांकन करते समय उपर्युक्त तथ्य ध्यान में रखने योग्य हैं। छायावादी शैली की सजीवता का मुख्य कारण यह भी हो सकता है कि प्रत्येक कवि ने प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ को गतिशील तथा सजीव रूप में ग्रहण किया है। इन कवियों ने सम्पूर्ण सृष्टि के कण-कण में चेतना के स्पन्दन का अनुभव किया। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि कल्पना-विलास के अतिरेक तथा दुरूहता के कारण छायावादी साहित्य लोक-ग्राह्य न हो सका।

निराला और छायावाद :—

छायावाद की कविता में सबसे परुष तथा क्रान्तिकारी व्यक्तित्व निराला का है। अनामिका (सन् १९२३) के साथ उन्होंने साहित्य में प्रवेश किया। परिमल (१९३०), गीतिका (१९३६), तुलसीदास (१९३८) ने साहित्य

में क्रान्ति कर दी। सन् १९३९ के बाद निराला ने प्रगतिवादी धारा में योग प्रदान करना प्रारम्भ कर दिया। कुकुरमुत्ता (१९४२), अणिमा (१९४३) तथा बेला और नये पत्ते (१९४६) में युग की ध्वनि है।

निराला का सबसे क्रान्तिकारी प्रस्ताव यह था कि काव्य की मुक्ति छन्द-बन्धन से मुक्ति है। उनको मुक्त-छन्द की प्रेरणा सम्भवतः नाटकों में मुक्त-छन्दों का प्रयोग करने वाले बँगला कवि गिरीशचन्द्र घोष से मिली थी। कविता-प्रेयसी से बन्धनमय छन्दों की छोटी राह छोड़कर नये राजपथ पर आने की प्रार्थना करते हुए निराला कहते हैं :—

आज नहीं है और मुझे कुछ चाह,
अर्ध विकच इस हृदयकमल में आ तू
प्रिये, छोड़कर बन्धनमय छन्दों की छोटी राह !
गजगामिनि, यह पथ तेरा संकीर्ण,
कंटक कीर्ण
कैसे होगी पार ?

निराला के काव्य का सबसे उज्ज्वल अंग उनका प्रकृति सम्बन्धी काव्य है। अन्य छायावादी कवियों की तुलना में निराला का देशभक्ति-काव्य अधिक प्रौढ़ है। काव्य की परम्परागत रूढ़ियों और नये पुराने बन्धनों पर जितने प्रहार उन्होंने किये उतने प्रहार किसी कवि ने नहीं किये। पूरे एक युग तक वह कल्पना, कला और व्यक्तित्व की साधना में लीन रहे। उनमें प्रकाण्ड-पाण्डित्य, प्रखर-प्रतिभा, प्रबल-प्रेरणा तथा कोमल-हृदय था। उनके हृदय में स्वतंत्र चेतना थी। पन्त की पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं :—

छन्द बन्द ध्रुव तोड़ फोड़ कर पर्वत कारा
अचल रूढ़ियों की कवि तेरी कविता-धारा
मुक्त अबाध, अमन्द, रजत-निर्झर सी निःसृत—
गलित ललित आलोक राशि चिर अकलुष अविजित !
स्फटिक सिलाओं से तूने वाणी का मन्दिर,
शिल्पि, बनाया-ज्योतिकलश निज यश का धर चिर।

(युगवाणी पन्त)

पन्त और छायावाद :—

छायावाद के कवियों में सबसे अधिक लोकप्रियता पन्त को मिली और उनका अनुकरण भी सबसे अधिक हुआ। पन्त की कविता पाठक के हृदय को

इतनी शीघ्रता से छू लेती है कि वह चकित हो जाता है। प्रकृति, नारी, मानव-मनोभावों तथा जीवन के चिरन्तन प्रश्नों के प्रति पन्त का दृष्टिकोण सदैव क्रान्तिकारी रहा है। काव्य-कला तथा विचारधारा दोनों क्षेत्रों में सबसे बड़ी क्रान्ति पन्त की कविता ने ही की है। भाषा का इतना बड़ा कलात्मक प्रयोग तो हिन्दी में सम्भवतः ही कभी हुआ हो।

प्रसाद और निराला ने हिन्दी जनता को चकित अवश्य किया परन्तु उसे नयी कविता की ओर आकृष्ट करने तथा काव्य को स्वाभाविक संस्कार देने का श्रेय पन्त को ही प्राप्त होना चाहिए। पन्त में दार्शनिकता का इतना आग्रह नहीं है जितना प्रसाद और निराला में। वे प्राकृत कवि हैं। उनकी रचनाओं में हम क्रमशः विकसित होने वाली प्रवृत्तियों का दर्शन पाते हैं। उनकी रचनाओं में सुकुमार शब्द-चयन, उत्कृष्ट कल्पना, सौन्दर्य तथा प्रेम की रहस्यात्मक अनुभूति प्रकृति के प्रति कुतूहल तथा रहस्यात्मक तीव्र आकर्षण एवं अतीन्द्रिय प्रेम का आकर्षण है। वे सर्वाधिक रोमाण्टिक तथा छायावाद-काव्य के प्रतिनिधि कवि हैं।

रीतिकालीन शृङ्गार के प्रति कटु शब्दों में पन्त कहते हैं—"समस्त देश की वासना के वीभत्स समुद्र को मथकर इन्होंने कामदेव को नव जन्म दिया। वह अब सहज ही भस्म हो सकता है। उस काल की रीतियों पर आक्षेप करते हुए वे कहते हैं-—"भाव और भाषा का ऐसा शुष्क प्रयोग, राग और छन्दों की ऐसी एकस्वर रिमझिम, उपमा तथा उत्प्रेक्षाओं की ऐसी दादुरावृत्ति, अनुप्रास एवं तुकों की ऐसी अश्रान्त उपलवृष्टि क्या संसार के और किसी साहित्य में मिल सकती है?"

नयी कविता की रागात्मक तथा नादात्मक सौन्दर्य-शक्ति की ओर संकेत करते हुए पन्त जी कहते हैं—"भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्द प्रायः संगीतभेद के कारण, एक ही पदार्थ के भिन्न स्वरूपों को प्रकट करते हैं। जैसे भ्रू से क्रोध की वक्रता, भृकुटि से कटाक्ष की चंचलता भौंहों से स्वाभाविक प्रसन्नता तथा ऋजुता का अनुभव होता है।" इस कविता की भाषा की चित्रमयता की प्रशंसा में कहते हैं—"कविता के लिए चित्रभाषा की आवश्यकता पड़ती है। उसके शब्द सस्वर होने चाहिए जो बोलते हों; सेव की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर छलक पड़े, जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सके, जो झंकार में चित्र, चित्र में झंकार हो, जिनका भाव-संगीत विद्युद्धारा की तरह रोम-रोम में प्रवाहित हो सके।"

नयी कविता में भाव तथा भाषा के सामंजस्य पर कहते हैं - "भाव तथा भाषा का स्वरैक्य ही चित्रण है। जैसे भाव ही भाषा में घनीभूत हो गये हों, निर्झरिणी की तरह उनकी गति और रव एक बन गये हों, छुड़ाये न जा सकते हों।" अलंकारों के सम्बन्ध में उनका मत है - "अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के लिए विशेष द्वार हैं। कविता में भी विशेष अलंकारों, लक्षण-व्यंजना आदि विशेष शब्द-शक्तियों तथा विशेष छन्दों के सम्मिश्रण और सामंजस्य से विशेष भाव की अभिव्यक्ति करने में सहायता मिलती है।"

छन्दों के सम्बन्ध में पन्त जी कहते हैं—"संस्कृत का संगीत जिस प्रकार हिल्लोलाकार मालोपमा में प्रवाहित होता है, उस तरह हिन्दी का नहीं। हिन्दी का संगीत केवल मात्रिक छन्द ही में अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की सम्पूर्णता प्राप्त कर सकता है। वर्णवृत्तों की लहरों में उसकी धारा अपना चंचल नृत्य खो बैठती। सवैया तथा कवित्त छन्द मुझे हिन्दी की कविता के लिए अधिक उपयुक्त नहीं जान पड़ते। तुक राग का हृदय है।"

पन्त के उपर्युक्त उद्धरणों से छायावादी कविता की अधिक विशेषताओं पर यद्यपि प्रकाश नहीं पड़ता किन्तु उनके शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। आधुनिक काल के साहित्य का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों के लिए इन कलाकारों के कथन बड़े उपयोगी हैं। इनसे अनेक समस्याओं का स्वतः समाधान हो जाता है। पन्त के कुछ अन्य कथन ध्यान देने योग्य हैं:—

"कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति-निरीक्षण से मिली है। दर्शनशास्त्र और उपनिषदों के अध्ययन ने मेरे राग तत्त्व में मन्थन पैदा कर दिया। भारतीय दर्शन ने मेरे मन को अस्थिर वस्तु-जगत से हटाकर अधिक चिरन्तन भाव जगत् में स्थापित कर दिया। अपने मानसिक संघर्ष को मैंने वाणी नहीं दी है, मैंने उससे ऊपर उठने की चेष्टा की है। बाद की रचनाओं में मेरे हृदय का आकर्षण मानव जगत् की ओर अधिक प्रकट होता है। छायावाद के पास भविष्य के लिए उपयोगी नवीन आदर्शों का प्रकाश, नवीन भावना का सौन्दर्यबोध और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य न रहकर अलंकृत संगीत बन गया था। सभी रचनाओं में मैंने कल्पना को ही वाणी दी।"

महादेवी और छायावाद :—

छात्रों की सुविधा के लिए महादेवी के कुछ कथन दिये जाते हैं।

(अ) एक ओर साधना-पूत आस्तिक और भावुक माता और दूसरी ओर सब

प्रकारों की साम्प्रदायिकता से दूर, कर्मनिष्ठ और दार्शनिक पिता ने अपने-अपने संस्कार देकर मेरे जीवन को जैसा विकास दिया उसमें भावुकता के कठोर धरातल पर, साधना एक व्यापक दार्शनिकता पर, आस्तिकता एक सक्रिय पर किसी धर्म या सम्प्रदाय में न बँधनेवाली चेतना पर ही स्थिर हो सकती थी।

(आ) वाह्य जीवन के दुखों की ओर मेरा ध्यान विशेष जाने लगा।

(इ) तब सामाजिक जागृति के साथ मैंने 'शृङ्गारमयी···भारतमाता··· उतारूँ आरती।' की सृष्टि की।

(ई) इस समय से मेरी प्रवृत्ति एक विशेष दिशा की ओर उन्मुख हुई जिसमें व्यक्तिगत दुख, समष्टिगत गम्भीर वेदना का रूप धारण करने लगा।

(उ) मेरी काव्य-जिज्ञासा कुछ तो प्राचीन साहित्य और दर्शन में सीमित रही और कुछ संस्कृत की रहस्यात्मक आत्मा से लेकर छायावाद के कोमल कलेवर तक फैल गई। करुणा बहुल होने के कारण बुद्ध सम्बन्धी साहित्य भी मुझे बहुत प्रिय रहा है।

(ऊ) निरन्तर एक स्पन्दित मृत्यु की छाया में चलते हुए मेरे अस्वस्थ शरीर और व्यस्त जीवन को जब कुछ क्षण मिल जाते हैं तब एक अमर चेतना और व्यापक करुणा से तादात्म्य करके अपने आगे बढ़ने की शक्ति पाती हूँ।

(ए) साहित्य मेरे सम्पूर्ण जीवन की साधना नहीं है।

छायावाद के सम्बन्ध में महादेवी के विचार :—

(क) छायावाद ने नये छन्द बन्धों में सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति को जो रूप देना चाहा वह खड़ीबोली की सात्विक कठोरता नहीं सह सकता था ; अतः कवि ने कुशल स्वर्णकार के समान प्रत्येक शब्द को ध्वनि, वर्ण और अर्थ की दृष्टि से नाप-तौल और काट-छाँटकर तथा कुछ नये गढ़कर अपनी सूक्ष्म भावनाओं को कोमलतर कलेवर दिया।

(ख) इस युग की प्रायः सब प्रतिनिधि रचनाओं में किसी-किसी अंश तक प्रकृति के सूक्ष्म सौन्दर्य में व्यक्त किसी परोक्ष सत्ता का आभास भी रहता है और प्रकृति के व्यक्तिगत सौन्दर्य पर चेतनता का आरोप भी।

(ग) उसके सामने भारतीय रहस्यवाद की परम्परा भी थी।

(घ) छायावाद स्थूल की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ था। अतः स्थूल को उसी रूप में स्वीकार करना उसके लिए सम्भव न हो सका ; परन्तु उसकी

सौन्दर्य-दृष्टि स्थूल के आधार पर नहीं है यह कहना स्थूल की परिभाषा को संकीर्ण बनाना है।

(ङ) छायावाद ने कोई रूढ़िगत अध्यात्म या वर्गगत सिद्धान्तों का संचय न देकर हमें केवल समष्टिगत चेतना और सूक्ष्मगत सौन्दर्यसत्ता की ओर जागरूक कर दिया था। इसीसे उसे यथार्थ रूप में ग्रहण करना हमारे लिए कठिन हो गया।

(च) छायावाद का जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं रहा।

(छ) छायावाद के प्रारम्भकाल में आर्थिक प्रश्न इतना उग्र नहीं था।

अन्य विचारक :—

"छायावाद में अभाव को अनुभूति द्वारा अधिक कल्पना से भरा गया। वियोग उसके लिए एक दृष्टि (cult) ही हो गया। आँसू मानो छिपाने की नहीं दिखाने की वस्तु हो गया। व्यथा संग्रहणीय न होकर बिखेरी जाने लगी। जो वेदना सँजोयी जाकर बल बनती वह साज-सज्जा से प्रस्तुत की जाकर छाया-मात्र रह गई।" (जैनेन्द्र कुमार)

छायावाद की प्रसिद्ध कृतियाँ :—

सन् १९२१ से १९३६ तक छायावाद का स्वर्णयुग है। अंजलि, चित्ररेखा (रामकुमार वर्मा), मधुकण (भगवती चरण वर्मा), रश्मि, नीरजा, सान्ध्यगीत (महादेवी वर्मा) गुंजन (पन्त), पाथेय (सियारामशरण गुप्त), लहर, कामायनी (प्रसाद) रेणुका (दिनकर), गीतिका (निराला) तथा मधुबाला (बच्चन) इस काल की कृतियाँ हैं।

अन्त :—

काल के अनुसार यह साहित्यिक विद्रोह शीघ्र ही समाप्त हो गया। उसकी एकान्तता युग के प्रतिकूल पड़ गई। उसमें जीवन का यथार्थ दृष्टिकोण नहीं था। इसकी वेदना व्यष्टि में केन्द्रित थी जिसने समष्टि की यथार्थता से आँखें मूद ली थी। इसमें पराजित भोगवाद तथा झूठी मस्ती थी।

कहा जाता है कि द्विवेदीयुग की कठोर नैतिकता तथा इतिवृत्तात्मकता के विरुद्ध यह एक क्रान्ति थी किन्तु सच पूछा जाय तो यह आन्तरिक क्रान्ति नहीं थी बल्कि अंग्रेजी और बँगला के चमत्कार की एक लहक थी। फल यह हुआ कि कवियों को पुनः यथार्थ की धरती पर आना पड़ा। द्विवेदी-युग की साधना के पथ पर ही आना पड़ा। द्विवेदी जी सदा ही कला की स्वतंत्रता के पोषक

थे, नवीनता के प्रेरक थे। वे उच्छृङ्खलता के विरोधी थे। द्विवेदी-युग की सुलगाई हुई आग, काल पाकर भड़क उठी और कलाकार को आकाश से उतर कर समाज तथा राष्ट्र में उतरना पड़ा। प्रगति का मार्ग खुल गया।

प्रगतिवाद की चेतना

बाह्य विदेशी आकर्षणों ने छायावाद को जन्म दिया था। कलाकार युग और समाज को भूलकर अपनी अतृप्त वासनाओं के लिए अदृश्यलोक में शरण ढूँढने लगे। भारतीय जीवन-दर्शन को छोड़कर यहाँ का कलाकार बाहर जा भी नहीं सकता था। फलस्वरूप अभिव्यंजना की विदेशी शैली अपना कर भी उसे भारतीय रहस्यवाद के सत्य पर ही चलना पड़ा। वास्तव में भारतीय रहस्यवाद की प्रतिष्ठा साधना के धरातल पर हुई है। आधुनिक ऐन्द्रियता-प्रधान भौतिक-युग में इस साधना की आशा की जा सकती है। इस पवित्र साधना को साहित्यिक आन्दोलन के रूप में कैसा खड़ा कर दिया गया? इसीलिए तो यह साधना महादेवी तक ही सीमित रह गई और शेष क्रान्तिकारियों को इस मैदान से भागकर पुनः उस युग-क्रान्ति में स्वर मिलाना पड़ा, जो द्विवेदी युग से आ रही थी।

समाज की यात्रा अबाध गति से चलती आई है। छायावादी कवियों ने उसकी उपेक्षा की थी। जो कुछ भी हो। उन कलाकारों से कला को बहुत कुछ मिला भी। इन कलाकारो ने खड़ीबोली को अपने परिश्रम से सशक्त तो कर ही दिया। उधर देश में पचासों वर्षों से अंग्रेजी दासता के विरुद्ध देश-भक्त लड़ रहे थे। विश्व में निर्मम पूँजीवाद के विरुद्ध समाजवाद तलवार लेकर खड़ा हो गया। देश में क्रान्ति की लहर और बलिदानों की होड़ थी। समाजवाद की क्रान्ति से हमारे देश की क्रान्ति को प्रेरणा मिली। यहाँ के कवियों ने समाजवादी क्रान्ति से प्रेरणा लेकर वर्तमान क्रान्ति की प्रगति में बड़ा सहयोग दिया। देश सन् १९४७ में स्वतंत्र भी हो गया किन्तु विनाशकारी विभाजन के साथ।

हमारे देश में प्रगतिवाद का विस्फोट परिस्थितिजन्य ही था किन्तु रूस का साम्यवाद का उसपर गहरा प्रभाव था और कहीं-कहीं तो वह रूस का अनुकरण मात्र था। जो कुछ भी हो उससे सहायता मिली। विदेशी शोषकों को हटाने के लिए देशी-विदेशी किसी भी शस्त्र का प्रयोग करना चाहिए। रूसी साम्यवाद ने हिन्दी में प्रगतिवाद के नाम से खड़ा होकर कम से कम, पढ़े लिखे लोगों को बड़ी चेतना दी। देश के आन्दोलन को चेतना मिली।

चूँकि प्रगतिवाद का लक्ष्य समाज का शोषित वर्ग है और उसका अभिप्राय उस वर्ग की भौतिक प्रगति तक ही सीमित है अतः उसने भाषा तथा कला को ऐसा रूप देने की चेष्टा की जो उस वर्ग के लिए ग्राह्य हो। चूँकि इसका लक्ष्य चमत्कार प्रदर्शन अथवा मनोरंजन नहीं था बल्कि प्रेरणा को सामान्य जन तक पहुँचाना था, अतः प्रगतिवाद को कला में सरलता देनी पड़ी। दुर्भाग्य से लक्ष्य-वर्ग निरक्षर तथा इतना कुचला हुआ था कि न तो प्रेरणा पाने योग्य उसमें रक्त था न शीघ्र कुछ समझ सकने की शक्ति। आज भी वही दशा है बल्कि उससे भी दयनीय।

पिछले युगों में तुलसी जैसे सन्तों का लक्ष्य भी मंगलानाम् ही था। उन सन्तों का आन्दोलन भी कोरा साहित्यिक आन्दोलन नहीं था बल्कि सामाजिक था। उसी प्रकार यह प्रगतिवादी आन्दोलन भी शुद्ध सामाजिक था। परन्तु इसका सम्बन्ध अथवा लक्ष्य केवल शोषित वर्ग था। साम्यवाद का विश्वास है कि ऐसा कोई मध्यममार्ग है ही नहीं जिससे सभी वर्गों का एक साथ हित हो सके। बस समाधान एक ही है और वह है रक्त-क्रान्ति द्वारा पूँजीवादियों की समाप्ति। हिन्दी के प्रगतिवादियों का बहुमत इसी सिद्धान्त को लेकर चला। स्वातंत्र्य आन्दोलन में इससे अवश्य कुछ सहायता मिली किन्तु भारत में प्रगतिवाद के चरम लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हुई। इसके कई कारण हैं।

पहला कारण तो यह था कि इसका आगमन आकस्मिक था। ऊपर से आया था। भारतीय जन-मानस से इसकी उत्पत्ति नहीं हुई थी। कभी जन-मानस को स्पर्श भी नहीं कर सका क्योंकि कई बाधाएँ थीं। प्रथम बाधा तो यह थी कि स्वातंत्र्य आन्दोलन सम्पूर्ण राष्ट्र का लक्ष्य था किसी एक वर्ग का नहीं। शत्रु इतना प्रबल था कि संयुक्त शक्ति से ही जा सकता था। दूसरी यह कि अंग्रेजों ने साम्प्रदायिकता का बीज बो दिया था और वैसे ही हिन्दू जाति अनेक पतित भागों में बँटी हुई थी।

दूसरा कारण यह था कि इसका दृष्टिकोण कोरा भौतिकतावादी था। भारतीय जीवन-दर्शन कभी भी भौतिकता की नश्वरता को भुला नहीं सकता। भारत विश्व-दर्शन का जन्मदाता है। भूखों मर जायगा किन्तु अपने सिद्धान्तों की बलि नहीं देगा। दुख की बात यह है कि इस पवित्र दर्शन की आड़ में सामन्तों पुरोहितों, जमीदारों और ठेकेदारों ने निर्मम स्वार्थ-साधन किया है। किसी भी भौतिक दर्शन को तब तक यहाँ सिद्धि, ठोस रूप में नहीं मिल सकती जब तक उसके मूल में अध्यात्म का शाश्वत आधार न हो। हमारे देश में पूँजीवादी

भ्रष्टाचार ने जटिल समस्या उत्पन्न कर दी है। जन-मानस में दोनों दर्शनों के संघर्ष की कुण्ठा चल रही है। यही कुण्ठा आज के कलाकार के लिए सबसे बड़ी चुनौती है। यह कुण्ठा शाश्वत है। कभी भी इसका समाधान नहीं हुआ। मानवता की यह पीड़ा चिरन्तन है। साहित्यकार या तो हार मान ले या खुलकर इसका समाधान करे। इसके समाधान के बिना जन-शक्ति का ह्रास होता जा रहा है। यदि इस कुण्ठा का शीघ्र समाधान न हुआ तो भावी पीढ़ियाँ हमको उसी प्रकार धिक्कारेंगी जिस प्रकार भूत के इतिहास को हम धिक्कारते हैं बल्कि उससे भी अधिक। इस तथ्य पर हम अगले शीर्षक में विस्तार से विचार करेंगे क्योंकि मानवता के जीवन-मरण का ऐसा प्रश्न है जो उभड़कर सामने आ गया है।

तीसरा कारण यह है कि अंग्रेजों ने अपनी प्राकृतिक दूषित और पतित चाल से देश का विभाजन कर दिया। इस विभाजन ने हर प्रकार की प्रगतियों को शाश्वत चुनौती दे दी है। शाश्वत इसलिए कि अंग्रेज जाति के जीवित रहते इस समस्या का समाधान नहीं हो सकता। यह बात दूसरी है कि देश में भ्रष्टाचार से ऊब कर स्थिति का सामना करने के लिए (ठोस शक्ति लाने के लिए!) कोई जन-क्रान्ति अथवा सैनिक क्रान्ति हो जाय। परन्तु निश्चित ही वह क्रान्ति, प्रगतिवादियों की भौतिक साम्यवादी क्रान्ति से भिन्न होगी और उसका लक्ष्य भी भिन्न होगा।

चौथा कारण ऐसा है जिससे प्रतिवादी अधिक खिन्न होंगे और सम्भवतः उनके लिए सबसे बड़ी इसमें चोट है। वह है साम्यवादी चीन की पाशविक विस्तारवादी घातक नीति। विश्व-मानवता पर निर्मम प्रहार करने वाली इस्लाम की तलवार के बाद इतिहास में मानवता पर सबसे बड़ी चोट यही है। अंग्रेजों की विष-लता का शिकार तो देश केवल तन्द्रा के कारण हुआ। परन्तु जागरण काल में इस दानवता से त्राण पाना कठिन हो गया है। कारण यह है कि तल्वार, विष तथा दानवता तीनों संयुक्त होकर सन्नद्ध हैं। इस प्रकार यह साम्यवाद घृणा की वस्तु बन गया है। एकांगी अति-भौतिकवाद का ऐसा ही परिणाम होता है।

जो कुछ भी हो, प्रगतिवाद हिन्दी-साहित्य में एक ऐतिहासिक सत्य और विश्वास लेकर आया। उपयुक्त समय में आया। एक आशा लेकर आया। छायावाद की तरह यह आधारहीन नहीं था। दीन, हीन, शोषित तथा पीड़ित जनता की उद्धार-कामना इसका ठोस संबल थी। किसी भी दार्शनिक आध्यात्मिक सिद्धान्त के नाम पर इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। सच

पूछा जाय तो अब अध्यात्मवाद को भी स्वयं जीवित रहने के लिए, उस सत्य का समाधान बहुत जल्द ढूँढ़ना होगा, नहीं तो शीघ्र ही अपने को नष्ट करना होगा।

हिन्दी-कविता में—अपनी पच्चीस वर्ष की आयु में ही छायावाद को होश में आना पड़ा। सन् १९३९ से कुछ आगे पीछे, द्वितीय विश्व-युद्ध काल में, सन् १९४२ की भारतीय क्रान्ति के इर्द-गिर्द, प्रगतिवाद का प्रादुर्भाव हिन्दी-साहित्य में हुआ। देश-भक्ति तथा जन-जागरण की लहर पहले से ही आ रही थी। प्रेमचन्द जैसे गद्यकारों के साहित्य में जनता के असन्तोष की लपटें दिखाई पड़ती हैं। हमारे कवि भी उसी क्रान्ति में आहुति देने लगे। उसी विस्फोटक स्थिति में प्रगतिवाद का पदार्पण हुआ। इसे कलाकारों ने उपन्यासों, कहानियों नाटकों तथा काव्यों में खुलकर अपनाया।

पन्त जी प्रगतिवाद के सूत्रपातकर्ताओं में से हैं। मार्क्सवादी आत्मा की सत्ता नहीं स्वीकार करते और 'पदार्थ' को ही सब कुछ समझते हैं। मार्क्सवाद की ओर पन्त जी का झुकाव सामूहिक दृष्टि से है किन्तु व्यक्तिगत रूप से इनके ऊपर गाँधीवाद का गहरा प्रभाव है। वे भौतिकवाद तथा आत्मवाद का समन्वय चाहते हैं। वे प्रगतिवाद के भीतर आकर अपना सौन्दर्यवादी रूप बनाए हुए हैं। 'युगवाणी' में सिद्धान्त-प्रतिपादन और 'ग्राम्या' में जन-जीवन के हर्ष-विषाद और सुख-दुख के मार्मिक चित्र हैं। वहाँ वास्तविकता को यथार्थ रूप में देखने का प्रयत्न किया गया है।

> अर्ध जगत अवगुण्ठित, तमसावृत रे लोक असंख्यक।
> अर्ध सभ्य लब विद्य शेष जो जाति वर्ण के पोषक॥
> खोई सी है मानवता खोई वसुधा प्रतिबन्धित।
> जाति पाँति हैं, रूढ़ि रीति हैं देश प्रदेश विभाजित॥

समाज की अवदशा से उनका मन दुखी है। पन्त जी ने भारतीय आत्मा को स्पर्श करने का प्रयत्न किया है। उनका विचार है कि वास्तविक सुख और शान्ति की स्थापना सन्तुलन से ही हो सकती है।

> बहिर्चेतना जाग्रत जग में अन्तर्मानव निद्रित।
> बाह्य परिस्थितियाँ जीवित अन्तर्जीवन मूर्छित मृत॥
> भौतिक वैभव औ' आत्मिक ऐश्वर्य नहीं संयोजित।
> दर्शन औ' विज्ञान विश्व जीवन में नहीं समन्वित॥

लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए वे जनता में जागृति उत्पन्न करना चाहते हैं

किन्तु उन्हें गाँधीवादी साधन ही पसन्द है। साम्यवादी रक्तक्रान्ति अभीष्ट नहीं।

हमें विश्व संस्कृति रे भू पर करनी आज प्रतिष्ठित।
मनुष्यत्व के नव द्रव्यों से मानव उर कर निर्मित॥
आज राम कोदण्ड तुम्हारे कर में नव सन्धानित।
दीप्त अहिंसा तीरों से करता भू तमस पराजित॥

पन्त जी का प्रगतिवाद रूसी साम्यवाद की सीमा में आबद्ध नहीं है। उसका आधार भारतीय मानववाद है।

भूतवाद उस स्वर्ग के लिए है केवल सोपान।
जहाँ आत्मदर्शन अनादि से समासीन अम्लान॥

दिनकर हिन्दी के प्रसिद्ध राष्ट्रीय कवि हैं। समाज की आशा और निराशा, शोषितवर्ग का हाहाकार, उसका रुदन तथा रोष उनकी कविताओं में मुखरित है। उनकी रचनाओं में क्रान्ति की पुकार तथा क्षुब्ध हृदय का विस्फोट है। वे अन्तर्राष्ट्रीयता की अपेक्षा राष्ट्रीयता को अधिक महत्त्व देते हैं। उन्होंने शोषण तथा दमन के नग्न चित्र खींचे हैं। विषमता को मिटाने के लिए वे युद्ध को अनिवार्य समझते हैं। देशवासियों में वे तेज और पौरुष की कामना करते हैं। दिनकर एक ऐसे प्रगतिवादी कवि हैं जिनका दृष्टिकोण सर्वथा स्वतंत्र और भारतीय है और विदेशी साम्यवाद से उसका कोई सम्बन्ध नहीं।

नरेन्द्र शर्मा सामयिक परिस्थितियों के प्रति जागरूक कलाकार हैं। मधुरता तथा स्पष्टता इनकी कविता की मुख्य विशेषताएँ हैं। पन्त जी का इनके ऊपर पर्याप्त प्रभाव है। उन्हीं की तरह इनमें भी परिवर्तन होते गए हैं। पहले वे रोमांटिक कवि थे। इनका प्रगतिवाद प्रायः मार्क्सवादी है।

लाल रूस है ढाल साथियो सब मजदूर किसानों की।
वहाँ राज है पंचायत का वहाँ नहीं है बेकारी॥

अंचल एक भावुक कलाकार हैं। उनकी रचनाओं में भावों का वेग पाया जाता है। शोषित तथा पीड़ित वर्ग का बड़ा ही मार्मिक चित्र इन्होंने खींचा है।

वह नस्ल जिसे कहते मानव कीड़ों से आज गई बीती।
बुझ जाती तो आश्चर्य न था हैरत है पर कैसे जीती।

अंचल का रोष सामयिक एवं उचित ही है :—

हो यह समाज चिथड़े-चिथड़े, शोषण पर जिसकी नींव पड़ी।

केदारनाथ अग्रवाल स्वतंत्र चेतना के कलाकार हैं। इनकी नूतन शैली अपनी बनाई हुई है। मुक्त छन्दों में इन्होंने मजदूरों तथा किसानों का चित्र खींचा है इनके चित्रणों में समाज की यथार्थता तथा स्पष्टता है।

जब बाप मरा तब यह पाया
भूखे किसान के बेटे ने;
घरका मलबा, टूटी खटिया,
कुछ हाथ भूमि-वह भी परती।

बनिया के रुपयों का कर्जा
जो नहीं चुकाने पर चुकता।
दीमक मच्छर गोजर माटा-
ऐसे हजार सब सहवासो,

बस यही नहीं जो भूख मिली,
सौ गुनी बाप से अधिक मिली।

अकालग्रस्त बंगाल का चित्र बड़ा ही मार्मिक है :—

माँ अचेतन हो रही है
मूर्च्छना में रो रही है
दाम के निर्मम चरण पर
प्रेम माथा टेकता है।
बाप बेटा बेचता है॥

भगवतीचरण वर्मा की 'भैंसागाड़ी' कविता प्रसिद्ध है।

भू की छाती पर फोड़ों से, हैं उठे हुए कुछ कच्चे घर।
मैं कहता हूँ खँडहर उसको पर वे कहते हैं उसे ग्राम।
पशु बनकर नर पिस रहे जहाँ नारियाँ जन रही हैं गुलाम।
पैदा होना फिर मर जाना, यह है लोगों का एक काम॥
वे व्यापारी, वे जमींदार जो हैं लक्ष्मी के परम भक्त।
वे निपट निरामिष सूदखोर पीते मनुष्य का उष्ण रक्त॥

इनके अतिरिक्त प्रभाकर माचवे, भारतभूषण अग्रवाल, रांगेय राघव,

मुक्ति बोध तथा नागार्जुन आदि प्रसिद्ध कलाकार हैं जिनकी रचनाओं में पीड़ीत वर्ग के मार्मिक चित्र हैं। इस प्रकार प्रगतिवादी साहित्य की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिनके कारण यह छायावादी प्रवृत्ति की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण रहा। शैली, भाषा तथा विषय सभी दृष्टियों से यह भिन्न था। इसकी मुख्य विशेषताएँ हैं :—

समाज की यथार्थता :—

इस साहित्य में सामाजिक विषमता तथा ढोंग की पोल खोली गई। इससे राष्ट्रीय चेतना को प्रेरणा मिली। शोषित वर्ग के करुण-चित्र अवश्य ही मार्मिक हैं। इसमें पूँजीपति वर्ग की धज्जियाँ उड़ाई गई हैं।

अनुभूति की उग्रता :—

समाज की विषमता के प्रति कवियों के हृदय में रोष है। उनकी रचनाओं में उनके हृदय की तीव्र अनुभूतियों के उद्‌गार हैं। यद्यपि उनमें बौद्धिक चेतना अधिक है किन्तु मर्मस्पर्शी स्थल कम नहीं हैं। कहीं तो उन्होंने सीधा प्रहार किया है और कहीं व्यंग्यार्थों तथा लक्ष्यार्थों का सहारा लिया है। समाज की घोर जड़ता के कारण उनमें तीव्र रोष है; अतः उनके व्यंगों में कटूक्तियाँ भी आ गई हैं। उनकी उग्रता सामयिक तथा उचित है।

स्पष्टता तथा सरलता :—

निम्नवर्ग ही उनका विषय है। इनकी कला भी उसी वर्ग के लिए है। अपना सन्देश पहुँचाने के लिए उन्होंने अपनी वाणी को स्पष्टता तथा सरलता प्रदान की है। मुक्त-छन्दों के अटपटापन से उनके उद्देश्य में बड़ी बाधा पड़ी है। प्रभाव उत्पन्न करने के लिए छन्दों में गेयता, लय तथा तुक आवश्यक तत्त्व हैं। इन रचनाओं में लोक गीत शैली तथा लोक-छन्दों का भी प्रयोग होना चाहिए।

इन रचनाओं में लोक-प्रचलित प्रतीकों, उपमानों तथा शब्दों के प्रयोग भी चल रहे हैं। कुछ रूपक बड़े मार्मिक हैं जैसे उपेक्षित किन्तु उद्‌बुद्ध निम्न वर्ग के लिए 'कुरूप किन्तु अब धधक उठने वाले कोयले' का रूपक खड़ा किया गया है। कहीं निम्न-वर्ग सूर्य है और उच्चवर्ग चाँदनी चुराने वाला चाँद है। कहीं पगही, पागुर, खटिया साइत, धनि, बिलमना तथा छिन जैसे ग्रामीण शब्दों के प्रयोग भी किये गये हैं। इनकी शैली कहीं वर्णनात्मक कहीं उद्‌बोधनात्मक और कहीं विचारात्मक है। सर्वत्र ही स्पष्टता

और सरलता का ध्यान रखा गया है किन्तु देश की ठटरियों में प्रवेश करना खेल नहीं है।

परिवर्तन की पुकार :—

सामाजिक ढाँचे से विना परिवर्तन हुए विषमता की समस्या हल नहीं हो सकती। उग्र क्रान्ति ही वह परिवर्तन ला सकती है। इन कलाकारों का दृष्टिकोण भौतिकवादी है। उनकी क्रान्ति ग्राह्य है किन्तु भौतिकवाद नहीं।

उपसंहार :—

इतना तो निर्विवाद है कि धर्म तथा नियमों की दुहाई देकर सृष्टि के आदिकाल से लेकर आज तक सामन्तों, पुरोहितों तथा पूँजीपतियों ने समाज के एक विशाल वर्ग का असह्य दमन तथा शोषण किया है। सम्पूर्ण भौतिक साधनों पर उन्हीं का अधिकार रहा है। इसी भौतिक सत्य ने साम्यवाद को जन्म दिया। परन्तु हमारे देश के साहित्यकार को अपनी ही भूमि में समाधान ढूँढ़ना चाहिए। रूस तथा चीन की दुहाई देना आत्मविश्वास को धोखा देना है, गौरव के प्रतिकूल तो है ही। रचनाओं की सफलता के लिए कलाकार में साधना तथा सच्ची प्रेरणा भी आवश्यक है। काव्य का धरातल हृदय है। राजनीति की सीमा में उसे बाँधना घातक है।

———

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जीवन-वृत्त

हिन्दी-साहित्य के गगन में इस इन्दु का उदय अत्यन्त अल्पकाल के लिए हुआ था। केवल चौंतीस वर्ष की आयु में, ये काल कवलित हो गये। हिन्दी के उस विपत्ति-काल में ऐसी महान प्रतिभा का अल्पायु में अस्त हो जाना हृदय को पीड़ा पहुँचाता है। दूसरी ओर इतने कम समय में इनकी कृतियों के चमत्कार को देखकर आश्चर्य होता है।

बंगाल के इतिहास प्रसिद्ध सेठ अमीचन्द के वंश में इनका जन्म ९ सितम्बर सन् १८५० ई० में काशी में हुआ था। इनके पिता का नाम बाबू गोपाल चन्द्र था। गोपालचन्द्र जी हिन्दी के एक अच्छे कवि थे। पाँच वर्ष की आयु से ही हरिश्चन्द्र जी की विलक्षण प्रतिभा का दर्शन होने लगा था। उसी आयु में उन्होंने एक दोहा रचकर लोगों को चमत्कृत कर दिया था।

लै ब्योंड़ा ठाढ़े भये श्री अनिरुद्ध सुजान।
बानासुर की सैन को हनन लगे बलवान॥

यह देखकर उनके पिता ने आशीर्वाद दिया था—'तू मेरा नाम बढ़ाएगा।' उन्होंने पं० लोकनाथ को इनका शिक्षक नियुक्त कर दिया था। वही इनके काव्य-गुरु हुए जिनकी देख-रेख में हरिश्चन्द्र ने रीतिग्रन्थों का मनन किया। आगे चल कर इस अध्ययन का परिचय हमको इनकी कविता में मिलता है। संस्कृत के पौराणिक तथा साहित्यिक ग्रन्थों का अध्ययन भी उन्होंने अल्पकाल ही में किया।

इस अध्ययन के बाद उन्हें यात्राओं के अवसर मिले। उन यात्राओं से उन्हें जीवन, समाज तथा देश के अनुभव प्राप्त हुए। इस प्रकार ग्रन्थों के अध्ययन से उन्हें प्राचीन का ज्ञान मिला तथा यात्राओं से नवीन का परिचय प्राप्त हुआ। इसीलिए उनके साहित्य में हम प्राचीन और नवीन का समन्वय देखते हैं। इनके पिता के मुख्य दो काम थे, कविता तथा पूजा-पाठ करना। इस पारिवारिक संस्कार का स्पष्ट प्रभाव हरिश्चन्द्र के भक्ति-काव्य में दिखाई देता है। पिता की वही वैष्णव भक्ति, उनकी वही ब्रजभाषा तथा शिक्षक द्वारा प्राप्त ज्ञान उनकी रचनाओं में स्पष्ट लक्षित होते हैं।

पाँच वर्ष की अल्पावस्था में ही वे मातृ-स्नेह से वंचित हो गये। कुछ ही

दिनों के बाद इनके पिता भी स्वर्गवासी हो गये। दोनों आघात आकस्मिक तथा असामयिक थे। इन आघातों का स्थायी प्रभाव इनके हृदय पर पड़ा जिसकी क्षीण झलक उनके सम्पूर्ण साहित्य में पाते हैं। अंग्रेजी तथा उर्दू के शिक्षक भी इनके लिए घर पर लगाये गये थे। तेरह वर्ष की आयु में इनका विवाह हुआ। आगे चलकर इनसे दो पुत्र तथा एक पुत्री का जन्म हुआ। विधि की विडम्बना ऐसी कि दोनों पुत्र भी चल बसे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने सत्य हरिश्चन्द्र की भाँति आघातों को सिर पर उठाकर हिन्द, हिन्दू तथा हिन्दी की सेवा के व्रत का निर्वाह प्राणपण से मृत्युपर्यन्त किया। हमारा वर्तमान उनका ऋणी है। वे एक घटनाके समान अवतीर्ण हुए थे।

विद्यालय की पढ़ाई में उनका जी न लगा। उस कृत्रिम वातावरण तथा वैसी पढ़ाई से उनको सन्तोष भी कैसे मिलता? उन्हें तो अल्प समय में बहुत कुछ पढ़ना था। यही उन्होंने घर पर तथा यात्राओं में किया भी। थोड़े समय में ही हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, अंग्रेजी, बँगला तथा मराठी आदि भाषाओं के साहित्य का न्यूनाधिक ज्ञान और परिचय मिल गया। अन्तिम काल में वे क्षय रोग से मरे। सच पूछा जाय तो वे देश-सेवा की बलि-वेदी पर शहीद हो गये। उस शहीद का स्मारक बनवा कर देश को उसकी पूजा करनी चाहिए। इस क्षय तथा मृत्यु के दो कारण थे पहला यह कि उन्होंने शक्ति से अधिक परिश्रम तथा अध्ययन, साहित्य तथा देश-सेवा में कर दिया। दूसरे दीन-दुखियों तथा साहित्य की सेवा में उन्होंने अपना सारा धन ही लुटा दिया और फल यह हुआ कि उनके पास कुछ न रह गया। इस शोक ने उनको गला दिया।

हरिश्चन्द्र का स्वयं जीवन ही दर्शन, भक्ति, काव्य तथा नाटक है। निबन्ध तथा पत्र-पत्रिकाओं का विषय है। सभा-सोसाइटियों में स्मरण करने योग्य है। उनकी पावन स्मृति हृदय को विचलित करने वाली है। वे भारत के सपूत, सच्चे सन्त तथा सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य के संस्करण तथा प्रतिनिधि एवं भविष्य के विधाता हैं। वे भारतीयता की आस्था और विश्वास हैं। उन्होंने देश-सेवा में अपना सर्वनाश कर दिया। उस तपस्वी को प्रत्येक युग पुकारता रहेगा। वे युगों की शाश्वत पुकार हैं।

हिन्दी के जिस संकटकाल में उस योद्धा ने लोहा लिया वैसा संकट सम्भवतः कभी न आया होगा। अभावों के मोर्चों पर उस सेनानी ने व्यूह-रचना की। आगे अंग्रेजी तथा उर्दू की भीषण छल-कपट-पूर्ण टक्कर तथा पीछे से

गन्दी और पैर खींचने वाली जड़ जनता। इस संग्राम में उन्हें चतुर्दिक मोर्चे खोलने पड़े। उन सभी मोर्चों का इतिहास रोमांचकारी है। सैनिकों तथा साधनों पर धन लगाया। कभी आगे बढ़कर स्वयं लोहा लिया और कभी पीछे हटकर योद्धा तथा उपकरण तैयार किये। उनकी साधना में निहित बलिदान तथा प्रयत्नों के पीछे चलने वाली संगठित योजना प्रत्येक युग का पथ-प्रदर्शन करती रहेगी। वे युग के प्राण थे।

भारतेन्दु का काव्य-साहित्य

भारतेन्दु के जीवन तथा साहित्य का मूल तत्त्व है प्रेम। उसी एक तत्त्व के विविध रूप हमको उनकी साधना तथा साहित्य में सर्वत्र दिखाई देते हैं। ईश्वर-प्रेम, देश-प्रेम, समाज प्रेम तथा साहित्य-प्रेम आदि उसके अनेक रूप हैं। विगत सहस्राब्दी में जनता का स्थान देश की राजनीति तथा अर्थ-व्यवस्था में नगण्य था। उसका तो अस्तित्व तक खतरे में था। इस दासता तथा दमन के वातावरण में कलाकारों तथा सन्तों ने देश के साहित्य तथा संस्कृति की रक्षा पद्यमय काव्यों में की। फलस्वरूप गद्य-पक्ष सूना रहा। भारतेन्दु ने युग की आवश्यकता को समझकर अपनी अधिक शक्ति इसी दिशा में लगायी। शुक्ल जी का कथन विचारणीय है :—

"गद्य को जिस परिमाण में भारतेन्दु ने नये-नये विषयों और मार्गों की ओर लगाया उस परिमाण में पद्य को नहीं।" दूसरे स्थान पर शुक्ल जी कहते हैं—"भारतेन्दु जी ने हिन्दी काव्य को केवल नये-नये विषयों की ओर ही उन्मुख किया, उसके भीतर किसी नवीन विधान या प्रणाली का सूत्रपात नहीं किया। दूसरी बात उनके सम्बन्ध में ध्यान देने की यह है कि वे केवल 'नरप्रकृति' के कवि थे, बाह्य प्रकृति की अनन्तरूपता के साथ उनके हृदय का सामंजस्य नहीं पाया जाता।"

उनको समय कहाँ मिला? आयु के मार्मिक क्षणों में जो उन्होंने कर दिया वही आश्चर्यजनक था। कविता को प्रोत्साहन देने के लिए उन्होंने गोष्ठियों की स्थापना की, जहाँ कवि लोग समस्या पूर्ति किया करते थे। भारतेन्दु के काव्य-साहित्य को हम निम्नांकित शीर्षकों में विभाजित कर सकते हैं।

भक्ति तथा शृङ्गार काव्य :—

भक्ति का संस्कार उनको पिता से प्राप्त हुआ था जो पुष्टिमार्गी वैष्णव भक्त थे। राधा-कृष्ण के पारस्परिक प्रेम-चित्रण तथा भारतेन्दु के भक्तिपरक

सहस्रों गेय पदों को देखकर सूरदास की याद आ जाती है। उनके गेय पदों में मर्म-स्पर्शी तत्त्व हैं। अष्टछाप के कवियों के बाद भारतेन्दु ही ऐसे कवि हुए जिन्होंने इतनी बड़ी संख्या में पदों का निर्माण किया। कृष्ण-भक्ति-काव्य के प्रायः प्रत्येक अंग का उन्होंने अपनी रचनाओं में स्पर्श किया है।

यद्यपि इनकी रचनाओं पर सूर का प्रभाव लक्षित होता है किन्तु रस-योजना की मर्यादा तथा नवीन प्रसंगों की सृष्टि में भारतेन्दु की मौलिकता उल्लेखनीय है। देवी छद्मलीला तथा तन्मय-लीला जैसे नवीन प्रसंगों की सृष्टि उन्होंने की है। राधा-कृष्ण के प्रेम-विकास का उन्होंने मनोहर चित्र खींचा है। कृष्ण की बाललीला, मुरली, मिलन-वियोग, प्रेम-लीला तथा रूप-चित्रण आदि प्रसंग उनके भक्ति-काव्य के विषय हैं। वसन्त, होली, वर्षा आदि के अतिरिक्त उनके पदों में दैन्य तथा विनय आदि, भक्ति-परक तत्त्व बड़े ही मार्मिक हैं। सब कुछ देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो वे सूर के दूसरे संस्करण हों। निम्न पंक्तियों में उनके भक्त हृदय की झाँकी देखी जा सकती है।

(१) इन नैनन हौं नित-नित देखौं राम-कृष्ण दोउ भैया।

(२) छिपाये छिपत न नैन लगे।

(३) दास-दास श्री वल्लभ कुल के चाकर राधावर के।

(४) गोपी-पद-पंकज पावन की रज जामैं सिर भीजै।

काव्य-कला की दृष्टि से भक्ति के बाद भारतेन्दु की शृङ्गार-रस की रचनाएँ आती हैं। इन रचनाओं में रीतिकाल की अपेक्षा अधिक मर्यादा तथा शिष्टता है। यहाँ भी प्रायः राधा, कृष्ण तथा सखियाँ ही परस्पर आश्रय तथा आलम्बन हैं। इस रस की रचनाएँ कवित्त और सवैयों में अर्थात् रीतिकालीन शैली में लिखी गई हैं। इस दृष्टि से घनानन्द, पद्माकर और कहीं-कहीं रसखान की श्रेणी में वे आते हैं। शृङ्गार के संयोग तथा वियोग के अनूठे चित्र उन्होंने खींचे हैं।

प्रेम-तरंग, प्रेम-माधुरी तथा प्रेम-फुलवारी उनकी मुख्यरचनाएँ हैं। उनके प्रेम में संयम तथा शिष्टता है। रस-प्रवणता उनकी मुख्य विशेषता है। भारतेन्दु का हृदय प्रेम का सागर है जिसमें गहराई के साथ व्यापक विस्तार भी है। उनका ध्यान काव्य की रीतियों की ओर भी गया था। आश्चर्य तो इस बात पर होता है कि गद्य-साहित्य के युग-प्रवर्तक भारतेन्दु, एक ही साथ इतने बड़े कवि भी कैसे थे।

देश-प्रेम सम्बन्धी काव्य :—

देश-प्रेम भारतेन्दु के साहित्य का मुख्य विषय है। इस प्रसंग में शुक्ल जी ने लिखा है—"नवीन धारा के बीच भारतेन्दु की वाणी का सबसे ऊँचा स्वर देश-भक्ति का था। नीलदेवी, भारत-दुर्दशा आदि नाटकों के भीतर आई हुई कविताओं में देश-दशा की जो मार्मिक व्यंजना है, वह तो है ही, बहुत सी स्वतंत्र कविताएँ भी उन्होंने लिखीं जिनमें कहीं देश की अतीत-गौरवगाथा का गर्व, कहीं वर्तमान अधोगति की क्षोभ भरी वेदना, कहीं भविष्य की भावना से जगी हुई चिन्ता इत्यादि अनेक पुनीत भावों का संचार पाया जाता है।"

आगे शुक्ल जी लिखते हैं—"विजयिनी-विजय-वैजयन्ती में, जो मिस्र में भारतीय सेना की विजय प्राप्ति पर लिखी गई है, देश-भक्ति व्यंजक जैसे भिन्न-भिन्न संचारी भावों का उद्गार है। कहीं गर्व, कहीं क्षोभ, कहीं विषाद। 'सहसन बरसन सो सुन्यो जो सपने नहिं कान, सो जय आरज शब्द' को सुन और 'फरक उठी सबकी भुजा, खरक उठी तरवार। क्यों आपुहि ऊँचे भये आर्य मोछ के बार॥' का कारण जान, प्राचीन आर्य गौरव का गर्व कुछ आ ही रहा था कि वर्तमान अधोगति का कुछ ध्यान आया और फिर वही, हाय भारत की धुन।"

हाय पंचनद हा पानीपत। अजहुँ रहे तुम धरनि विराजत॥
हा चित्तौर निलज्ज तू भारी। अजहुँ खरो भारतहिं मझारी॥

इन पंक्तियों में कैसी चोट है? आगे की पंक्तियों में कैसी प्रेरणा है?

तुममें जल नहिं जमुना गंगा। बढ़हु वेगि किन प्रबल तरंगा।
बोरहु किन झट मथुरा कासी। धोवहु यह कलंक की रासी।

उपर्युक्त पंक्तियों में क्रान्ति की कैसी हुँकार है? आगे उनके हृदय की कैसी व्यथा है?

कहाँ करुनानिधि केसव सोये।
जागत नाहिं अनेक जतन करि भारतवासी रोये॥

इन पंक्तियों में कला का प्रदर्शन नहीं बल्कि हृदय की सच्ची पुकार है।

रोअहु सब मिलि के आवहु भारत भाई।
हा! हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥

में वे कितनी चेतावनी देते हैं? भूतकाल के इतिहास की याद दिलाते हैं कि किस प्रकार भारतीयों ने स्वयं अपना सर्वनाश कर लिया। आज भी लाखों की

संख्या में देशवासी नेपाल के मार्ग से चीन को तथा सीमा पार करके पाकिस्तान को माल पहुँचाने में दिन रात व्यस्त हैं। ऐसे समय में जबकि उन देशों ने भारत पर भयंकर आक्रमण कर दिया है, एक ओर ललनाओं के सिन्दूर धुल रहे हैं दूसरी ओर अनगिनत शक्तिशाली लोग अपने मुनाफे के लिए उस घातक व्यापार में लगे हुए हैं। वही शाश्वत समस्या।

पृथ्वीराज-जयचन्द कलह करि यवन बुलायो।
तिमिरलंग चंगेज आदि बहु नरन कटायो॥
अलादीन औरंगजेब मिलि धरम नसायो।
विषय वासना दुसह मुहम्मदसा फैलायो॥

भारतेन्दु की देश-भक्ति से पूर्ण राष्ट्रीय भावना में हृदय की व्याकुलता है। विकृत तथा कृत्रिम टुकड़ों में बँटे हुए इस जड़ हिन्दू समाज ने कभी भी संगठित रूप में ऐसी मार्मिक भावनाओं के कठोर सत्य का अनुभव नहीं किया। भ्रष्टाचार की इसकी शाश्वत तन्मयता विश्व में सराहनीय है।

सामाजिक चेतना सम्बन्धी काव्य :—

भारतेन्दु का सम्पूर्ण जीवन समाज को समर्पित था। इसी समाज की बलि-वेदी पर उन्होंने अपने वैभव तथा जीवन की आहुति दे दी। उनके पावन साहित्य का चरम लक्ष्य समाज ही था। धन्य है यह भारतीय समाज जो ऐसे लालों नर-रत्नों की बलि पाकर भी कभी टस से मस नहीं हुआ। रावण-काल के भ्रष्टाचार से लेकर, द्वापर से चलते हुए आज के लोकतंत्रीय काल तक एक ही कड़ी जुटी हुई है। एक ही ढर्रा, एक ही तन्मयता तथा एक ही तन्द्रा। कमाल है कर्तव्य का यह दृढ़ पथ।

समाज की दुर्दशा तथा पीड़ित वर्ग की हीन अवस्था को देख कर भारतेन्दु का हृदय विचलित हो गया था। उन्होंने अपने धन की कौड़ी-कौड़ी तथा सुख का एक-एक क्षण इस निर्मम समाज के चरणों पर न्योछावर कर दिया। उनके सामने विकृत समाज का ढाँचा था। धार्मिक पाखण्ड, छुआ-छूत, दूषित जाति-भेद, बाल-विवाह तथा अनेक अन्धविश्वासों के अतिरिक्त सन्तप्त विधवा समाज उनके सामने था।

करि कुलीन के बहुत ब्याह बल बीरज मार्‌यो।
विधवा ब्याह निषेध कियो व्यभिचार पसार्‌यो॥

वे धार्मिक सिद्धान्तों के खण्डन-मण्डन के चक्कर में नहीं पड़े। समाज की राइयों को दूर करना उनका मुख्य उद्देश्य था। सनातनियों की जड़ता से वे

घृणा करते थे। अंग्रेजी फैशन में बहने वाले खोखले नूतन वर्ग की भावनाओं से वे चिन्तित थे।

नहिं मन्दिर में, नहिं पूजा में, नहिं घंटा की घोर में

समाज के आडम्बरों को वे घातक समझते थे। वे स्त्री-शिक्षा के समर्थक थे। जनता तक अपनी वाणी को पहुँचाने के लिए, समाज-सुधार सम्बन्धी बहुत सी रचनाएँ उन्होंने लावनी, खयाल, गजल तथा नौटंकी के गानों में की। समाज के उत्थान के लिए उनके हृदय में एक हलचल सी थी।

भये सब मतवारे मत वारे,
अपुनो-अपुनो मत लै-लै सब झगरत ज्यों भठिहारे।

आज तो साठ करोड़ आर्यों का बीभत्स-समाज लाखों टुकड़ों में बँट चुका है। बीस करोड़ आर्य भी ऐसे नहीं जो कह सकें कि हम एक हैं। उनकी पतित व्यवस्था में इतनी शक्ति नहीं कि बिछुड़े हुए चालीस कोटि बन्धुओं को समेट सकें। उन बिछुड़े बन्धुओं के मन में जो घृणा है वह निराधार नहीं है। इस जाति के पतन तथा सर्वनाश को सामाजिक तथा राजकीय वैधानिक संरक्षण प्राप्त हैं। अब इसका उठना असम्भव है। कम से कम अगली सहस्राब्दी तक तो सम्भव नहीं है।

भारतेन्दु की काव्य-कला

रस-योजना :—

भारतेन्दु ने खड़ीबोली में भी कुछ कविताएँ लिखने का प्रयत्न किया था किन्तु समयाभाव के कारण इस नवीन प्रयोग की ओर विशेष अग्रसर नहीं हुए। जिस भक्ति तथा श्रृंगार को लेकर वे काव्यक्षेत्र में उतरे, इनके लिए उनके पास ब्रजभाषा, एक सिद्ध भाषा थी जिस पर पहले ही से उनका अधिकार था। आगे चलकर अन्य प्रसंगों में भी उन्होंने उसी भाषा तथा शैली का प्रयोग किया। श्रृंगार के संयोग तथा वियोग दोनो ही पक्षों में उनको समान सफलता मिली है।

हममें कौन बड़ी री प्यारी।
ठाढ़ो होउ बरावर नापैं बिहँसि कह्यो गिरधारी॥

उनके रूप सौन्दर्य के चित्र बड़े ही सजीव हैं।

रसमयी सरल रँगीली अँखियाँ मद सो भरी।
मुँदि-मुँदि खुलत छरी आलस सों ढुरि-ढुरि जात ढरी॥

देश की अवदशा के चित्रणों में तथा नाटकों के मार्मिक स्थलों पर करुण रस की हृदय-स्पर्शी योजना मिलती है। नीचे रोहिताश्व का कैसा करुण रूप है !

जेहि सहसन परिचारिका राखति हाथहिं हाथ।
सो सुत लोटत धूरि में दास बालकन साथ॥

श्मशान का वीभत्स चित्र एक ओर तो जीवन के कटु सत्य का उद्‌घाटन करने वाला है दूसरी ओर असत्य तत्त्वों के प्रति विरक्ति उत्पन्न करता है।

अलङ्कार-योजना :—

भारतेन्दु जी प्राचीन तथा आधुनिक काल को सन्धि के कवि हैं। जहाँ उन्होंने रीतिकालीन विषयों तथा शैलियों को लिया है वहाँ उन्हें परिष्कृत मर्यादित तथा सजीव रूप दिया है। अतः अलङ्कारों के प्रयोग चमत्कार-प्रदर्शन मात्र के लिए नहीं हुए हैं बल्कि वे रस-योजना में सहायक हैं। नवीन विषयों तथा प्रसंगों में तो कुछ कहना ही नहीं है।

यमक :—भये सब मतवारे-मत वारे।

श्लेष :—सत्यासक्त दयाल द्विज प्रिय अघहर सुख कन्द।
जनहित कमला तजन जय शिव नृप कवि हरिचन्द॥

(यहाँ श्लेष से एक ही स्थान पर शिव, कवि, कृष्ण तथा हरिश्चन्द्र के गुणों पर प्रकाश डाला गया है।)

अनुप्रास तथा उपमा :—नव उज्वल जलधार हार हीरक सी सोहति। उनकी रचनाओं में उत्प्रेक्षा, रूपक, प्रतीप, विभावना, निदर्शना, अतिशयोक्ति, उदाहरण, सन्देह, वक्रोक्ति, तुल्ययोगिता, तथा उल्लेख आदि अलङ्कारों से रस-प्रवाह में बड़ी सहायता मिली है। उन्होंने रीति-ग्रन्थों का ठोस अध्ययन किया था।

छन्द-योजना :—

भारतेन्दु के काव्य-जगत् में भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिक काल की त्रिवेणी है। भाव, भाषा, शैली, विषय तथा छन्द-योजना आदि सभी क्षेत्रों में इस त्रिवेणी के पावन संगम हैं। भक्तिकालीन सहस्रों गेय पदों, रीतिकालीन कवित्त-सवैयों के अतिरिक्त लावनी, गजल तथा लोक-गीतों को देखकर उनकी कवित्व-शक्ति पर आश्चर्य होता है। उनकी संगीतात्मकता बड़ी ही आकर्षक है। रस, लय तथा छन्द की त्रिवेणी में विचित्र ही तन्मयता

और वेग है। उस तन्मयता में उनके व्यक्तिगत-जीवन की वह सुधा है जो लोक-मंगल की वर्षा करती रहती है।

इनके अतिरिक्त दोहा, चौपाई, रोला, सोरठा, विष्णुपद, सरसी, ताटंक आदि छन्दों के मनोहर प्रयोग हुए हैं। लोक-प्रचलित रेखता, बिरहा, होली तथा चैती आदि गीतों में उन्होंने बड़े ही सरस प्रयोग किये हैं।

भाषा तथा शैली :—

भारतेन्दु की भाषा तथा शैली का बड़ा ही महत्त्व है। उनके सामने हिन्दी-भाषा की रक्षा, प्रचार तथा अस्तित्व आदि के गम्भीर प्रश्न थे। पढ़े लिखे समाज में उर्दू मिश्रित खड़ीबोली का बोलबाला था जिसका भारतीय समाज से कोई सम्बन्ध ही नहीं था। वह कृत्रिम भाषा तो ऊपर से लादी गई थी। उस संक्रमण-काल में—लल्लूलाल, इंशाअल्ला खाँ, सदल मिश्र तथा सदासुख लाल ने कुछ प्रारम्भिक प्रयोग किये थे। भारतेन्दु ने गद्य-क्षेत्र में खड़ीबोली का रूप स्थिर किया। अल्पकाल ही में उन्होंने गद्य-साहित्य का भण्डार तो भर ही दिया, भाषा तथा साहित्य के महत्त्व की स्थापना एवं प्रचार के लिए उन्होंने क्या-क्या नहीं किया।

एक नवीन शैली को जन्म देकर भारतेन्दु ने भाषा को एक स्वस्थ, परिष्कृत एवं बोधगम्य रूप दिया। वे एक ऐसे चौराहे पर खड़े थे जहाँ से उन्हें भूले-भटके, अस्त-व्यस्त, स्वस्थ-कायर एवं जड़-चेतन आदि समग्र तत्त्वों को समेट कर हिन्दी के राजपथ की ओर बढ़ना था। उस राजपथ को अपने तथा पराये तत्त्वों ने संयुक्त होकर अवरुद्ध करके भीषण मोर्चा बना दिया था। जीवन की बाजी लगाकर कुशल नेतृत्व करते हुए उन्हें संग्राम के बीच मार्ग को निरापद तथा प्रशस्त करना पड़ा था। उस बलिदानी का स्वप्न अभी तक पूरा नहीं हो सका है। उस राजपथ पर आज शत्रु-अंग्रेजों के दास तथा शिष्य उससे भी विकट मोर्चा लगाकर डँटे हुए हैं। विश्व में इस राष्ट्र की प्रगति ही अवरुद्ध हो गई है। देखें राष्ट्र की चेतना किस शताब्दी तक होश में आती है।

भारतेन्दु ने भाषा के रूप को जनता के योग्य बनाया। लोक-प्रचलित विदेशी शब्दों को भी अपनी भाषा में स्थान दिया किन्तु उन पर हिन्दी की छाप लगाकर। वे भाषा की प्रवृत्ति तथा आवश्यकताओं को जानते थे। वे साहित्यिक भाषा को लोक-भाषा का रूप देना चाहते थे क्योंकि इससे कई उद्देश्यों की पूर्ति हो सकती थी। जीवन, युग, समाज तथा तत्कालीन परिस्थि-

तियों को एक पथ पर अग्रसर करने के लिए यही आवश्यक था। भारतेन्दु जी की भाषा में प्रवाह, सजीवता तथा सरलता है। माधुर्य तथा प्रसाद उसके मुख्य गुण हैं।

सरलता तथा मिठास के लिए उन्होंने स्वभाव के लिए सुभाव, अंचल के लिए आँचल स्नेह के लिए नेह जैसे शब्दों का प्रयोग किया है। कविता के क्षेत्र में उन्होंने कुछ खड़ीबोली के भी प्रयोग किये थे किन्तु वहाँ उनकी भाषा ब्रज ही रही। उनकी ब्रजभाषा में उनका व्यक्तित्व तथा उनकी मौलिकता स्पष्ट है। उन शब्दों को उन्होंने छोड़ दिया जो अब लोक-प्रचलन से दूर पड़ गये थे। जिस प्रकार उनका शृङ्गार स्वस्थ, शास्त्रीय तथा शिष्ट है उसी प्रकार उनकी भाषा सजीव तथा परिष्कृत है। चमत्कार प्रदर्शन के लिए उन्होंने फालतू शब्दों का प्रयोग प्रायः नहीं किया है।

उनकी भाषा में नैसर्गिकता सौन्दर्य तथा भावानुकूल रमणीयता है। उनकी भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति चित्रों को साकार खड़ी कर देती है। उदाहरणार्थ :—

कोउ गावत कोउ नाचत आवै कोऊ भाव बतावै।
कोउ मृदंग बीना सुर-मंडल ताल उपंग बजावै॥

यत्र-तत्र कहावतों तथा मुहावरों के प्रयोग से बड़ी सजीवता आ गई है।

(१) कूप ही में यहाँ भंग परी है।
(२) विहरिहैं जग सिर पै दै पाँव।
(३) रूप दिखाई के मोल लियो।
(४) ऊँची दूकान की फीकी मिठाई।
(५) रहे क्यों एक म्यान असि दोय।

उनकी भाषा में कुछ अशुद्ध-शब्द-प्रयोगों के दोष भी ढूँढ़े गये हैं जैसे 'श्यामता' के लिए श्यामताई, 'कृपा की है' के लिए कृपा किया तथा 'अधीरमना' के लिए अधीरजमना आदि। परन्तु यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि संग्राम-क्षेत्र में एक योद्धा को लक्ष्यों की ओर अधिक ध्यान देना पड़ता है, अस्त्र-शस्त्रों की छानबीन का कम अवसर रहता है। विषय, स्थान, भाव, पात्र तथा कल्पना के अनुसार उनकी भाषा में उतार-चढ़ाव तथा शैली में उनके व्यक्तित्व की छाप है।

उपसंहार :—

भारतेन्दु हिन्दी भाषा तथा साहित्य के ऐतिहासिक सेनानी हैं। उन्होंने परिस्थितियों से टक्कर ली और नये युग का प्रवर्तन किया। वे युग-युग तक चमकने वाले ध्रुवतारा हैं। भारत के प्रेमियों को अपने कल्याण के लिए, उनके बलिदान से तेज ग्रहण करना चाहिए। उनकी आत्मा में जो वेग तथा मस्तिष्क में जो आँधी थी उसका सच्चा विश्लेषण प्रचारित किया जाना चाहिए। युग की यही पुकार है।

आगे चलकर कलाकारों ने उनकी पवित्र भावनाओं को अवश्य ही बल प्रदान किया। उनके देश-प्रेम, देशोद्धार, समाज-कल्याण साहित्य-विकास तथा भाषा की प्रगति की भावनाएँ विकसित होती रहीं। परन्तु वही शाश्वत एवं विकृत समस्या बनी हुई है। भारतेन्दु तथा उनके बाद के कलाकारों ने जो साधना की है उसको राष्ट्र के जड़ समाज में कितनी सफलता मिली है ? इस सनातन भ्रष्ट-समाज में साहित्य की मौन-तपस्या कब तक चलती रहेगी ? पता नहीं यह तपस्या ही मौन है अथवा समाज के कान ही नहीं हैं ?

समाज का कितना उद्धार हुआ है ? धिक्कार है इस व्यवस्था को जहाँ लाखों लोग जूठी पत्तलें कुत्तों की भाँति चाटने वाले हों। धिक्कार है उस कायर वर्ण-व्यवस्था को जिस पर करोड़ों मनुष्य धर्म-परिवर्तित हो रहे हों। धिक्कार है उस लोकतंत्र को जिसमें राष्ट्र की तीन चौथाई कमाई दिन दहाड़े भ्रष्टाचार में लूट ली जाती हो। धिक्कार है उस अन्तर्राष्ट्रीय भौतिकवादी साम्यवाद को जो अजगर की भाँति मानवता को निगल रहा हो। धन्यवाद है उन मक्कार अंग्रेजों को जिन्होंने भारत को जड़ता का मजा चखाया। आश्चर्य है उस वन्य-सभ्यता तथा धर्म पर जिसमें निरीह-जीवों के बध के लिए यंत्रालय हों। विश्व-समाज के मुँह को फेर देना ही साहित्यकार का धर्म है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

जीवन-वृत्त :—

'हरिऔध' जी का जन्म सन् १८६५ में निजामाबाद जिला आजमगढ़ में सनाढ्य ब्राह्मण परिवार (जो सिक्ख धर्म में परिवर्तित हो गया था) में हुआ था। उनके पूर्वज बदायूँ निवासी थे। लोदी-शासनकाल में यह परिवार दिल्ली में रहता था और धर्म पण्डित का काम करता था। एक बार जातीय प्रश्न को लेकर वहाँ के गौड़ कायस्थों को लोदी शासक का कोपभाजन बनना पड़ा था उस समय इस ब्राह्मण परिवार ने सगोत्र कहकर कायस्थों को बचाया था। लोदी-वंश के पतन के बाद बाबर के आगमन काल में वे कायस्थ उक्त निजामाबाद से चले आये। कालान्तर में उस कायस्थ वंश के प्रसिद्ध व्यक्ति महाबलराय ने नानक पन्थ स्वीकार कर लिया और उनके साथ हरिऔध के परिवार ने भी उसी धर्म में दीक्षा ले ली।

हरिऔध जी के पीता पं० भोलासिंह तो कम पढ़े लिखे थे किन्तु उनके भाई पं० ब्रह्मसिंह ज्योतिष के अच्छे विद्वान थे उनको कोई सन्तान न थी। वे अपने भतीजों को बहुत मानते थे। उन्हीं की देख रेख में हरिऔध जी की शिक्षा पाँच वर्ष की आयु में प्रारम्भ हुई। चौदह वर्ष की आयु में प्रथम श्रेणी में मिडिल पास हुए और काशी क्वीन्स कालेज में भेजे गये किन्तु अस्वस्थता के कारण उन्हें घर लौटना पड़ा। घर पर ही फारसी, उर्दू तथा संस्कृत का उन्होंने अध्ययन किया। सत्रह वर्ष की आयु में विवाह हुआ।

उन्नीस वर्ष की आयु में स्थानीय तहसीली विद्यालय में उन्होंने अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया तथा तीन वर्ष बाद नार्मल पास किया। बन्दोबस्त के समय वे कानूनगो हो गये। चौंतीस वर्ष की सेवा के बाद उन्हें पेन्शन मिली। अपने भाई गुरुसेवक सिंह की पढ़ाई के लिए उन्हें अल्पायु में नौकरी करनी पड़ी थी। प्रारम्भ से ही हरिऔध जी का स्वभाव कोमल तथा गम्भीर था। उनमें भारतीयता कूट-कूट कर भरी थी किन्तु धार्मिक कट्टरता तथा संकीर्णता उनमें नहीं थी। देश की सभ्यता तथा संस्कृति के प्रति उनमें बड़ा अनुराग था।

बाबा सुमेर सिंह के संसर्ग का उनके संस्कारों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। कर्म-काण्डी परिवार में पलने के कारण उनमें धार्मिक-आस्था तथा सांस्कृतिक-ज्ञान

था तथा सत्संग के कारण उनके विचारों में उदारता तथा व्यापकता आ गई। उनके भावी साहित्यिक जीवन में इन दोनों संस्कारों का बड़ा व्यापक महत्त्व है। आपने जो हिन्दी की सेवा की उसका ऐतिहासिक महत्त्व है। उनकी दिव्य प्रतिभा, गम्भीर-अध्ययन तथा व्यापक-अनुभव ने उनको महान् साहित्कार बनाया।

'हरिऔध' जी का काव्य-साहित्य

उनकी प्रतिभा बड़ी व्यापक थी और अध्ययन गहरा था। यही कारण है कि उन्होंने हिन्दी की बहुमुखी सेवा की। गद्य में अंग्रेजी तथा उर्दू ग्रन्थों के अनुवाद, मौलिक उपन्यास, निवन्ध तथा आलोचना की पुस्तकें लिखीं। उसी प्रकार पद्य में भी उन्होंने गुलिस्ताँ के आठवें अध्याय का अनुवाद 'उपदेश-कुसुम' नामक ग्रन्थ में किया।

हरिऔध जी ने सत्रह वर्ष की आयु से ही कविता रचना प्रारम्भ किया था। यह रचना दोहों से प्रारम्भ हुई थी। बाईस वर्ष की आयु में रुक्मिणी-परिणय तथा प्रद्युम्न-विजय-व्यायोग लिखा। इन रचनाओं का कोई विशेष साहित्यिक महत्त्व नहीं है। सन् १८९९ में इनके तीन काव्य संग्रह प्रकाशित हुए जिनके नाम हैं—प्रेमाम्बु-प्रस्रवण, प्रेमाम्बु-वारिधि तथा प्रेमाम्बु-प्रवाह। इन रचनाओं में कृष्ण के लौकिक तथा अलौकिक दोनों चित्र हैं। प्रेम-प्रपंच भी इसी समय की रचना है।

उपर्युक्त सभी रचनाएँ भारतेन्दु-काल की हैं तथा उनका आदर्श भी तत्कालीन ही है। द्विवेदी-युग के साथ हरिऔध जी के साहित्य में भी महत्त्वपूर्ण मोड़ आया। खड़ीबोली में सफल काव्य-रचना तथा नैतिक आदर्शों की प्रतिष्ठा, इस युग की नवीन विशेषताएँ हैं। भारतेन्दु जी द्वारा छेड़े गये संग्राम ने द्विवेदी जी के नेतृत्व में चतुर्दिक व्यापक जोर पकड़ लिया। गद्य-क्षेत्र में आलोचना के नवीन द्वार खुले। काव्य-जगत में राष्ट्रीयता की लहर फैल गई। उस युग के काव्य-साधकों ने खड़ीबोली को कला एवं भावों के अनुरूप ढालने में घोर परिश्रम किया। इस पवित्र साधना में हरिऔध जी का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

फलस्वरूप खड़ीबोली में उनके दो युगान्तरकारी महाकाव्य, प्रियप्रवास एवं वैदेही-बनवास, आशा की नयी किरण लेकर प्रकाशित हुए। प्रियप्रवास खड़ीबोली का प्रथम तथा श्रेष्ठ महाकाव्य है। इसमें आदर्शों का नवीन क्रान्ति-कारी प्रयोग है। वैदेही-बनवास का महत्त्व भाषा की दृष्टि से है।

भाषा के विविध प्रयोगों के सन्दर्भ में 'चोखे-चौपदे' तथा 'चुभते-चौपदे' का अपना व्यक्तिगत महत्त्व है। इन कृतियों की शैली विजातीय तथा भाषा मुहावरेदार बोल-चाल की है। इनमें हरिऔध जी के नवीन प्रयोग हैं। इनमें लगभग साढ़े तीन सहस्र चौपदे हैं। इनका भी ऐतिहासिक तथा साहित्यिक महत्त्व है। मुहावरों के ढाँचे पर खड़ा यह विशाल साहित्य हिन्दी में अब भी अकेला तथा विचित्र है। उसकी विषय सामग्री भी मार्मिक तथा जीवनोपयोगी है।

'बोलचाल' नामक संग्रह में बाल से लेकर तलवे तक शरीर के सभी अंगों और क्रियाओं से सम्बन्धित मुहावरों को लेकर कविता की गई है। इसमें भाषा सचमुच बोलचाल की है। बच्चों के लिए मनोरंजक, शिक्षाप्रद तथा उपयोगी है। इसमें स्थायी साहित्य की सामग्री है। तीनों ही ग्रन्थों में 'चोखे-चौपदे' का स्थान उच्च है। भावों, चमत्कारों, अलंकारों तथा रसों की दृष्टि से यही एक उत्कृष्ट कृति है उपर्युक्त ग्रन्थों में सामाजिक आचार-विचार, संस्कृति-सभ्यता, नीति-धर्म तथा अन्य कर्तव्याकर्तव्य आदि मुख्य विषय हैं।

(१) जब हमारी ऐंठ ही जाती रही,
तब भला हम मूँछ हैं क्या ऐंठते।

(२) वह तो फैले हुए जहाँ में हैं,
हम कहाँ तक निगाह फैलायें॥

हरिऔध जी का तीसरा रूप हमको 'रस-कलस' में दिखाई देता है। द्विवेदी-युग में ही लिखा गया यह ग्रन्थ एक नवीन रीति-ग्रन्थ है जिसकी भाषा ब्रज है। इस रीति-ग्रन्थ में रसगंगाधर तथा साहित्यदर्पण के अतिरिक्त हिन्दी के रीति-ग्रन्थों की परम्परा का निर्वाह करते हुए भी हरिऔध जी पग-पग पर नवीन बने हुए हैं। एक ओर तो शृङ्गार के उदाहरणों में संयम तथा मर्यादा है दूसरी ओर अन्य रसों को भी विशेष महत्त्व दिया गया है। रीतिकालीन कलाकारों ने शृङ्गार को ही युग तथा जीवन का लक्ष्य सा बना लिया था।

'रस-कलस' की तीसरी विशेषता सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है और वह है नायिका-भेद के प्रकरण में। नयिकाओं के भेदों में लोक-सेविका, जन्मभूमि-प्रेमिका, देश-प्रेमिका, धर्म-प्रेमिका जाति-प्रेमिका तथा परिवार-प्रेमिका आदि नवीन भेदों की उन्होंने सृष्टि की है। उस ग्रन्थ में यद्यपि इन भेदों के उदाहरणों में विशेष मार्मिकता नहीं है किन्तु वे भेद दो दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं। पहला तो यह कि युग कि जड़ता को उन्होंने चुनौती दी जिसमें नारी को

वासना की संकीर्ण सीमा में बाँध दिया गया था। प्रियप्रवास में राधा के चरित्र को देखने से उक्त भेदों का प्रत्यक्ष रहस्य खुल जाता है। कुछ कलाकार तथा आलोचक, द्विवेदी-युग की राष्ट्रीयता और नैतिकता में इतिवृत्तात्मकता तथा जड़ता का अनुभव करते हैं किन्तु उनकी इस धारणा को हम उन्माद से भरी बहक मात्र समझते हैं। उनमें युग तथा समाज की पीड़ा की अपेक्षा अपनी रंगीन कल्पनाओं की अनुभूति ही अधिक रहती है। दूसरा यह कि आचार्यों तथा कलाकारों के लिए स्वतंत्र-चिन्तन का निमंत्रण दिया।

हरिऔध जी का चौथा रूप उनके 'पारिजात' में मिलेगा जो कविता-संग्रह है। इस रचना को नवयुग का एक वातायन समझना चाहिए। इसमें उनके आध्यात्मिक चिन्तन, विशेष-अनुभव तथा नवीन प्रेरक तत्त्व मिलते हैं। हरिऔधजी के सम्पूर्ण साहित्य पर ब्योरेवार ध्यान देने से उनके व्यक्तित्व पर आश्चर्य होता है। इनके व्यापक साहित्य के रूपों को देख कर तपस्वी भारतेन्दु जी की याद आती है।

भारतेन्दु जी की भाँति ही हरिऔध जी के साहित्य में एक विशेष बात ध्यान देने योग्य है। यह विशेषता भारतेन्दु तथा द्विवेदी-युग के अधिकांश साहित्यकारों में मिलेगी। वह है भाषा, साहित्य, जाति, देश, समाज तथा राष्ट्र के उद्धार एवं उत्थान की उत्कट कामना। इस वेगवती कामना के पीछे छिपी हुई साधना तथा तपस्या के कारण उनके साहित्य का महत्त्व ऐतिहासिक तथा पूजनीय हो जाता है।

हरिऔध जी की मौलिक देन

भाषा तथा साहित्यादर्शों के, दोनों ही क्षेत्रों में, हरिऔध जी की मौलिकता चिरस्मरणीय रहेगी। उन्होंने युग के पैरों में, शक्ति दी, युक्तियों से उठाया, हृदय में प्रेरणा दी, नेत्रों में ज्योति दी और दिया अदम्य आत्म-विश्वास। यह सब कुछ किया अपनी मौलिक शक्ति से। उनकी हार्दिक आस्था तथा साधना की यथार्थ धरती से उत्पन्न होने के कारण, उनके मौलिक-तत्त्व, वास्तव में युगान्तरकारी सिद्ध हुए।

भाषा के क्षेत्र में उनके मौलिक प्रयत्नों ने क्रान्ति उत्पन्न कर दी। तीन प्रकार के काव्यों में खड़ीबोली के तीन रूपों के ठोस उदाहरण उपस्थित करके उन्होंने आश्चर्यजनक कार्य कर दिया। प्रियप्रवास, चौपदों तथा पारिजात में तीनों रूप अलग-अलग देखने योग्य हैं। प्रियप्रवास ही में भाषा के विविध-रूप द्रष्टव्य हैं।

(१) रूपोद्यान प्रफुल्ल प्राय-कलिका राकेन्दु विम्वानना ।

(२) प्रिय पति ! वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है ?

(३) दिवस का अवसान समीप था गगन था कुछ लोहित हो चला ।

चौपदों में, जहाँ मुहावरों का व्यायाम है, हरिऔध जी ने भाषा को बोलचाल के निकट आने के लिए बाध्य किया है। 'परिजात' की भाषा नवीन सन्देश लेकर आगे बढ़ती है। ऊबड़-खाबड़ भाषा को रगड़कर काव्य के अनुकूल ढालने में उन्होंने जो परिश्रम किया, स्तुत्य है।

हरिऔध जी की भाषा का सारा ही रूप मौलिक है। उनके मौलिक प्रयत्नों से युग की काव्य-भाषा को बहुत ही शक्ति मिली। इसके अतिरिक्त साहित्य की शैली, भाव-योजना तथा विभिन्न आदर्शों में भी उनकी मौलिकता ने युग-प्रवर्तन किया। प्रियप्रवास में संस्कृत-छन्दों का प्रयोग उन्होंने बड़ी सफलता के साथ किया। यह प्रयोग नया तथा लाभप्रद सिद्ध हुआ। चौपदों तथा पारिजात में छन्दों के नवीन ढंग के प्रयोगों से भी साहित्य की बड़ी सेवा हुई।

'रस-कलस' के नायिका-भेद प्रकरणमें उन्होंने जो मौलिकता दिखाई, उसका सफल उदाहरण उन्होंने प्रियप्रवास में उपस्थित किया। चरित्र-चित्रणों की मौलिकता ने हिन्दी-काव्य-जगत में नये युग का सूत्रपात किया। कृष्ण और राधा को रीतिकालीन वासना के दलदल से निकाल कर उन्होंने उनको मंगल-पथ पर लाकर खड़ा कर दिया। रीतिकालीन समाज ने अपनी दुर्दशा के साथ उन पात्रों की भी बड़ी दुर्दशा की थी। राधा तथा कृष्ण के लोक-सेवक, समाजोद्धारक तथा परोपकारी रूपों का दूसरा महत्त्व था। इस मौलिक प्रयत्न से हरिऔध जी ने साहित्य के साथ समाज के भी उद्धार का मार्ग प्रशस्त किया। क्या इस मौलिकता में कोरी इतिवृत्तात्मकता है ?

विशेष बात यह है कि 'हरिऔध' जी कहीं बाहर से (विदेशी ?) परिवर्तन को लाकर नहीं थोपना चाहते थे। वे कट्टर और दृढ़ परिवर्तनवादी थे किन्तु वह परिवर्तन चारित्रिक उत्थान के द्वारा लाना चाहते थे। राष्ट्र के उदार तथा महान् चरित्र पर आधारित क्रान्ति ही मंगल दायिनी हो सकती है। कृष्ण एक ओर चरित्रवान तथा लोक-सेवी हैं तो दूसरी ओर दुष्ट-दमनकारी। हरिऔध जी के क्रान्तिकारी का चरित्र तथा लक्ष्य भी महान् है। नारी के आदर्शों को मौलिक रूप देकर उन्होंने समाज का बड़ा कल्याण सोचा था। नवीन आदर्शों की प्रतिष्ठा करते समय हरिऔध जी ने प्राचीन विश्वासों को धक्का

नहीं लगने दिया है। उदाहरणार्थ प्राचीन विश्वास यह था कि कृष्ण ने लोक-रक्षार्थ गोवर्द्धन को उँगली पर उठा लिया था। इस तथ्य का चित्रण हरिऔध जी ने मौलिक ढंग से किया है।

लख अपार प्रसार गिरीन्द्र में,
 ब्रज-धराधिप के प्रिय पुत्र का।
सकल लोग लगे कहने उसे,
 रख लिया उँगली पर स्याम ने ॥

हरिऔध जी अपने युग के प्रतिनिधि कवि थे। वे युग-प्रवर्तक भी थे। उन्होंने प्राचीन के आधार पर नवीन आदर्शों की स्थापना की। चरित्र-चित्रण, भाषा तथा छन्द-योजना में सर्वत्र ही उन्होंने नूतन प्रयोग करके नये युग का सूत्रपात किया।

हरिऔध जी की काव्य-कला

रस-योजना :—

हरिऔध जी के हृदय में देश, जाति तथा समाज के प्रति सच्चा अनुराग था। इसी अनुराग की सत्यता के कारण उनकी रचनाओं में रस की वास्तविक धारा है। अनुभूति की सच्चाई से ही काव्य में रस की वास्तविक निष्पत्ति होती है। यही सच्चाई, कला में साधारणीकरण का ठोस आधार है। भक्ति कालीन तथा रीतिकालीन साहित्यों में इसी सच्चाई का अन्तर था और यही कारण था कि भक्ति-साहित्य रस का समुद्र बन गया है।

प्रियप्रवास की रचना के मूल में वही उपर्युक्त अनुराग प्रेरक है। यही कारण है कि उस काव्य के विभिन्न स्थलों पर हम सचमुच तन्मय हो जाते हैं। उसमें मर्यादित शृङ्गार के संयोग तथा वियोग पक्ष के स्थल बड़े ही मार्मिक हैं। वियोगिनी राधा के उद्गार हैं :—

यह सकल दिशाएँ आज रो सी रही हैं।
 यह सदन हमारा है हमें काट खाता।
मन उचट रहा है चैन पाता नहीं है।
 विजन विपिन में है भागता सा दिखाता ॥

कृष्ण-राधा अथवा गोपिका-कृष्ण के वियोग का प्रसंग नवीन नहीं है। कृष्ण-भक्ति-साहित्य तथा रीतिकालीन साहित्य में यह मुख्य विषय रहा है।

हरिऔध जी ने अपने प्रियप्रवास में इस प्रसंग को नवीन तथा व्यापक रूप दिया है। राधिका के हृदय में विरह-वेदना का विकास बड़े ही स्वाभाविक ढंग से हुआ है। पहले अपने भीतर वे पीड़ा का अनुभव करती हैं, पुनः सारी प्रकृति वेदना से भर जाती है और जलाने लगती है। अन्त में वही प्रकृति कृष्णमय दिखाई देने लगती है। फलस्वरूप प्रकृति-दर्शन में कृष्ण-दर्शन का आनन्द मिलने लगता है। हरिऔध जी की इस मौलिकता ने इस प्रसंग को बड़ा प्रभावशाली बना दिया है। अन्त में यह पीड़ा लोक-कल्याण की ओर उन्मुख हो जाती है।

पहलेः—चिन्ता की सी कुटिल उठतीं अंग में जो तरंगें।
वे थीं मानो प्रगट करती भानुजा की व्यथाएँ।

किन्तु अब :—कुंजों का या उदित शशि का देख सौन्दर्य आँखों।
कानों द्वारा श्रवण करके गान मीठा खगों का।
मैं होती थी व्यथित अब हूँ शान्ति सानन्द पाती।
प्यारे के पाँव, मुख, मुरली नाद जैसा उन्हें पा॥

इसी प्रकार हरिऔध जी ने वात्सल्य-रस के संयोग के साथ वियोग का बड़ा ही हृदय-विदारक चित्र खींचा है। यशोदा की आँखों का तारा अब उनसे दूर है :—

(१) लख मुख जिसका आज लौं जी सकी हूँ।
दुख-जलनिधि मग्ना का सहारा कहाँ है?
(२) प्रति दिन वह आके द्वार पै बैठती थीं।
पथ दिशि लखते ही बार को थीं बिताती!

दावानल-प्रसंग में भयानक-रस तथा गोवर्द्धन-धारण जैसे पराक्रम के स्थलों पर वीर-रस के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। रस-निष्पत्ति के लिए हरिऔध जी ने अनुभाव, उद्दीपन तथा संचारियों की मार्मिक योजना की है। पात्रों के चरित्र में युगानुकूल मौलिक-आदर्शों की प्रतिष्ठा करके उन्होंने प्राचीन पौराणिक तत्त्वों को जन-जीवन के निकट ला दिया है। इसलिए वह सामग्री लोक-रस का विषय बन गई है।

अलङ्कार-योजना :—

हरिऔध जी आचार्य तथा कवि दोनों थे। अतः उनके साहित्य में अलङ्कारों के दो प्रकार के प्रयोग मिलते हैं। रीतिग्रन्थ 'रस-कलस' में अलङ्कारों का

योजनाबद्ध प्रयोग हुआ है किन्तु अन्य काव्यों में वे रस-योजना में स्वाभाविक सहायक का कार्य करते हैं। सूक्ष्मता का दावा करने वाले छायावादी उपमानों की भाँति हरिऔध जीने अपनी कला में यद्यपि अद्‌भुत सामग्री का प्रयोग नहीं किया परन्तु उनकी योजना में मौलिकता अवश्य है।

अनुप्रास :—छलकती मुख की छवि पुंजता,
छिटकती क्षिति में तन की छटा।

यमक :— मृदु रव जिसका है रक्त सूखी नसों का
वह मधुमयकारी मानसों का कहाँ है ?

उपमा :— हरीतिमा का सुविशाल सिन्धु सा।
मनोज्ञता की रमणीय भूमि सा॥
विचित्रता का शुभ सिद्ध पीठ सा।
प्रशान्त वृन्दावन दर्शनीय था॥

रूपक :— चाह बिजली चमक अनूठी है,
श्याम रँग में रँगा हुआ तन है।
है बरसता सुहावना रस,
मन बड़ा ही लुभावना घन है॥

सन्देह :— साँझ के लाल लाल बादल में,
है दिखाती कमाल चन्द्र-कला।
या वही लाल पर अमी धारा,
या हँसी होठ पर पड़ी दिखला।

छन्द-योजना :—

हरिऔध जी ने अपनी रचनाओं में विविध प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया। कुछ लोक-छन्दों का भी प्रयोग किया। प्रारम्भिक रचनाओं में उर्दू तथा फारसी शैली का भी अनुसरण किया। आगे चलकर चौपदों के विशाल साहित्य में उर्दू के बहों की पद्धति को ही उन्होंने अपनाया। हरिऔध जी की प्रौढ़तम रचना प्रियप्रवास है। उस महाकाव्य के छन्द संस्कृत के वर्णिक छन्द हैं किन्तु उनका प्रयोग उन्होंने नवीन ढंग से किया है। वे अतुकान्त हैं। उनमें वसन्ततिलका, मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी, वंशस्थ, मालिनी तथा द्रुतविलम्बित मुख्य हैं। 'रस-कलस' में रीतिकालीन सवैया, दोहा तथा कवित्त छन्द हैं।

भाषा तथा शैली :—

उर्दू, फारसी, हिन्दी तथा संस्कृत के गम्भीर अध्ययन के कारण भाषा पर हरिऔध जी का व्यापक अधिकार हो गया था। यही कारण था कि वे कला में भाषा को विभिन्न रूप दे सके। भाषा के क्षेत्र में उनकी मौलिक देन पर हम पहले कुछ विचार कर चुके हैं। प्रियप्रवास में भाषा के क्लिष्टतम रूप से लेकर सरलतम रूप तक का प्रयोग हुआ है। उसमें भाषा के स्तर में पात्रों तथा रसों के अनुसार परिवर्तन देखा जाता है। सौन्दर्य-चित्रणों में कोमल शब्दों से बढ़ते-बढ़ते तरंग में अत्यन्त क्लिष्ट शब्दावली का प्रयोग करने लगते हैं। करुण स्थलों पर भाषा में स्निग्ध धारा बहती है। भयानक तथा वीर-रस के प्रसंगों में उनकी भाषा में ओज पाया जाता है। भाषा के रूप को गढ़ने में जो उन्होंने साधना की उसका ऐतिहासिक महत्त्व है।

चौपदों की भाषा पर उर्दू की छाप है। इसके दो उद्देश्य हो सकते हैं। या तो उन्होंने दो सम्प्रदायों को निकट लाने का मंगल-प्रयत्न किया है अथवा बोलचाल की भाषा अपनाकर उसे जनता की वस्तु बनाना चाहा है। जो कुछ भी हो उससे साहित्य की श्रीवृद्धि अवश्य ही हुई है। भाषा को गढ़ने, सँवारने, सुसज्जित करने तथा शक्ति प्रदान करने में हरिऔध जीका प्रयत्न बड़ा ही सामयिक था। उनसे युग को बड़ी सहायता मिली।

भाषा ही के समान, जिन शैलियों का प्रयोग हरिऔध जीने किया, उनके जन्मदाता स्वयं ही हैं। उनकी भाषा, उनकी शैली तथा उनका छन्द-विधान तीनों ही, आपस में इस प्रकार समन्वित हैं कि एक तत्त्व बन गये हैं। चौपदों में उर्दू की मुहावरेदार शैली, 'रसकलस' में रीतिकालीन शैली, प्रियप्रवास में संस्कृत-शैली तथा पारिजात में नवीन शैली के रूप हैं। सब पर उनके व्यक्तित्व की छाप है। कारक चिह्नों तथा क्रिया-रूपों में यत्र-तत्र जो तोड़-मरोड़ दिखाई पड़ती है वह प्रायोगिक-युग की कष्ट-साध्यता के कारण है। आगे आनेवाले उत्कृष्ट काव्यों में जो परिष्कृत तथा सशक्त भाषा-शैली का रूप दिखाई पड़ा, उसका सारा श्रेय हरिऔध जैसे साधकों की साधना को ही है। इन साधकों को दुहरी साधना करनी पड़ी। एक ओर साहित्य का नव-निर्माण करना तथा दूसरी ओर उसके योग्य भाषा तथा शैली को गढ़ना पड़ा। हमारा सम्पूर्ण समाज तथा वर्तमान युग का साहित्य उनका ऋणी है। कुछ उदाहरण देखने योग्य हैं।

प्रसाद गुण—

यह सकल दिशाएँ आज रो सी रही हैं।
यह सदन हमारा है हमें काट खाता॥
मन उचट रहा है चैन पाता नहीं है।
विजन विपिन में है भागता सा दिखाता॥

माधुर्य गुण—

उर पर जिसके है सोहती मंजुमाला।
वह नव नलिनी से नेत्र वाला कहाँ है॥

ओजगुणः—

विलोल जिह्वा मुख से मुहुर्मुहुः।
निकालता था जब सर्प क्रुद्ध हो॥
निपात होता तब भूत प्राण था।
विभीषिका गर्त नितान्त गूढ़ था॥

हरिऔध जी के साहित्य में सर्वत्र ही सूर-साहित्य की मधुरता है क्योंकि उनका व्यक्तित्व ही कोमल था किन्तु उनकी मधुरता में सांस्कृतिक तेज है जिसकी अजस्र धारा, सशक्त-भाषा में प्रवाहित हो रही है।

———

कविवर रत्नाकर का जीवनवृत्त

जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का जन्म सन् १८६६ में काशी में हुआ था। इनके पूर्वज पानीपत-निवासी अग्रवाल थे जो कभी मुगल दरबारों में उच्च पदासीन थे। एकबार श्री तुलाराम (रत्नाकर के परदादा) जहाँदारशाह के साथ काशी आये और यहीं रहने लगे। रत्नाकर के पिता पुरुषोत्तमदास फारसी के विद्वान तथा हिन्दी के प्रेमी थे। उनके पास फारसी तथा हिन्दी कवियों की भीड़ लगा करती थी। भारतेन्दु भी प्रायः आया करते थे। इस वातावरण ने रत्नाकर जी के संस्कारों को बहुत प्रभावित किया।

प्रारम्भ से ही उन्हें फारसी पढ़नी पड़ी थी। इसीसे समझ लेना चाहिए कि हिन्दी तथा भारतीयों के लिए वे दिन कैसे थे? भारतीय भाषा तथा संस्कृति पर सात आठ सौ वर्षों से विदेशियों का दबाव चला आ रहा था (जैसाकि आज भी भारतीय आत्मा अंग्रेजी-संस्कृति तथा भाषा के घातक बन्धनों में छटपटा रही है) प्रत्येक सम्भ्रान्त परिवार को कृत्रिम-भाषा का अध्ययन करना आवश्यक था। रत्नाकर ने फारसी लेकर बी० ए० पास किया। उसी विषय से एम० ए० का अध्ययन प्रारम्भ किया किन्तु अस्वस्थता के कारण पढ़ाई रुक गई।

सन् १९०० में वे अवागढ़ नौकरी के लिए गये परन्तु जलवायु की विषमता के कारण उन्हें पुनः काशी आना पड़ा। कुछ दिनों के बाद अयोध्या के राजा के यहाँ विशेष-सचिव के पद पर आसीन हो गये। सन् १९०६ में नरेश की मृत्यु हो गई। तत्पश्चात् वहाँ की रानी ने भी उन्हें अपना विशेष-सचिव बनाया। अन्तिम काल तक वे उसी पद पर बने रहे। सन् १९३२ में हरिद्वार में उनकी मृत्यु हो गई।

वे कोमल तथा मधुर स्वभाव के व्यक्ति थे उनके साथ बात करते समय लोग साहित्यिक आनन्द लिया करते थे। विद्यार्थी जीवन से ही उनकी कवि-प्रतिभा का परिचय मिलने लगा था। उसी समय उनकी प्रतिभा को देखकर भारतेन्दु जी ने कहा था कि यह बालक एक अच्छा कवि होगा। प्रारम्भ में वे उर्दू में कविता लिखा करते थे। आगे चलकर हिन्दी के क्षेत्र में उतरे। उनका हिन्दी-साहित्य का अध्ययन गहरा था। पुराण-साहित्य, भक्ति-साहित्य तथा रीतिकालीन साहित्य का उन्होंने पर्याप्त मनन किया था।

संस्कृत, प्राकृत तथा हिन्दी के भाषा-रूपों के वे अच्छे ज्ञाता थे। उनके लेखों, भाष्यों तथा टीकाओं को देखकर पाण्डित्य का पता चलता है। उनके पास सरस तथा भावुक हृदय था। काव्य-शास्त्र का उन्हें अच्छा बोध था। उनका स्वभाव भारतीय था। उनके सरस काव्यों में भारतीय हृदय की मार्मिक अभिव्यक्ति है। आप अन्तिम काल तक हिन्दी की सेवा करते रहे। हिन्दी जगत उनका बराबर सम्मान करता रहा और करता रहेगा।

रत्नाकर का साहित्य

उनका साहित्य सचमुच ही रत्नाकर है। उसमें भावों के अनमोल रत्न भरे हुए हैं। इधर बहुत दिनों से भाव तथा कला का ऐसा सन्तुलित रूप नहीं देखा गया था। विलास-रस की वृद्धि करनेवाले वे चमत्कार प्रिय दरबारी कवि भी नहीं थे और न उनमें भक्त कालीन सन्तों का आग्रह था। उनके साहित्य में भक्तिकालीन हृदय तथा रीतिकालीन सुसंस्कृत कला का विचित्र संगम है। युग के अन्धड़ से अलग इस मार्मिक संगम को देखकर आश्चर्य होता है। रत्नाकर जी मार्मिक अतीत के कुशल चित्रकार हैं।

उनके साहित्य के इस रूप के लिए इनके सम्पूर्ण जीवन का वातावरण ही उत्तरदायी है। जीवन के प्रारम्भिक दिनों में जिस कवि-दरबार से सम्बन्ध था अथवा जिन विषयों का उन्होंने अध्ययन किया था, वह सब कुछ प्राचीन था। आगे राज-दरबार की नौकरी में भी वे युग-क्रान्ति से तटस्थ रहे तथा उनसे और आशा ही क्या की जा सकती थी? परन्तु उनकी साहित्य-सेवाओं का मूल्य कम नहीं समझा जायगा। उनकी रचनाओं की सरसता तथा विद्वत्तापूर्ण टीकाओं से हिन्दी को बहुत कुछ बल मिला।

उन्होंने युग की खड़ीबोली को कुछ भी नहीं दिया और न सीधे सामाजिक क्रान्ति-भावना को ही कुछ प्रदान किया। फिर भी साहित्य में उनका मार्मिक स्थान बना हुआ है। उनके पास अमूल्य प्रतिभा तथा शक्ति थी जिससे युग-गति को तदनुसार सहायता न मिल सकी, इससे दुख भी होता है। इस दृष्टि से हरिऔध जी का साहित्य इनकी तुलना में कई गुना अधिक मूल्यवान तथा लाभप्रद सिद्ध हुआ। रत्नाकर जी की अपेक्षा हरिऔध जी में अधिक कवित्व-शक्ति भी नहीं थी। दोनों के साहित्य का विषय भी मूलतः एक ही सा है। रत्नाकर जी के काव्यों में रीतिकालीन कला की सी छटा है तो उधर हरिऔध जी ने उसी भाषा में रीति-ग्रन्थ (रस-कलस) तक की रचना कर दी थी।

उद्धव-शतक तथा प्रियप्रवास के विषय भी तो मूलतः एकार्थी ही हैं किन्तु दोनों की शैली तथा दृष्टिकोणों में कितना अन्तर है ! प्रियप्रवास की भाँति उद्धव-शतक में प्रतिभा का महान् प्रयोग तथा उपयोग नहीं हो पाया है। यह कम दुर्भाग्य की बात नहीं है ! यद्यपि कवि का क्षेत्र स्वतंत्र होता है किन्तु खेद-प्रकाशन के लिए भी तो हम स्वतंत्र ही हैं। उद्धव-शतक की तुलना में प्रियप्रवास के पात्र अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। पौराणिक कथाओं में हमारे जीवन तत्त्व भरे पड़े हैं जो सम्पूर्ण विश्व-मानवता के लिए उपयोगी हैं। प्रत्येक युग अपने साँचे में ढालकर उनका चित्रण तथा प्रकाशन करता रहेगा। रत्नाकर तथा हरिऔध ने अपने साहित्य में बहुत सी पौराणिक कथाएँ ली हैं किन्तु हरिऔध जी के प्रकाशन से युग तथा समाज को सीधी प्रेरणा मिलने वाली है। दोनों समकालीन ही थे। दोनों नौकरी करते थे। एक कविता-कामिनी को अलंकृत करने तथा प्रेम का पाठ पढ़ाने में व्यस्त रह गया दूसरे ने उस कामिनी को युग का बाना धारण करने तथा देश-सेवा करने के लिए विवश किया। एक ने भगीरथ की कथा सुनाई और देवलोक से पृथ्वी पर गंगा का सरस अवतरण किया तो दूसरे ने देश के भगीरथों को जगाकर उन्हें इस पृथ्वी को ही देवलोक बना डालने की प्रेरणा दी। एक में व्यष्टिगत प्रेम की साधना थी, दूसरे में समष्टिगत।

रत्नाकर जी ने सर्व प्रथम हिंडोला, की रचना सन् १८९४ में की और इसके बाद समालोचनादर्श लिखा। 'हरिश्चन्द्र' एक खण्डकाव्य लिखा। उसके बाद उत्कृष्ट काव्य 'उद्धव-शतक' लिखा गया। अयोध्या की रानी की प्रेरणा से उन्होंने 'गंगावतरण' लिखा जिसके लिए उनसे एक सहस्र रुपये का पुरस्कार मिला। उस धन का उन्होंने नागरीप्रचारिणी सभा को दान कर दिया। अँग्रेजी कवि पोप की प्रसिद्ध पुस्तक Essay on Criticism का उन्होंने रोला छन्दों में अनुवाद भी किया था। उनके द्वारा लिखी हुई बिहारी-सतसई की टीका हिन्दी के पाठकों के लिए बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई।

रत्नाकर के साहित्य में एक ओर कला का चमत्कार मिलता है तथा दूसरी ओर रस की तरल धारा। उनके विषय प्राचीन हैं किन्तु योजना नवीन है। उनकी भाषा तथा छन्द भी प्राचीन हैं, किन्तु उनमें नया प्राण तथा प्रवाह है। कथा-सूत्रों की प्रबन्ध रचना में भी उनकी मौलिकता पाई जाती है। भावों की सच्चाई के कारण उनके काव्यों में अनुभूतियों की सजीवता है। कथा-तत्त्वों में उनके विश्वासों की आस्था तथा भावों की सच्चाई को देखते हुए उनका साहित्य भक्तिकालीन साहित्य-भाण्डार में ही रखा जाएगा। अपनी

सरसता तथा कलात्मक छटा के कारण सदा ही उनकी कृतियों का आदर किया जाएगा। भ्रमरगीत की परम्परा में उनका उद्धव-शतक सदा ही याद किया जाएगा तथा उसे सम्मानित किया जाएगा। उनके साहित्य को देखते हुए उनका 'रत्नाकर' नाम यथार्थ ही है।

रत्नाकर की काव्य-कला

रस-योजना :—

रत्नाकर जी आधुनिक युग के रससिद्ध कलाकार हैं। उनका हृदय रस का समुद्र है तथा उनके काव्यों में रस की धारा बहती है। उनकी रचनाओं में भक्ति तथा शृङ्गार, दो प्रधान रस हैं। इनके अतिरिक्त वात्सल्य, वीर, रौद्र, भयानक तथा वीभत्स रसों के महत्वपूर्ण स्थल भी उनके साहित्य में पाये जाते हैं। शृङ्गार के वियोग पक्ष की मार्मिकता ने उनका स्थान बहुत ऊँचा कर दिया है जिस पर हम अलग शीर्षक में विचार करेंगे।

वास्तव में रस ही काव्य की आत्मा है। इसका सीधा सम्बन्ध हृदय की अनुभूतियों से है। यही कारण है कि इसका प्रभाव स्थायी होता है। बुद्धि-तत्वों की जटिलता तथा रसानुभूति के अभाव के कारण ही आज की कविता लोक-जीवन से अलग पड़ गई है। सच पूछा जाय तो रस की सिद्धि के लिए कलाकार को सच्ची साधना करनी पड़ती है। इसी साधना की सत्यता के कारण भक्तिकालीन साहित्य ने समाज के रोम-रोम में प्रवेश पा लिया था। यही नहीं वह साहित्य लोक-धर्म तथा लोग-जीवन का वास्तविक अंग बन गया। उसके प्रभाव को अजस्र तल्वारें पूर्णतया मिटा नहीं सकीं तथा वाद के घातक इंजेक्शन भी उसे सर्वांशतः समाप्त नहीं कर सके। वे सन्त ऐसे भगीरथ थे जिन्हें पवित्र सरिता को किसी देवलोक से नहीं लाना था बल्कि उनकी साधना तथा तपस्या ने भारतीय जीवन के पाताल को तोड़कर ऐसा स्रोत बहाया जिससे असंख्य सगर-सुत युग-युग तक तरते रहेंगे।

आजके भौतिकवादी विश्व में कलाकारों से साधना की कम आशा की जा सकती है। इसीलिए आजके कलाकार अपनी साधना के अभाव को, वादों तथा बौद्धिक जटिल तत्वों से ढँकते हुए दिखाई देते हैं और उनकी रचनाओं के व्यापक प्रभाव को भी फलस्वरूप हम देखते हैं। आज का कलाकार जीवनोपयोगी तथा व्यावहारिक नवीन प्रतीकों तथा उपमानों को उपस्थित करके नवीन-साहित्य का विधाता तो बनना चाहता है किन्तु जिस जीवन

तथा समाज से वह अपने उपकरणों को जुटाता है उसमें साधना कहाँ वह करता है ? मार्क्स, फ्रायड के सिद्धान्तों तथा व्यक्तिगत जोश मात्र से वह सफलता नहीं मिलनेवाली है। यह एक व्यावहारिक प्रश्न है। बिना साधना के सिद्धि कैसी ? साधना हृदय की शक्ति से होती है। गृहासक्ति का सर्वथा त्याग तो साधना का प्रथम सोपान है तथा उसके बाद ही अन्य सोपानों के द्वार खुलते हैं। इस समाज के बीच बादल में बिजली की भाँति सौभाग्य से ही ऐसे साधक क्षणमात्र के लिए उत्पन्न हो जाते हैं।

रस निष्पत्ति काल में साधारणीकरण होता है। अब प्रश्न यह होता है कि क्या कला का ऐसा रूप होना चाहिए कि विश्व-समाज के हर वर्ग का उसमें साधारणीकरण हो सके ? हमारा तो विचार यह है कि यदि ऐसा हो सके तो इससे अच्छा क्या होगा ! परन्तु व्यवहारतः कैसे यह सम्भव है ? हम मान लेते हैं कि सम्पूर्ण मानव स्वभाव में सौन्दर्य-प्रियता, करुणा, हास, उत्साह तथा क्रोध आदि स्थायीभाव प्राकृतिक रूप से होते हैं। किन्तु मैं पूछता हूँ कि क्या गाँधी की करुणा का साधारणीकरण गोली के साथ ही होना चाहिए था ? क्राइस्ट तथा केनेडी की करुणा का इस समाज में कैसा साधारणीकरण हुआ। क्या मानवता के उद्धारक मुहम्मद की करुणा का साधारणीकरण तलवार के निर्मम रक्त ही से होना चाहिए था ? अथवा उन लोगों की करुणा ही में त्रुटि है ?

स्पष्ट निर्णय यह है कि इस साधारणीकरण के लिए कलाकार को पहले विषय तत्त्वों को मिटाना होगा। बिना इस विषमता का नाश किये ही यदि कलाकार विश्व की पीड़ित मानवता को मर्फिया का इंजेक्शन देकर मदहोश रखना चाहता है तो वह भीषण अपराध करता है। वह वही भूल करता है जो पिछली सहस्राब्दियों में बार-बार हो चुकी है जिसका फल आज राष्ट्र तथा विश्व भोग रहा है। भ्रष्टाचारजन्य इस विषमता अथवा शोषण (मनुष्य से लेकर पशु-पक्षियों तक) का पहले समाधान करना ही होगा। समाज के शक्तिशाली वर्ग ने तो शासन तथा धर्म को अपनी शोषण-क्रिया का अस्त्र बना ही लिया है अब कलाकार पर ही तड़पती मानवता की आँखें लगी हैं। बिना रावणत्व का उन्मूलन किये, सुन्दरम् की रक्षा नहीं हो सकती। समाज का यह रावणत्व ही शाश्वत है। अतः जिस कार्य को आज तक कोई भी अवतार सदा के लिए पूर्ण नहीं कर सका उसे कलाकार ही सम्पन्न करे, दूसरा है ही कौन ?

अब एक ही बात है। विश्व के कलाकारों को एक स्वर से लगातार तबतक प्रयत्न करना है, जबतक सारा विश्व-समाज साधारणीकरण के लिए एक-रस न

हो जाय। चीन जैसे ऐसे भी राष्ट्र हैं जहाँ कला जकड़ दी गई है ऐसे वे तो सारे विश्व को अपनी सीमा में बाँधने पर तुले हैं। विश्व की मानवता की मुक्ति ही जगत के कलाकारों का प्रथम धर्म है। विश्व में कलाकारों ने कभी ऐसी योजना नहीं बनाई, यह भी सत्य है। परन्तु यह सत्य भी चिरन्तन न बन बैठे, अन्यथा आशा का दीपक ही सदा के लिए बुझ जायगा। क्या इस तपोभूमि के कलाकार इस विषम साधना-पथ पर एक साथ बढ़ेंगे? क्योंकि अन्तिम आशा की किरण वे ही हैं।

अब हम मूल शीर्षक पर आते हैं। रत्नाकर जी के काव्यों में प्रत्येक रस की सफल योजना है। उनके पात्र पौराणिक तथा ऐतिहासिक हैं जो हमारे समाज के लिए पूर्व परिचित हैं। अर्जुन, कृष्ण, भीष्म के अतिरिक्त प्रताप तथा शिवाजी आदि प्रसिद्ध पात्रों से हम पूर्ण परिचित हैं। इनके चरित्र-चित्रणों में रत्नाकर जी को विभिन्न रसों की योजना के लिए व्यापक अवसर प्राप्त हुए हैं। इस प्रक्रिया में उन्होंने जो अनुभावों, उद्दीपनों तथा संचारियों आदि की सूक्ष्म योजना की है वैसी हिन्दी साहित्य में कम स्थानों पर मिल सकेगी। एक ही स्थान पर कई-कई भावों का एक साथ चलना, कहीं एक साथ समानान्तर चलना, कहीं एक ही भाव का एक ओर तो स्थायी भाव बने रहना तथा दूसरी ओर अन्य भाव के लिए उसीके द्वारा संचारी भाव का कार्य करना और कहीं अनेक भावों का क्षण-क्षण में क्रमशः संचरण करना आदि ऐसी स्थितियाँ हैं जहाँ पाठक का हृदय डूबने उतराने लगता है। उदाहरणार्थ इस छन्द में वीर, रौद्र तथा भक्ति रसों की त्रिवेणी देखिए :—

छूट्यो अवसान मान सकल धनंजय कौ
धाक रही धनु मैं न साक रही सर मैं।
कहै रतनाकर निहारि करुनाकर कैं,
आई कुटिलाई कछु भौंहनि कगर मैं॥
रोकि शर रंचक अरोक वा बानन कौं,
भीषम यौं भाख्यौ मुसकाइ मंद स्वर मैं।
चाहत विजै कौं सारथी जौ कियौ सारथ,
तौ वक्र करौ भृकुटी न चक्र करौ कर मैं॥

"यहाँ भीष्म के भीषण-युद्ध के बीच की एक स्थिति का चित्र है। यहाँ अनुभावों की सूक्ष्मता तथा भावों का संघर्ष बड़ा ही विचित्र है। चौथी पंक्ति में कृष्ण की 'भौंहों में कुटिलता' अनुभाव है, जहाँ रौद्र है। प्रथम दो पंक्तियों

में भीष्म की वीरता की धाक का चित्र है। आश्चर्य की बात तो यह है कि कृष्ण में जो क्रोध के लक्षण दिखाई दे रहे हैं, उनके भीतर विचित्र रहस्य छिपे हुए हैं। एक ओर तो भक्त अर्जुन की दशा से क्रोध का संचार दिखाई देता है दूसरी ओर भीष्म भी उनके भक्त हैं जिनके प्रण को उन्हें ही पूरा करना है। अतः यहाँ रौद्र तथा भक्त-वात्सल्य का अद्भुत मिश्रण है।

पाँचवीं पंक्ति में कृष्ण के रोष को देखकर भीष्म क्षणमात्र के लिए अपनी बाण-वर्षा रोक देते हैं और छठीं पंक्ति में धीरे से मुस्कुरा देते हैं। उनका यह हास व्यंग-मूलक नहीं है बल्कि 'वह मुस्कुराहट' भक्त भीष्म का अनुभाव है। कृष्ण की भक्तवत्सलता पर उन्हें विश्वास है। कृष्ण की भौंहों की कुटिलता एक ओर रौद्र के पक्ष में अनुभाव है तथा दूसरी ओर भक्ति-पक्ष में उद्दीपन है जिससे भीष्म का भक्तिभाव उद्दीप्त हुआ। यहाँ भीष्म में उत्साह तथा भक्ति के भाव आपस में क्रमशः ऐसे स्थायी तथा संचारी भाव बनते हैं कि कहते नहीं बनता। कृष्ण को उत्तेजित करने के लिए वे कहते हैं—'न चक्र करो कर मैं।''

—(पं० कृष्ण शंकर शुक्ल के मत का सारांश)

विस्तार के भय से अधिक उदाहरण देना कठिन है किन्तु इतना ध्यान में रखना चाहिए कि वीर तथा रौद्र के ऐसे उदाहरण हिन्दी-साहित्य में बहुत कम मिलेंगे। उनके ऐसे उदाहरण सैकड़ों स्थलों पर मिलेंगे। इन रसों के लिए रत्नाकर जी ने नायक भी वैसे ही चुने हैं। कहीं-कहीं तो उन्होंने विचित्र कौशल दिखाया है। कर्णकटु, कठोर तथा परम्परागत वर्णों के बिना विशेष-प्रयोग किये ही वीररस का प्रबल वेग बहाया है।

> आसा छाँड़ि प्रान की अमान की दुरासा माँड़ि,
> भागे जात गब्बर अकब्बर के गुरगा।
> देवी दुरगावति मलेच्छ-दल गेरे देति,
> मानो दैत्य दलनि दरेरे देति दुरगा॥

रत्नाकर जी की साधना ने उनकी अनुभूतियों को शक्ति दी थी। वीर तथा रौद्र रसों में आलम्बन (शत्रु) का उतना महत्त्व नहीं होता जितना उसके द्वारा किये गये अपकारों तथा लोक-विरोधी जघन्य कृत्यों का। यह लोक-विरोध ही साधारणीकरण की व्यापक पृष्ठभूमि तैयार करता है। इस समय भारत की सीमा पर आक्रमण करनेवाले आततायी विश्व-मानवता के शत्रु हैं। इन आलम्बनों को लेकर जिन काव्यों की सृष्टि की जाएगी उनके साधारणीकरण

का क्षेत्र विश्वव्यापी होगा। विख्यात आलम्बनों से रस-निष्पत्ति में अधिक सुविधा मिलती है। करुण-रस का एक चित्र है :—

रोवन लाग्यो फूटि झपटि हरिचन्द उठायो।
धूरि पोंछि मुख चूमि लाइ हिय मौन गहायो॥

इस चित्र में करुण तथा वात्सल्य रसों ने मिश्रित होकर विचित्र स्थिति उत्पन्न कर दी है। वटुक का धक्का खाकर रोहिताश्व फूट पड़ता है। हरिश्चन्द्र उसे उठाकर धूल पोंछते हैं, मुख चूमते हैं तथा मौन ग्रहण कर लेते हैं। वे अनुभाव वात्सल्य-जनित हैं किन्तु 'मौन गहायो' की स्थिति पर ध्यान दीजिए। धन्य है रत्नाकर जी की अभिव्यंजना। एक 'मौन' शब्द पाठक को करुणा के समुद्र में फेंक देता है। वे मौन क्यों हो जाते हैं ? यहाँ पाठक थोड़ा अपने हृदय में झाँककर देखें कि आततायी वटुक के प्रति किस भाव की अनुभूति हो रही है ? दूसरा चित्र देखिए :—

चली वटुक के संग उछंग लिए बालक कौं।
फिरि-फिरि करुना सहित विलोकति नरपालक कौं॥

यहाँ करुणा से भरकर देखना कैसा अनुभाव है ? अन्त में एक और असह्य चित्र प्रस्तुत है :—

करि विलाप इहि भाँति उठाइ मृतक उर लायौ।
चूमि कपोल विलोकि वदन निज गोद लिटायौ॥
हिय वेधक यह दृश्य देखि नृप अति दुख पायौ।
सके न सहि बिलगाइ नैंकु हठि सीस नवायौ॥

रत्नाकर जी के साहित्य में ऐसे अनेक हृदय-विदारक स्थल हैं। विश्व के किसी भी देश में ऐसे पात्र कहाँ मिलेंगे ? प्रश्न तो यह है कि विश्व-समाज पर इस प्रकार के प्रसंगों का कितना प्रभाव पड़ा है ? एक ओर अनन्त वैभव का दान करके श्मशान को वरण करने वाले पात्र तथा दूसरी ओर शोषण के कंकाल पर खड़ा, समाज का नखशिख सड़ा ढाँचा ? कैसी शाश्वत विडम्बना है ! स्वार्थ को करुणा कैसी ! वीभत्स-रस का एक चित्र देखिए :—

जहँ तहँ मज्जा मांस रुधिर लखि परत बगारे।
जित तित छिटके हाड़, स्वेत कहुँ कहुँ रतनारे॥

वीभत्स-रस का भी काव्य में मुख्य स्थान है। जीवन तथा समाज के कल्याण में इसकी बड़ी उपयोगिता है। यद्यपि यह अरुचिकर है किन्तु इसकी

उपेक्षा घातक है। विश्व-समाज तथा जीवन का एक मार्मिक पहलू ऐसा भी है जिसका रूप तो वास्तव में वीभत्स ही है किन्तु समाज ने उस पर सभ्यता का रंगीन पर्दा चढ़ा दिया है। उस झीने पर्दे के नीचे हिंसा तथा शोषण की वीभत्स रक्त-धारा उमड़ रही है। असंख्य-असंख्य जीवों का निर्मम हनन, करोड़ों-अरबों पीड़ित मानवों का शोषण! इस उमड़ते हुए समुद्र के ऊपर शक्तिशाली वर्गों के खिले हुए चन्द कमल! सभ्यता के पर्दे की विचित्र शोभा! नीचे वीभत्स-रस, ऊपर अद्भुत-रस!

रत्नाकर जी की रस-सिद्धि ने महान् आदर्शों को शक्तिशाली बना दिया है। प्राचीन जीवन के जिन आदर्शों को चुनकर उन्होंने समाज के सामने रखा है उनसे मानवता को प्रेरणा मिलने वाली है। तत्कालीन भारत के लिए उनका साहित्य कम महत्त्वपूर्ण नहीं है और आज भी उसका शाश्वत मूल्य बना हुआ है। काव्य के प्रत्येक रस में उनको अद्भुत सफलता मिली है।

अलङ्कार-योजना :—

रत्नाकर के साहित्य में भाव तथा कला का जैसा सन्तुलित चित्र मिलता है, हिन्दी-साहित्य में कम स्थलों पर देखा जाता है। उनकी अलङ्कार-योजना को रस-योजना से अलग करना कठिन है। उनके अलङ्कार रस की धारा में उत्पन्न होने वाली लहरियों की छटा के समान हैं। वे अनुभूतियों में यथार्थता तथा शक्ति उत्पन्न करने वाले हैं। उनकी कल्पना तथा वास्तविकता का मेल देखने योग्य है।

उत्प्रेक्षा :—कोउ छकि करति प्रनाम टेकि महि माथ मयंकहिं।
मेटति मनहुँ विशाल भाल के कठिन कुअंकहिं॥

नीचे सांग-रूपक में शोक-समुद्र का चित्र खींचा गया है। साठ सहस्र सगर-सुतों के विनाश का समाचार सुनकर यज्ञशाला शोक-सागर में बदल गई। रूपक से भाव-प्रवणता में कितनी सहायता मिली है, ध्यान देने योग्य है।

उमड्यो सोक-समुद्र भई विप्लुत मख-साला।
बड़वागिनि सों लगन लगी जज्ञागिनि ज्वाला॥
गयो तुरत फिरि सब उछाह आनँद पर पानी।
बढ़ी पीर की लहर धीर-मरजाद नसानी॥

यहाँ करूणा के कैसे भयानक समुद्र का रूप खड़ा हो गया है! अलङ्कार तथा रसों को कैसे विलग किया जा सकता है! रत्नाकर जी अप्रस्तुत का

विधान करते समय वाह्य-दृश्यों की अपेक्षा आन्तरिक भावों पर अधिक ध्यान देते हैं। वे ऐसे अप्रस्तुत भी अपनी कल्पना से ढूँढ लेते हैं जो दोनों का एक ही साथ बड़ी सफलता से प्रकाशन कर देते हैं। नीचे भीष्म द्वारा युद्ध में काटे गये रुण्ड-मुण्डों के वाह्य चित्र के साथ उनकी पीड़ा की कितनी मार्मिक व्यंजना है ?

कहै रतनाकर वितुंड-रथ-वाजी झुन्ड,
लुंड मुंड लोटैं परि उछरिति मीनि लौं।

नीचे की उपमा से वाणों की गति, आकार, भयंकरता के साथ उनकी घातकता का कैसा सशक्त प्रकाशन किया गया है ? कैसी अनुप्रास-योजना है ?

लच्छ लच्छ भीषम भयानक के बान चले,
सबल सपच्छ फुफुकारत फनीनि लौं।

नीचे यमक से प्रतीप को और प्रतीप से राधा के रूप को कितना बल मिला है ?

कहै रतनाकर बिलोकि राधिका कौ रूप,
सुखमा रती की ना रतीकु ठहरति है।

रत्नाकर की अलङ्कार-योजना को देखकर उनकी कवित्व-शक्ति का पता चलता है। उसके सामने रीतिकालीन प्रयोग निर्जीव से प्रतीत होते हैं।

छन्द-विधान :—

रत्नाकर ने कम छन्दों का प्रयोग किया। उनकी अधिकांश रचना कवित्तों में लिखी गई है। कवित्तों पर उनका विशेष अधिकार है। उनके कवित्तों में पद्माकर की छटा तथा देव की शक्ति है। इस छन्द में शृङ्गार, वीर तथा रौद्र के अत्यन्त मार्मिक चित्र उतरे हैं। उनके एक-एक कवित्त रस के समुद्र के समान हैं। कुछ रचनाएँ सवैया छन्दों में भी हैं।

रोला तथा उल्लाला छन्दों में उन्होंने गंगावतरण तथा हरिश्चन्द्र की रचना की है। उक्त खण्डकाव्यों के भीतर इन छन्दों में कथा और रस का वेग उमड़ता है।

भाषा-शैली :—

आधुनिक काल में उनकी परिष्कृत साहित्यक ब्रजभाषा के सशक्त रूप को देखकर आश्चर्य होता है। भाषा पर उनका व्यापक अधिकार है। एक ही

रस के लिए वे भाषा के विभिन्न स्तरों का प्रयोग करके चमत्कार उत्पन्न कर देने वाले हैं। काव्य का मूल तत्व रस होता है और वह अनुभूति का विषय है। अनुभूति को तीव्रता तथा मूर्त रूप प्रदान करने के लिए कलाकार विशेष प्रकार की शब्द-योजना किया करते हैं। वे ऐसे सशक्त शब्द-समूहों के प्रयोग करते हैं जिनके पीछे अर्थ-प्रत्यर्थ छिपे रहते हैं जिन्हें हम ध्वनि कहते हैं। शब्दों की इस ध्वन्यात्मकता में कलाकार की भाषा-शक्ति का निर्णय होता है।

अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना यह तीन प्रकार की अर्थ-शक्तियाँ शब्दों में होती हैं। लक्षणा तथा व्यंजना शक्तियों के प्रयोग से काव्य की अनुभूतियों में शक्ति तथा व्यापकता उत्पन्न होती है। 'मानस के प्रथम श्लोक में 'अर्थ-संघानाम्' कहकर तुलसी ने इन्हीं शक्तियों की ओर संकेत किया है। इन शक्तियों में ऐसा चमत्कार होता है जिसकी प्रेरणा से काव्य में उच्च-काव्य की रस-भूमिका तैयार होती है। इसीलिए अनेक आचार्यों ने ध्वनि को ही काव्य की आत्मा बतलाया।

भाषा पर रत्नाकर का ऐसा अधिकार था कि वे जैसी अनुभूति उत्पन्न होती थी वैसे ही शब्द प्रस्तुत कर देते थे। रसों के अनुकूल भाषा में ओज, प्रसाद तथा माधुर्य गुण उत्पन्न करना उनके लिए सहज कार्य था। रस-प्रकरण में उनकी भाषा की शक्ति को हम देख चुके हैं। हम उनके कुछ चमत्कारपूर्ण प्रयोगों पर अब विचार करते हैं।

भव वैभव को जदपि भूप-गृह अमित उज्यारौ।
तउ इक सुत कुल-दीप बिना सब लगत अँध्यारौ॥

यहाँ अँध्यारौ तथा उज्यारौ के लाक्षणिक प्रयोगों से अनुभूति में कितनी मार्मिकता उत्पन्न हो गई है तथा दूसरी ओर पुत्र का अभाव कितना मूर्त हो उठा है! पुत्र को 'कुल-दीप' कह कर अमूर्त कामना को मूर्त तथा प्रकाशित किया गया है। 'अँध्यारौ' शब्द द्वारा राजा के अभाव की भयंकरता तथा वेदना को व्यक्त किया गया है।

खेलौ हँसौ जाइ जाहि भावन सलोनी साँझ,
हाँ तो जरे माँझ सो लुनाई लोन लावै है।

'सलोनी' तथा 'लुनाई' की लक्षणा शक्ति ने कमाल कर दिया है। सलोनी साँझ संयोगिनियों को सुख देने वाली तथा वियोगिनियों को जलानेवाली है, यह तो परम्परागत सत्य है किन्तु रत्नाकर की शब्द-योजना में कुछ और बात भी है। रत्नाकर के लक्ष्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ ही में कमाल है।

साँझ में लुनाई है अतः सलोनी है। वह जलाती ही नहीं नमक भी छिड़कती है क्योंकि उसमें लोनापन जो है। कैसा चमत्कार है ? भाव को कितनी तीव्रता मिल गई है ! मुहावरों का तो पूछना ही नहीं। वे तो मार्मिकता के अंग से बन गये हैं।

(१) एतो सब साधना वृथा ही बहि जाइगी।
(२) तौ लौं तब द्वार पै अमानत परयौ रहौं।
(३) यह चोरी नहीं बर जोरी हहा, मन लै हूँ रहौ पै बसौ मनहीं।
(४) जोगिनी के होस पै भरोस पै वियोगिनि कै,
रोस पै संयोगिनी के ओम परिबे लगो।
(५) आँख दिखावति, मूड़ चढ़ी,
मटकावति चन्द्रिका चाव सौं पागी।

कहावत तथा मुहावरा के एक साथ का एक प्रयोग देखिए :—

होम करत कर जरयो परयो बिधि बाम हमारो।

अनुप्रासों के सहज प्रयोग से उनकी भाषा को वेग मिलाता है। उनकी भाषा में पद्माकर का प्रवाह तथा बिहारी की गम्भीरता है।

करति चंद दुति मंद अमल मुख चंद उजारी।
मुनि मन माहिं मनोज मौज उप जावनि हारी॥

उनकी भाषा में खपाना, उतान, झुराना, उराना, निबुकी, झमेला, लौकना बतास, भकुवाना, फटही, सिकहर, गरू धिरंइ, अँगेजना, गारना तथा चेत आदि पूर्वी शब्दों के भी अनेक प्रयोग मिलते हैं। इनके अतिरिक्त महल, गरक, दाग, गौर, वहम, सुलह, नजर, निगाह फकीर तथा इलाज आदि विदेशी शब्दों के प्रयोग भी हुए हैं। उनकी भाषा अत्यन्त व्यवस्थित, शुद्ध, परिष्कृत, सशक्त तथा प्रवाहयुक्त है।

उद्धव-शतक : वियोग-चित्रण

भ्रमरगीत की परम्परा में लिखा गया रत्नाकर का उद्धव-शतक उनकी श्रेष्ठतम रचना है। भाव तथा कला की दृष्टि से यह एक अनूठा काव्य है। इसका मूल विषय वही है जो सूरदास तथा नन्ददास के भ्रमरगीतों का है। उद्धव-गोपिका-संवाद हिन्दी-साहित्य का एक मार्मिक प्रसंग रहा है। सूरदास

ने इस संवाद को अपने मत की पुष्टि के लिए उपयोगी रूप में भी लिया है। सूर सगुणोपासक थे। सगुणोपासना की पद्धति को महत्त्व देने तथा उसकी श्रेष्ठता को प्रतिपादित करने के लिए सूरदास ने गोपिकाओं के अनन्य प्रेम से बड़ा काम लिया।

उस संवाद में दो पक्ष हैं। ज्ञानवादी निर्गुणोपासकों का प्रतिनिधित्व करने वाले उद्धव एक पक्ष पर हैं तथा भक्तिमार्गी सगुणोपासकों को बलदेने वाली, कृष्ण की अनुरागिनी गोपांगनाएँ द्वितीय पक्ष पर हैं। भ्रमरगीत के द्वारा सूर ने हिन्दू-समाज तथा हिन्दी-साहित्य का बड़ा उपकार किया। इसमें बुद्धि तथा मस्तिष्क, ज्ञान तथा भक्ति, निर्गुण एवं सगुण और दर्शन तथा काव्य का विचित्र समाधान है। यह समाधान लोक-मंगलकारी तथा लोक-रंजनकारी है। निर्गुण ब्रह्म, जो ज्ञान तथा दर्शन का विषय है, सर्व-साधारण की पहुँच से बाहर है, (उसी ब्रह्म) को साकार रूप देकर ऐसे मोहक तथा सर्व-ग्राह्य साँचे में ढाला कि वह बड़ी सरलता से हताश तथा संत्रस्त जनता को सहारा देने वाला हो गया।

सूर की यह सफलता पीड़ित-मानवता में आत्म-विश्वास उत्पन्न करने वाली सिद्ध हुई। दर्शन के गूढ़ विषय को काव्य के धरातल पर उतारकर, उसे हृदय की वस्तु बना देना सरल कार्य नहीं था। सूर ने उसे ऐसा सरस रूप दे दिया कि मानवता भाव विभोर हो उठी। सूर की काव्य-प्रतिभा ने एक जादू का काम कर दिया। सच्चे प्रेम के सम्मुख जिस ढंग से, कोरे तर्कों पर आधारित ज्ञानवाद को घुटने टेकने पड़े, वह बड़ा आश्चर्यजनक है। इसने भटकते समाज को एक सुगम व्यवस्था दी। ऐसे ही रससिद्ध कलाकारों तथा उनकी साधनाओं के अभाव में आज का साहित्य जन-जीवन से दूर पड़ गया है। आज तो उससे भी अधिक साधना की आवश्यकता है।

गोपिकाओं के हृदय में सामान्य-जनता के हृदय की सरलता है। उनकी स्थिति में सामान्य-जनता के जीवन की असहायता तथा पीड़ा है। उनकी वाणी में वही भोलापन है। भ्रमरगीत विरह का उमड़ता हुआ अपार समुद्र है जिसमें स्थान-स्थान पर हास्य-विनोद का पुट देकर सूरदास ने उसको तरंगों में तीला-पन ला दिया है। उन तरंगों के माध्यम से धरती, गगन को चूम रही है। वहाँ प्रेम तथा भक्ति, लोक एवं परलोक और जीव तथा आराध्य का अद्भुत मिलन हो रहा है। उस संवाद में जीवन, समाज, युग तथा सृष्टि का विचित्र समाधान छिपा हुआ है।

आगे चलकर भक्त-प्रवर नन्ददास ने अपनी शैली में इसी प्रसंग का चित्र

प्रस्तुत किया । उनके संवादों में उत्तर-प्रत्युत्तर का प्रवाह बड़ा ही नाटकीय, सजीव तथा मार्मिक है । 'सुनो व्रजनागरी' तथा 'सखा सुन स्याम के' के संबोधनों के साथ चलनेवाला प्रवाह बड़ा ही आकर्षक है । उसमें सूर की गम्भीर व्यथा तो उस मात्रा में नहीं है किन्तु हृदय को पकड़नेवाली मोहक शक्ति कम नहीं है । रीतिकाल के कवियों ने भी इस मार्मिक प्रसंग को लेकर बहुत सी छिटपुट रचनाएँ कीं । भागवत से आया हुआ यह विरह का प्रसंग प्रत्येक युग के कलाकारों को किसी न किसी रूप में बराबर आकर्षित करता रहा है ।

भारतीय जीवन, संस्कृति तथा साहित्य में सहस्रों वर्षों से कृष्ण, राधिका एवं गोपिकाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है और सम्भवतः आगे भी रहेगा । यह भी बात है कि हमारी संस्कृति में भक्ति का गहरा स्थान है । इस प्रकार गोपिकाओं के हृदय के प्रेम में ऐसा सर्व-सुलभ रस रहा है जिसमें सामान्य भक्त-जन भी प्रवाहित होकर अलौकिक भक्ति-रस का आनन्द लेते रहे हैं । इन कलाकारों तथा साधकों ने भक्ति (अलौकिक) को, प्रेम (लौकिक) की धरती पर कौशल से प्रतिष्ठित करके स्वर्ग को पृथ्वी पर उतारने का प्रयास किया है । संक्षेप में यह कहें कि उन्होंने इस धारा को स्वर्ग बनाने का उपक्रम किया है । इस उपक्रम को मरफिया का इंजेक्शन नहीं कहा जा सकता क्योंकि सारी समता-विषमता एक ही तलवार के नीचे समान रूप से दबी हुई थी और इसके साधारणीकरण का धरातल समतल था । परिस्थितिवश यह उपक्रम प्राण-रक्षक था, मुक्ति का प्रेरक नहीं ।

रत्नाकर जी ने इसी मधुर-प्रसंग को लेकर अपने 'उद्धव-शतक' की रचना की । उस प्रसंग को मौलिक साँचे में ढालकर खण्डकाव्य का रूप सा दे दिया । काव्य के प्रारम्भ में अपनी मौलिक उद्भावना से उन्होंने एक मनोवैज्ञानिक आधार प्रस्तुत किया । उस नवीन कल्पना से प्रसंग में सजीवता तथा यथार्थता उत्पन्न हो गई है । कृष्ण अपने मित्र को इसलिए ही गोपिकाओं के पास नहीं भेज देते हैं कि उनके ज्ञान-गर्व को चूर्ण करना था वल्कि कारण की उत्पत्ति के लिए उद्धव-शतक में वास्तविक कारण उपस्थित है ।

यमुना में स्नान करते समय, बहते हुए एक कमल के फूल को देखकर कृष्ण को अपनी राधिका की याद आ जाती है । वह फूल मुरझाया हुआ था, इससे एक वेदना का अनुभव करके कृष्ण की दशा बिगड़ जाती है ।

(१) पाइ बहे कंज में सुगंध राधिका की मंजु
ध्याये कदली-वन मतंग लौं मताए हैं ।

(२) न्हात जमुना में जलजात एक देख्यौ जात,
जाकौ अध-ऊरध अधिक मुरझायौ है।

(३) कान्ह गए जमुना नहान पै नए सिर सौं,
नीकै तहाँ नेह की नदी में न्हाइ आए हैं।

अपने मित्र उद्धव के सामने कृष्ण की दशा कैसी हो गई है?—

कहा कहैं ऊधौ सौं, कहैं हूँ तौ कहाँ लौं कहैं,
कैसे कहैं, कहैं पुनि कौन सी उठानि तैं।
तौ लौं अधिकाई तैं उमगि कंठ आई भिंचि,
नीर ह्वै बहन लागी बात अँखियानि तैं॥

यह चित्र कितना सूक्ष्म तथा मार्मिक है! इसका मर्म तो आगे चलकर वहाँ स्पष्ट हो जाता है जहाँ गोपिकाओं का विदग्ध हृदय हमारे सामने आ जाता है। इस चित्रण में भारतीय तुल्यानुराग का आदर्श तो है ही, प्रेमी तथा भक्त के लिए कैसा आशापूर्ण आधार प्रस्तुत कर देता है! उद्धव-शतक के कृष्ण के भीतर स्मृतियाँ उभर-उभर कर पीड़ा पहुँचाने लगती हैं।

(१) ऊधौ सुख-संपति-समाज ब्रजमंडल के,
भूलै हूँ न भूलैं, भूलै हमकौ भुलाइबौ।

(२) नंद व जसोमति के प्रेम-पगे पालन की,
लाड़ भरे लालन की लालच लगावती।
सुधि ब्रजवासिनि दिवैया सुख रासिनि की,
ऊधौ नित हमकौं बुलावन कौं आवती।

उद्धव के लाख समझाने पर भी कृष्ण की व्यथा कम नहीं होती। उनको इस बात का भी दुख होता है कि उद्धव हृदय-शून्य हैं जो उनकी पीड़ा का अनुभव नहीं कर पाते हैं। यहाँ अब रत्नाकर की कल्पना के रहस्य का मूल्यांकन कीजिए। कृष्ण अपनी व्यथा को स्पष्ट करने के लिए, उद्धव को उस आधार के पास भेजना चाहते हैं जहाँ पहुँचकर उनकी आँखें स्वयं खुल जायँगी इसी विश्वास पर वे उद्धव से निवेदन करते हैं:—

आवौ इक बार धारि गोकुल-गली की धूरि,
तब इहि नीति की प्रतीति करि लै हैं हम।

हुआ भी यही। उद्धव की दशा देखिए:—

गोकुल के गाँव की गली में पग पारत ही,
भूमि कै प्रभाव भाव औरै भरिबै लगे।

सन्देश-वाहक उद्धव के सामने अचानक पहुँची गोपिकाओं का चित्र देखिए :—

आँस रोकि, साँस रोकि, पूछन-हुलास रोकि,
मूरति निरास की सी आस भरी ज्वै रहीं।

उपर्युक्त दो पंक्तियों पर कितने काव्य न्यौछावर किये जा सकते हैं ? पत्र देखते ही गोपिकाओं में हलचल मच गई। मनोवेगों का चित्र देखिए :—

हमको लिख्यौ है कहा, हमको लिख्यौ है कहा,
हमको लिख्यौ है कहा, कहन सबै लगीं।

आगे चलकर उद्धव पहले तो अवाक् हो जाते हैं फिर साहसकर जीव-ब्रह्म का निर्गुण स्वरूप समझाने लगते हैं। तब तक गोपिकाएँ बोल उठती हैं :—

ऊधौ कहौ सूधौ सौं सनेस पहिले तौ यह,
प्यारे परदेस सौं कबै धौं पग पारिहैं ?

आगे के संवाद में तर्क तथा प्रेम का युद्ध प्रारम्भ होता है। यह वही प्राचीन विवाद है किन्तु रत्नाकर ने अपनी अनुभूति तथा कल्पना से उसे बड़ा ही मोहक तथा नवीन बना दिया है। उद्धव उसी प्राचीन शैली में बार-बार उनको ज्ञानवादी तर्कों से विचलित करना चाहते हैं किन्तु सभी अस्त्र व्यथा-सागर की निर्मम छाती से टकराकर चूर्ण हो जाते हैं।

(१) देखि सुनि कैसे दृग-स्रवननि बिना ही हाय,
भोरे ब्रजवासिनि कौं बिपति बराइहैं ?

(२) लाइ लाइ पाती छाती कबलौं सिरैहैं हाय,
धरि धरि ध्यान धीर कब लगि धारिहैं ?

(आज भी जनता कब तक नेताओं के आप्त वचनों को सुनती रहेगी और उनके गम्भीर दर्शन को कंठ से लगाकर कब तक ध्यानमग्न रह सकेगी ? ऐसे साधकों की आवश्यकता है जो इन दर्शनों के पर्दे में सुरक्षित शाश्वत विषमता को मिटाकर मानवता में कराहते हुए प्रेम को नया मार्ग दे सकें)

(३) टूक टूक ह्वै है मन मुकुर हमारौ हाय,
चूकि हूँ कठोर बैन-पाहन चलावौ ना।
एक मनमोहन तौ बसिकै उजार्‌यौ मोहिं,
हिय मैं अनेक मनमोहन बसावौ ना।

(४) ढोंग जात्यौ ढकि परकि उर सोग जात्यौ,
जोग जात्यौ सरकि सकंप कँखियानि तैं।
ऊधौ ब्रह्मज्ञान कौ बखान करते ना नैकु,
देख लेते कान्ह जौ हमारी अँखियानि तैं॥

गोपिकाओं के कृष्ण के वियोग में भी इतना सुख है जो ब्रह्म-सुख से उत्तम है।

(५) जाके या वियोग-दुखहूँ मैं सुख ऐसो कछु,
जाहि पाइ ब्रह्म-सुख हू मैं दुख मानैं हम।
(६) फैलै बरसाने मैं न रावरी कहानी यहू,
बानी कहूँ राधे आधे कान सुनि पावै ना।

कृष्ण की कल्पना सत्य हुई :—

(१) आए लौटि लज्जित नवाए नैन ऊधौ अब,
सब सुख साधना कौ सूधौ सो जतन लै।
(२) प्रेम-रस रुचिर विराग तूमड़ी मैं पूरि,
ज्ञान गूदड़ी मैं अनुराग सौं रतन लै।

उद्धव लौटकर कृष्ण से कहते हैं :—

होतौ चित चाव जौ न रावरे चितावन कौ,
तजि ब्रज गाँव इतै पाँव धरते नहीं।

उपसंहार :—

रत्नाकर जीने आधुनिक खड़ीबोली तथा युग-चेतना की ओर यदि कृपा की होती तो यह निश्चित था कि जैसी उनमें महान् प्रतिभा तथा शक्ति थी, साहित्य तथा समाज को और कुछ मिला होता। परन्तु ब्रजभाषा में भी जो कुछ उन्होंने दिया उसका मूल्य कम नहीं है। भाव तथा कला की दृष्टि से उन्होंने काव्य-जगत को अनमोल रत्न दिये। उनकी रचनाओं के विषय चिरन्तन मूल्य रखते हैं। ब्रजभाषा का क्षेत्र युग की व्यापकता तथा प्रगति से पीछे पड़ चुका था अतः वर्तमान युग उनकी रचनाओं से उतना लाभ न उठा सका जितना खड़ीबोली से उठाता।

गुप्त जी का जीवन-वृत्त

मैथिलीशरण गुप्त का जन्म झाँसी के निकट चिरगाँव नामक ग्राम में सन् १८८६ में हुआ था। इनके पिता श्री रामचरण रामोपासक वैष्णव भक्त थे। वे स्वयं कवि थे तथा कविजनों का आदर करते थे। श्री रामचरण जी के संस्कारों का व्यापक प्रभाव हम मैथिलीशरण गुप्त जी के विचारों में पाते हैं। मैथिलीशरण गुप्त के साहित्य का अध्ययन करते समय उनके इन संस्कारों का ध्यान रखना चाहिए।

प्रारम्भिक शिक्षा के बाद मैथिलीशरण गुप्त झाँसी पढ़ने गये। प्रतिभासम्पन्न विद्यार्थी होते हुए भी वहाँ उनका मन पढ़ने में नहीं लगा। घर पर ही उनके पढ़ने का प्रबन्ध कर दिया गया! ध्यान देने योग्य एक यह भी बात है कि भारतेन्दु, हरिऔध तथा रत्नाकर जी का निर्माण भी इसी प्रकार पारिवारिक संस्कारों तथा घर की शिक्षा से हुआ था। प्रारम्भ में वे आल्हा के बड़े प्रेमी थे और उसे जोर से गाया करते थे। इन बातों को देखकर गुप्त जी के ज्येष्ठ भाई ने चिन्तित होकर उन्हें गाँव के मुंशी अजमेरी जी को सुपुर्द कर दिया। अजमेरी जी मुसलमान होते हुए भी हिन्दी के एक अच्छे कवि थे।

वास्तव में गुप्त जी के भावी जीवन में अजमेरी जी के प्रभाव का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। उस समय के युग-प्रवर्तक द्विवेदी जी रेलवे की नौकरी में बदलकर जब झाँसी आये तो अपने भाई के साथ गुप्त जी को भी उनका दर्शन मिला। यहीं से गुप्त जी के जीवन के नवीन अध्याय का प्रारम्भ हुआ। नौकरी छूटने के बाद द्विवेदी जी 'सरस्वती' की सेवा में आ गये। प्रथम बार 'हेमन्त' शीर्षक कविता, गुप्त जी ने प्रकाशनार्थ द्विवेदी जी के पास भेजी। उसके प्रकाशन में देर हो गई, अतः गुप्त जी ने व्याकुल होकर उसे कन्नौज की 'मोहिनी' नामक पत्रिका में भेज दिया। वहाँ वह प्रकाशित हो गई। कुछ ही दिनों के बाद उसका संशोधित संस्करण 'सरस्वती' में भी निकला।

कविता के संशोधित रूपको देखकर गुप्त जी को आश्चर्य हुआ। तब तक द्विवेदी जी का पत्र आया। उसमें लिखा था—"हमने जो संशोधन किये हैं उन पर विचार करो। आगे से जिस कविता को हम न छापें उसे किसी दूसरे पत्र में न छपाओ।" द्विवेदी जी की पंक्तियाँ बड़ी महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुईं। आगे

चलकर द्विवेदी जी की छत्रछाया में गुप्त जी का विकास तथा निर्माण होता रहा। गुप्त जी के साहित्य के स्वरूप तथा उसके आदर्शों में हम द्विवेदी जी के प्रभाव तथा उनकी प्रेरणा के लक्षण स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। गुप्त जी की भाषा तथा शैली का परिष्कार द्विवेदी जी के संरक्षण में हुआ। उन्हीं से उन्हें नैतिक आदर्शों की प्रेरणा मिलती रही। गुप्त जी के प्रारम्भिक जातीय संस्कारों को, द्विवेदी जी द्वारा प्रदत्त राष्ट्र-सेवा की प्रेरणा का व्यापक धरातल मिला, जिसका अन्तिम विकास विश्व-मानवता-प्रेम के रूप में दिखाई देता है।

गुप्त जी का साहित्य

गुप्त जी को लम्बी आयु मिली। उन्होंने पचास वर्षों से अधिक हिन्दी की सेवा की। अपनी कृतियों का ढेर लगा दिया। उनके विशाल साहित्य से तीन प्रकार की सेवाएँ तो स्पष्ट रूप से हुईं।

(१) कला की दृष्टि से खड़ीबोली की कविता की जो सेवा हुई उसका ऐतिहासिक महत्त्व है। काव्य-भाषा की शब्द-शक्ति, उसकी भाव-भंगिमा, उसकी गति तथा प्रवाह, अभिव्यंजना-कौशल एवं परिष्कार में गुप्त जी ने जो साधना की, उसका सर्वाधिक महत्त्व है। हरिऔध जी ने जिस कार्य का प्रारम्भ किया था गुप्त जी ने उसका पूर्ण विकास किया। आगे आने वाले कवि गुप्त जी की इस साधना के ऋणी हैं।

(२) विविध प्रसंगों को लेकर गुप्त जी ने जिस विशाल साहित्य का सृजन किया उससे खड़ीबोली के साहित्य-भाण्डार में पर्याप्त वृद्धि हुई।

(३) उनकी प्रेरणा देनेवाली कृतियों से राष्ट्रीय-मुक्ति-आन्दोलन, सामाजिक उत्थान तथा नव-जागरण को बहुत बल मिला।

गुप्त जी की कृतियों में उनकी कवित्व-शक्ति तथा उनके जीवन सम्बन्धी आदर्शों में क्रमशः विकास हुआ है। उनकी प्रथम कृति 'रंग में भंग' की रचना २३ वर्ष की आयु में हुई जिसमें प्रच्छन्न राष्ट्रीय भावना है। उसके बाद क्रमशः जयद्रथ-वध, विरहिणी-व्रजांगना तथा भारत-भारती (सन् १९१४) की रचना हुई। राष्ट्रीय चेतना का शंखनाद करने वाली 'भारत-भारती' ने गुप्त जी का नाम देश की गली-गली में फैला दिया। हमारे हिन्दी-क्षेत्र में इतनी लोक-प्रियता 'हल्दी घाटी' तथा 'जौहर' को छोड़कर अन्य किसी रचना को नहीं मिली। तभी से गुप्त जी ने लोकमानस में स्थान बना लिया। राष्ट्रीय जागरण में इस रचना का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इससे हिन्दी की भी महिमा बढ़ी।

इसके बाद के ग्यारह वर्षों में तिलोत्तमा, चन्द्रहास, किसान, वैतालिक, शकुन्तला, प्लासी का युद्ध, अनघ, गीतामृत तथा पंचवटी आदि की रचना हुई। कवित्व शक्ति की दृष्टि से 'पंचवटी' को बड़ा महत्त्व दिया जाता है। इसी रचना से गुप्त जी की प्रौढ़ता का प्रारम्भ माना जाता है। तत्पश्चात् वीरांगना, मेघनाद-वध बक-संहार, सैरन्ध्री, हिन्दू, विकट-भट, गुरुकुल तथा झंकार आदि का प्रणयन चार वर्षों में हुआ। झंकार में नवीन छायावादी शैली का प्रयोग हुआ है। बाद के दो वर्षों में उन्होंने स्वप्न वासवदत्ता और रुबाइयात उमर खय्याम की रचना की।

सन् १९३१ में उनके प्रसिद्ध काव्य साकेत की रचना हुई। इसमें 'मानस' के पात्रों के चरित्रों का नया मूल्यांकन किया गया है। राम-साहित्य की उपेक्षिता नारी 'उर्मिला' के चरित्र को प्रकाश में लाना ही इस काव्य का मुख्य उद्देश्य है। कैकेयी को पश्चाताप करने का अवसर देकर गुप्त जी ने कलंक धोने का मौलिक प्रयास किया है। इसके बाद यशोधरा, द्वापर, सिद्धराज तथा नहुष की रचना हुई। तत्पश्चात् अपने अन्तिम वर्ष तक वे गीतों की रचना करते रहे। उपर्युक्त रचनाओं में विरहिणी व्रजांगना, प्लासी का युद्ध मेघनाथ-वध तथा रुबाइयात उमर खय्याम तो अनूदित हैं तथा शेष मौलिक हैं डॉ० सत्येन्द्र ने उनकी कृतियों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है :—

(१) राष्ट्रीय—भारत-भारती, स्वदेश-संगीत।

(२) महाभारत सम्बन्धी—जयद्रथ-वध बक-संहार, सैरन्ध्री, द्वापर

(३) राम-काव्य सम्बन्धी—पंचवटी, साकेत।

(४) बौद्ध काल सम्बन्धी—अनघ, यशोधरा।

(५) इतिहास सम्बन्धी—गुरुकुल।

(६) पुराण सम्बन्धी—शकुन्तला, चन्द्रहास, तिलोत्तमा।

गुप्त जी के सम्पूर्ण साहित्य का मूल आधार उनकी धार्मिक भावना, सांस्कृतिक चेतना तथा अतीत की महिमा पर अवलम्बित है। इनकी जातीय भावना से उत्पन्न राष्ट्रीय चेतना के मूल में वही तत्त्व हैं। वे सांस्कृतिक चेतना से ही राष्ट्रीय जागरण उत्पन्न करना चाहते हैं। कहा जाता है कि छायावाद में द्विवेदी युग के इतिवृत्तात्मक स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह है। हमारा विचार है कि छायावाद में विदेशी आकर्षण की एक आकस्मिक किन्तु नवीन लहर है।

गुप्त जी की राष्ट्रीय-भावना

किसी भी कृति अथवा कवि की राष्ट्रीयता की समीक्षा करते समय तुरन्त ही साम्प्रदायिकता का भूत सामने आकर खड़ा हो जाता है। पिछली सहस्राब्दी में इस राष्ट्र की आर्य-जाति ने अपनी ही करनी से, अपना सर्वनाश किया। उस विनाश का क्रम अब भी चल ही रहा है। पुरोहितों की संकीर्णता, सामन्तों की काम-लोलुपता, मिथ्याभिमान, स्वार्थान्धता तथा सवर्णों की नीचता के ऐसे भयंकर परिणाम हुए कि शत-प्रतिशत अपने ही रक्त एवं दूध के पन्द्रह करोड़ बन्धु तलवार के नीचे पड़कर इस महान संस्कृति से न केवल अलग हो गये बल्कि उनकी संस्कृति का आधार ही भारत से दूर जाकर टिक गया। वे अपने को दूसरे जगत का समझने लगे। दो करोड़ मूल्यवान, किन्तु सवर्णों से तिरस्कृत, बन्धु नवीन प्रकाश में इन्जेक्टेट होकर अलग जा पड़े।

गर्वीले किन्तु जड़-आर्य सब कुछ जानते हैं। इस शताब्दी के नवीन विभाजन तथा ब्रिटिश-नागालैण्ड से उन्हें टकराना भी पड़ता है। इस प्रकार राष्ट्रीयता की स्थिति तथा परिभाषा संकटापन्न है। उस परिभाषा को भारत की पूर्णता (जो हिमालय तथा कन्याकुमारी के बीच है) भी कायम रखनी है तथा भारत-अरब-ब्रिटेन के विषमबाहु त्रिभुज को ठेस भी नहीं लगने देनी है। दूसरी ओर उसे जगन्नाथ, बदरीनाथ, द्वारिका तथा रामेश्वर के मध्य सिन्ध, गंगा तथा ब्रह्मपुत्र का दान भी स्वीकार करना है किन्तु विभाजन के वरदान को नहीं भूलना है।

सम्पूर्ण राष्ट्र को एक सूत्र में बाँधनेवाली विचारधारा ही राष्ट्रीय कहला सकती है। उसमें भेद-रहित एकता की ऐसी भावना हो, जिसमें साम्प्रदायिकता का विष न हो। अभी तो भाग्य से बचे हुए बीस करोड़ आर्यों में ही भेद का विष है। इसी विष ने उस घातक विष को जन्म दिया। आज कलाकार को वह विष नष्ट करना होगा और उसके बाद प्राचीन उपर्युक्त कुष्ट का शमन करना होगा। तत्पश्चात् इस समाज में ऐसा आत्मबल उत्पन्न करना होगा कि वह अपने प्रेम के बन्धन में समेट कर, बिछुड़े हुए कोटि-कोटि बन्धुओं को पुनः एक कर ले। उस समय साठ करोड़ आर्यों की संयुक्त ज्योति का सम्पर्क विश्व में बिखरे हुए अपने प्रकाश स्तम्भों से जुट सकेगा। जब किसी राष्ट्र की जाति संकीर्णता के गर्त से निकलकर त्याग की ज्योति हाथ में लेकर बढ़ती है तो उस प्रकाश के साथ उसकी राष्ट्रीयता स्पष्ट होती है। संसार

के किसी भी समाज ने इस प्रकार विधिवत अपना सर्वनाश स्वयं ही कभी न किया होगा। वह विचित्र राष्ट्रीयता है, जिसमें आक्रमण होने पर हल्ला किया जाता है कि जो बचा हुआ है उसे बचाओ, क्योंकि वही राष्ट्र है। यदि फिर कोई भाग कटा तो चर्चा न करो क्योंकि उसमें साम्प्रदायिकता का दोष है और साम्प्रदायिकता राष्ट्र के लिए घातक है। उससे पद तथा निद्रा में भी खलल पहुँचेगा।

पता नहीं राष्ट्र की सीमा कहाँ है और राष्ट्रीयता के भीतर कौन-कौन लोग आते हैं? जो लोग उसकी सीमा में आते हैं, वे राष्ट्रीय भी हैं अथवा नहीं हैं? (हम यह नहीं चाहते कि आज के परीक्षार्थी घिसी-पिटी वस्तु को चन्द-सूत्रों में रटकर काम चला लें। उनकी पीढ़ी पर वर्तमान तथा विगत सहस्राब्दी के कुकृत्यों के फल का जो बोझ आ गया है, उस पर स्वयं भी विचार करें। वे याद रखें कि भावी भारत की पवित्र तथा व्यापक राष्ट्रीयता ही विश्व की मानवता की रक्षा कर सकती है। उनकी रक्षा भी इसी पर निर्भर है)

गुप्त जी की प्रथम रचना 'रंग में भंग' में ही उनकी धूमिल राष्ट्रीयता के दर्शन होते हैं। गुप्त जी का वह काल विकट दासता का काल था। उस दासता से मुक्ति ही, तत्कालीन राष्ट्रीयता की पुकार हो सकती थी। सम्प्रदायिकता के कृत्रिम भेद को मिटाकर ही, संगठित राष्ट्र, उन बेड़ियों को तोड़ सकता था। केवल भेद मिटाने से ही समस्या हल नहीं हो सकती थी। उसके लिए तो आन्तरिक शक्ति की आवश्यकता थी। स्वार्थान्ध तथा जड़ समाज को जगाना सरल कार्य नहीं था। गुप्त जीने 'भारत-भारती' की चिनगारियाँ बिखेर दीं। सांस्कृतिक तत्त्व तिलमिलाने लगे। संस्कृति किसी जाति का अन्तस्तल है। यदि उस अन्तस्तल को झकझोरने से भी वह नहीं जगती तो उसकी दाह-क्रिया का पवित्र कर्म करके शान्ति की कामना करनी चाहिए। गुप्त जी ने उसी तल को बल पूर्वक स्पर्श किया।

उन्होंने भारत-भारती में महान् अतीत की याद दिलाई जिन तथ्यों की ओर उन्होंने संकेत किया, आज भी देश अंग्रेजी की दासता के कारण, उनसे लाखों कोस दूर है। उन्होंने स्पष्ट ही बताया कि भारतीय संस्कृति के महान तत्त्व विश्व के देश-देश में गहराई के साथ घुसे हुए हैं किन्तु घृणा की बात है कि कोने में सिमटे हुए क्षत-विक्षत शरीरवाले देशवासी, मुट्ठी भर अंग्रेजों के दास हैं :—

(१) संसार को पहले हमी ने ज्ञान भिक्षा दान की,
आचार की, व्यवहार को, व्यापार की, विज्ञान की।
(२) संसार के उपकार हित जब जन्म लेते थे सभी।
निश्चेष्ट होकर किस तरह वे बैठ सकते थे कभी ?
(३) निधि नीति विद्या, राशि विद्या चित्र विद्या में बढ़े।

गुप्त जी संस्कृति को राष्ट्रीयता के आधार के रूप में ग्रहण करते हैं। आर्य जाति के विराट स्वरूप से शक्तिशाली तथा प्रेरक तत्वों को एकत्र करते हैं। बिना शक्ति के मुक्ति नहीं मिलती तथा शक्ति का स्रोत संस्कृति में ही है। वे राम-साहित्य की मर्यादा, कृष्ण-साहित्य के कर्म, बुद्ध-दर्शन की करुणा तथा राजपूत-संस्कृति के तेज से एक शक्ति सम्पन्न राष्ट्रीयता की सृष्टि करना चाहते हैं। वे भारतीय संस्कृति के विश्व व्यापी रूपों के प्रमाणिक चित्र खींच कर देशवासियों को जगाना चाहते हैं।

गुप्त जी के सम्पूर्ण साहित्य में, उनकी इस राष्ट्रीय भावना का शासन है। प्रत्येक आदर्श-पात्र के चरित्र का ऐसा मौलिक चित्रण करते हैं कि देश उससे राष्ट्रीय चेतना ग्रहण कर सके। उनका विश्वास है कि अपने चरित्र का निर्माण करके ही समाज, वास्तविक शक्ति ग्रहण कर सकता है। इसीलिए वे राष्ट्र-विरोधी जातिवाद पर प्रहार करते हैं।

इन्हें समाज नीच कहता है, पर हैं वे भी तो प्राणी।
इनमें भी मन और भाव हैं, किन्तु नहीं वैसी वाणी-

राष्ट्र को दुर्बल बनानेवाले आचरण की घोर निन्दा करते हैं :

(१) तुम बूढ़े भी विषयासक्त, बनी रहें वे किन्तु विरक्त,
(२) आप बनो विषयों के दास, वे अभागिनी रहें उदास ?

गुप्त जी की सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय भावनाएँ, एक दूसरी से अलग नहीं हैं। कवि कोई प्रचारवादी नेता तो नहीं होता, किन्तु सन्तप्त मानवता का वही एक मात्र सहारा है, क्योंकि वही पूर्ण आर्यों में एक संवेदनशील प्राणी है। विश्व के सहस्रों कवियों ने मानवता की रक्षा करने का प्रयत्न किया किन्तु समाज पर एक प्रतिशत भी प्रभाव न पड़ा। अब तो कलाकार को सामूहिक शक्ति से विचार करना है कि क्या कोई ऐसा भी उपाय है कि इस जड़ताजन्य शोषण, प्रपीड़न, भ्रष्टाचार तथा कृत्रिम भयंकर विषमता को सदा के लिए मिटाया जा सके ? अपने ही राष्ट्र को देखें। सारा दर्शन तथा साहित्य एक ओर तथा सड़ा हुआ ढाँचा दूसरी ओर !

गुप्त जी ने इस उपमहाद्वीप के निवासियों की दुर्बलता को समझ लिया था। उन्हें याद था कि सम्पूर्ण निवासी एक ही परिवार के हैं। वे आर्यजाति के कृत्रिम भेद-उपभेद तथा साम्प्रदायिक विषमताओं से मर्माहत थे।

(१) हिन्दू हो या मुसलमान हो नीच रहेगा फिर भी नीच।
मनुष्यत्व सबसे ऊपर है मान्य मही-मंडल के बीच॥

(२) कोई काफिर कोई म्लेच्छ, हो तो होता रहे यथेच्छ,
हिन्दू मुसलमान की प्रीति, मेटे मातृभूमि की भीति।

(६) मातृभूमि का नाता मान, हैं दोनों के स्वार्थ महान।

ऊपर 'मातृभूमि का नाता' किस मार्मिक तथ्य की व्यंजना करता है? इस विशाल उपमहाद्वीप के साठ करोड़ बन्धु मातृभूमि की एक ही कोख से उत्पन्न हैं तथा एक दूध से पले हैं किन्तु हिन्दुओं के भ्रष्ट-जातिभेद तथा विदेशी तलवार ने पूरे परिवार को ऐसा तहस-नहस कर दिया है कि सर्वत्र शत्रुता तथा घृणा का पतित आतंक छाया हुआ है। यह समस्या भावी सहस्राब्दी की अबोध पीढ़ियों के लिए जीवन-मरण का प्रश्न बनी रहेगी। किन्तु ध्यान रखना होगा कि इसका निर्माण इन पीढ़ियों ने किया है और यह वर्तमान पीढ़ी भी अपने भ्रष्टाचार से इसको और भी जटिल बना चुकी है।

गुप्त जी की सभी रचनाओं में राष्ट्रीय-भावना की चेतना एक समान है। सबमें इसी भावना की प्रेरणा है।

(१) क्रूर कौरव अन्यायी हैं, हमारे फिर भी भाई हैं।

(२) हम दूसरा राजा चुनें, जो सब तरह सबकी सुने।
कारण, प्रजा का ही असल में राज्य है।

सम्पूर्ण भारत एक है। सारे निवासियों की मूल संस्कृति एक है। विश्व की तीन चौथाई संस्कृतियों में हमारी संस्कृति के अवशेष स्रोत हैं। इस जाति ने अपनी ही करनी से अपना स्वयं सर्वनाश किया है तथा ऊपर से वह निद्रा में मस्त है। अपनी ही शक्ति से इस समाज की मुक्ति तथा रक्षा सम्भव है। गुप्त जी की कृतियों में सर्वत्र इन्हीं तथ्यों का प्रकाशन है।

समाज ने गुप्त जी को राष्ट्र-कवि कहकर सम्मान दिया। वे इस सम्मान के पात्र थे। यह समाज सदा से ही बड़ी श्रद्धा से साधकों को सम्मान देता आया है किन्तु उन साधकों की साधना से प्रेरणा लेने की उसे कम फुर्सत मिली। वास्तव में वह अपनी शाश्वत-परम्परा में बहुत अधिक व्यस्त है। उतना ही बहुत करता है।

गुप्त-साहित्य की मौलिकता

चरित्र-चित्रण में :—

इसके पहले हरिऔध जी ने 'प्रिय प्रवास' में चरित्र-चित्रण का नवीन आदर्श प्रस्तुत कर दिया था। भक्तिकालीन साहित्य में राधिका और कृष्ण, भक्ति के, तथा रीतिकालीन साहित्य में वासनामय शृङ्गार के आलम्बन रह चुके थे किन्तु हरिऔध के साहित्य में वे समाज-प्रेम तथा देश-भक्ति के आलम्बन से चित्रित किये गये। उनके चरित्रों में सेवा के प्रेरणादायक आदर्श प्रस्तुत किये गये।

इधर समग्र देश में जागरण की लहर फैल रही थी। राष्ट्र को ऐसे बलिदानियों की आवश्यकता थी जो उसे मुक्ति दिला सकते थे। समाज को जगाने में तत्कालीन कलाकारों ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। काव्य का क्षेत्र, समाज का वह हृदय है जहाँ से प्रेरणा उत्पन्न होती है। ऐसी कला की आवश्यकता थी, जो पूरे समाज (हर एक सम्प्रदाय, प्रत्येक जाति तथा सम्पूर्ण स्त्री-पुरुष) के हृदय में साधारणीकरण कर सके। बहुत से मौलिक पात्रों की सृष्टि करके, उनके चरित्रों में प्रेरणादायक आदर्शों की प्रतिष्ठा भी की जाने लगी।

गुप्त जी ने अपने विशाल साहित्य के लिए प्राचीन संस्कृति के प्रेरणादायक तत्त्वों को चुना। इस समाज की काली घटाओं में समय-समय पर चमक पड़ने वाली बिजलियों की संख्या कम न थी। उनकी कहानी पुराणों तथा इतिहासों में भरी पड़ी थी। गुप्त जी ने राष्ट्र की मनोवैज्ञानिक स्थिति में स्पन्दन भरने के लिए, उन शक्तियों को ला खड़ा किया। पौराणिक तथा ऐतिहासिक आदर्श-पात्रों का चरित्र-चित्रण नवीन ढंग से किया। वर्तमान समाज को प्रेरित करने के लिए, उन्होंने उनके त्याग, उनकी तपस्या, उनके साहस, धैर्य, बलिदान, शौर्य, सत्य, न्याय उद्योग तथा संयम आदि का ऐसा नवीन चित्र प्रस्तुत किया कि वह कम से कम एक बार तो एक साथ जग जाय।

'साकेत' की रचना सम्भवतः उपेक्षिता उर्मिला को प्रकाश में लाने के लिए की गई थी। इस काव्य का नाम 'साकेत' तो इस हेतु रखा होगा क्योंकि साकेत के कुछ व्यापक क्षेत्र में उर्मिला के साथ कुछ अन्य पात्रों को भी अपने आदर्श की अभिव्यक्ति के लिए विस्तृत भूमि मिल सकती थी। तुलसी के 'मानस' की मर्यादा कुछ और थी जहाँ उर्मिला के मौन में ही शालीनता थी। उस पद की आदर्श-भारतीय-नारी का वही आदर्श भी है। चौदह वर्षों तक वियोग की

ज्वाला में जलने वाली उस अबला का चरित्र प्रकाश में लाकर गुप्त जी ने भी अपने स्थान पर अच्छा ही किया। इससे त्याग, धैर्य तथा बलिदान के साथ कर्तव्य की महिमा प्रकाशित हुई।

किन्तु गुप्त जी ने यदि एक ओर सन्तप्त हृदय का मर्मस्पर्शी चित्र खींचा है तो दूसरी ओर उस चरित्र को युग के निकट लाने की तीव्र उत्कण्ठा के कारण बहुत कृत्रिम तथा संयमहीन बना दिया है। कहीं-कहीं तो ऐसा लगता है कि उर्मिला आजकल के नवीन-अंग्रेजी-भारत के प्रेमी-प्रेमिकाओं से होड़ ले लेंगी। विदा होते समय लक्ष्मण तथा उर्मिला के चित्रों में गुप्त जी ने अवसर तथा संस्कृति-मर्यादा की उपेक्षा करते हुए अनावश्यक चंचलता उत्पन्न कर दी है। उर्मिला के चौदह वर्षों की दिनचर्या को देखकर पाठक में उतनी श्रद्धा नहीं उत्पन्न होती जितनी उनकी दुर्दशा को देखकर दया आती है। उर्मिला में अतीत की महिमा की प्रतिष्ठा न करके गुप्त जी ने उनको उन्मादिनी और कहीं-कहीं आधुनिक वियोगिनी-ऐक्ट्रेस के निकट पहुँचा दिया है। प्रियप्रवास की वियोगिनियों का संयम उनमें नहीं है।

उर्मिला की वैसी दुर्दशा सम्भवतः भावुकता के कारण हुई है। वह चित्र उपयोगी भी नहीं है। यदि ऐसा ही करना था तो उनमें सेवा तथा व्रत की कठोरता एवं पावनता दिखलाकर उनके दग्ध-हृदय को महिमा-मण्डित किया जा सकता था। इस चित्रण से कोई विशेष उपकार नहीं हुआ है। उसी प्रकार भरत की पत्नी माण्डवी को भी अल्प विचलित करके गुप्त जी ने उक्त नारी की विवशता की झलक देना चाहा है। सच पूछा जाय तो उन सांस्कृतिक पात्रों की दुर्दशा करना ठीक नहीं, जिनके प्रति देश में परम्परागत श्रद्धा बनी हुई है। वे परम्परा से दयनीय नहीं पूजनीय हैं। अतः इस पूजाभाव का अधिक सामाजिक उपयोग है।

वियोग की तन्मयता ही दिखानी हो तो नये समाज में लाखों उदाहरण मारे-मारे फिर रहे हैं, जहाँ आधुनिक बालिकाएँ तथा नारियाँ ही नहीं, नये युवक भी चलती सड़कों पर जौहर की चिता में कूद पड़ते हैं। संयोग का हास-परिहास दिखाना हो तो सिनेमा-गृहों से लेकर प्रत्येक सड़क तथा गली-गली से असंख्य चित्र लिये जा सकते हैं। और कुछ नहीं तो हमारे समाज में प्रेम के आलम्बनों की कमी नहीं है। इसी प्रेम में तो इस प्रिय देश ने सर्वनाश तक को स्वीकार कर लिया।

लक्ष्मण-शक्ति-समाचार सुनकर उर्मिला के हृदय में रोष उत्पन्न हो जाता है। वह युद्ध में सेना के आगे होकर जाना चाहती हैं।

गरज उठी वह—नहीं, नहीं, पापी का सोना,
यहाँ न लाना, भले सिन्धु में वहीं डुबोना।
पावें तुमसे आज शत्रु भी ऐसी शिक्षा,
जिसका अर्थ हो दण्ड और इति दया तितिक्षा।

महात्मा गान्धी ने भी वीर-नारी के आदर्श को महत्त्व दिया था। जो कुछ भी हो, गुप्त जी ने युग-युग की परतंत्र तथा कुण्ठित नारी को अपनी व्यापक सहानुभूति प्रदान की। उसे समाज का महत्त्वपूर्ण अंग माना। सच पूछा जाय तो सम्पूर्ण साहित्य में गुप्त जी का विशेष ध्यान नारी-पात्रों की ओर ही है। उनके नारी आदर्शों तथा उनकी सहानुभूति में प्राचीन तथा नवीन का संघर्ष है। इस संघर्ष में यत्र-तत्र कुण्ठा भी दिखाई देती है। नीचे एक चित्र है जिसमें शत्रुघ्न के शंखनाद करने पर सारी अयोध्या में हलचल मच जाती है।

(१) प्रिया कण्ठ से छूट सुभट-कर शस्त्रों पर थे।
त्रस्त-वधू-जन हस्त स्रस्त से वस्त्रों पर थे॥
(२) पुरुष वेष में साथ चलूँगी मैं भी प्यारे।
राम-जानकी साथ गये, हम क्यों हों न्यारे॥
(३) जाओ बेटा राम-काज, क्षण-भंग शरीरा।
(४) पति से कहने लगीं पत्नियाँ—'जाओ स्वामी।'
(५) हम यह रोती नहीं वारतीं मानस मोती।

ऊपर की प्रथम दो पंक्तियों में वीरगाथाकालीन विकृत चित्र है। आगे की चार पंक्तियों में मनोदशा का आकर्षक परिवर्तन है। अन्तिम पंक्ति में कुण्ठा देखने ही योग्य है।

भारतीय साहित्य में कैकेयी के प्रति घृणा की भावना व्यक्त की गई है। गुप्त जी ने साकेत में उनको पश्चाताप करने का अवसर प्रदान किया है। ऐसी योजना से एक ओर तो नारीवर्ग की कालिमा धोने का प्रयत्न हुआ है दूसरी ओर उसके प्रति सहानुभूति उत्पन्न की गई है। चित्रकूट की सभा में कैकेयी को यह अवसर मिला है।

(१) करके पहाड़ सा पाप मौन रह जाऊँ?
राई भर भी अनुताप न करने पाऊँ?
(२) पर था केवल क्या ज्वलित भाव ही मन में?
क्या शेष बचा था कुछ न और इस तन में?

कुछ मूल्य नहीं वात्सल्य-मात्र, क्या तेरा ?
पर आज अन्य सा हुआ वत्स भी मेरा ?

इस प्रकार यह दुर्घटना माता के वात्सल्य के कारण हुई।

(३) थूके मुझ पर त्रैलोक्य भले ही थूके।

(४) छीने न मातृपद किन्तु भरत का मुझसे।

(५) माता न कुमाता, पुत्र कुपुत्र भले ही।

इस अनुताप का, सभा पर व्यापक प्रभाव दिखाया गया है :—

पागल-सी प्रभु के साथ सभा चिल्लाई।
सौ बार धन्य वह एक लाल की माई॥

पुनः कैकेयी आगे कहती हैं :—

सह सकती हूँ चिर-नरक, सुनें सुविचारी।
पर मुझे स्वर्ग की दया दण्ड से भारी॥

अन्त में वे कहती हैं :—

(१) घर चलो इसी ही के लिए न रूठो अब यों।

(२) देवों की ही चिरकाल नहीं चलती है।
दैत्यों की भी दुर्वृत्ति यहाँ फलती है॥

(३) अब सभी कटे वे पाप नाश के प्रेरे।
मैं वही कैकेयी, वही राम तुम मेरे॥

'यशोधरा' एक उत्कृष्ट काव्य है। यशोधरा महात्मा बुद्ध की पत्नी हैं। रात में चुपके से यशोधरा को छोड़कर बुद्ध जी मुक्ति की खोज में घर से भागे थे। यहाँ पलायन और निष्क्रमण (महाभिनिष्क्रमण) की विकट सामाजिक समस्या है। अनुरक्ति तथा विरक्ति की समस्या से इसमें कुछ भिन्नता भी है। इस समस्या ने वियोगिनी यशोधरा के चित्र को करुण बना दिया है।

(१) सखि वे मुझसे कहकर जाते।

(२) विदा न लेकर स्वागत से भी वंचित यहाँ किया है।

(३) सिद्धि हेतु स्वामी गए यह गौरव की बात।

यशोधरा की वियोग-दशा का चित्र पर्याप्त सन्तुलित है। इसमें गुप्त जी

को सर्वाधिक सफलता मिली है। एक ओर आघातजन्य रुदन तथा दूसरी ओर सन्तान (राहुल) के प्रति कर्तव्य की भावना ने यशोधरा के व्यक्तित्व को मार्मिक बना दिया है।

यहाँ हम पाठकों का ध्यान एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं। उन्हीं वियोग-चित्रों को विशेष महानता तथा मार्मिकता प्राप्त हो सकती है जिनके पीछे व्यापक आदर्श छिपे हुए चल रहे हों। वहीं पर व्यापक साधारणीकरण भी हो सकता है। इसी आधार की कमी के कारण रीतिकालीन चित्र, कुत्सित तथा तुच्छ रह गये। इसी से छायावादी वेदना को प्रायः निर्जन, एकान्त-आकाश में भागना पड़ा। गुप्त जी की यशोधरा की पीड़ा का परिणाम (जो महाभिनिष्क्रमणजन्य था) लोक-कल्याणकारी था। यशोधरा की वेदना में विचित्र आशा छिपी हुई थी। वह प्रियतम से असन्तुष्ट नहीं है। अन्त में आकर बुद्ध जी को कहना भी पड़ा:—

'दीन न हो गोपे सुनो दीन नहीं कभी नारी।'

गुप्त जी ने भारतीय नारी का मार्मिक चित्र खींचा है :—

(१) निज बन्धन को सम्बन्ध सयत्न बनाऊं।
कह मुक्ति भला किस लिए तुझे मैं पाऊँ ?

(२) आर्य पुत्र दे चुके परीक्षा अब है मेरी बारी।—(यशोधरा)

नारी-जाति के प्रति गुप्त जी के हृदय में मार्मिक भावना है :—

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी॥

गुप्त जी अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण में आदर्शवादी हैं। 'जयद्रथ-वध' में अभिमन्यु तथा 'सिद्धराज' में जगदेव आदर्श पात्र हैं। बलिदान ही महानता का आधार है। गुप्त जी की मौलिकता उनके साहित्य में सर्वत्र देखी जा सकती है। उन्होंने प्राचीन का मूल्यांकन युग की कसौटी पर किया है।

आज के कलाकारों के लिए भी मौलिक तत्त्वों की कमी नहीं है। अभी तो इतिहास की पुनरावृत्ति ही हो रही है। इसीलिए मौलिक उद्भावनाओं की विशेष आवश्यकता है। एक ओर सीमा पर लालों का बलिदान हो रहा है, दूसरी ओर अल्पवय वाली ललनाओं के सिन्दूर धुल रहे हैं तथा तीसरी ओर समग्र राष्ट्र भ्रष्टाचार की योजना में तन्मयता का आनन्द ले रहा है। उधर इस पीढ़ी ने भावी पीढ़ी का भी द्वार बन्द कर दिया है। इस भ्रष्ट वातावरण

में पलने वाले छात्रवर्ग ने उन्नति तथा मर्यादा के विरुद्ध जेहाद बोल दिया है। इतना भयंकर दायित्व कलाकारों पर सम्भवतः ही कभी आया हो। अँग्रेजों ने तो रही सही शक्ति को नष्ट कर दिया है। राष्ट्र दम तोड़ रहा है।

कलागत सौन्दर्य में :—

गुप्त जी की कला के मुख्य विषय हैं, समाज, संस्कृति तथा राष्ट्र। इस प्रकार उनकी कला को विस्तृत क्षेत्र मिला है। उन्होंने व्यापक भाव-भूमि पर अपने कलात्मक प्रयोग किये हैं। उस युग में गुप्त जी ने अपनी साधना से नवीन प्रयोग किये। उनसे भविष्य का मार्ग प्रशस्त हुआ। खड़ीबोली के प्रयोगात्मक काल में उनकी साधना का बड़ा ही महत्त्व है। उन्होंने भाषा को शक्ति तथा गतिशीलता प्रदान की। भाषा में प्रवाह की शक्ति उत्पन्न हुई। अपनी सरलता के कारण गुप्त जी को बड़ी लोकप्रियता प्राप्त हुई।

उन्होंने छन्दों के बहुत से प्रयोग किये। खड़ीबोली के लिए वे नवीन ही थे। उन विविध मौलिक प्रयोगों से हिन्दी का बड़ा उपकार हुआ। आगे चलकर प्रसाद, पन्त अथवा निराला जैसे कलाकारों में जो हम प्रौढ़ रूप देखते हैं उसमें गुप्त जी की साधना का कम हाथ नहीं है। अपने विशाल साहित्य उन्होंने अनेक शैलियों का प्रयोग किया। अनेक प्रकार के काव्यों की रचना की। उनकी रचनाओं में प्रकृति तथा मानव के संश्लिष्ट चित्र भी मिलते हैं।

गुप्त जी ने प्रबन्ध तथा मुक्तक, दोनों ही प्रकार की रचनाएँ कीं। जिनमें वर्णनात्मक, चित्रात्मक तथा भावात्मक शैलियों के मौलिक प्रयोग हुए हैं। साहित्य को नवीन कल्पनाओं तथा मौलिक उद्भावनाओं से भर दिया। एक ओर तो वे नवीन सन्देशों तथा आदर्शों से हिन्दी-साहित्य का भाण्डार भरते रहे, दूसरी ओर काव्य-कला के विविध अंगों में बल तथा चेतना का संचार करते रहे। एक ओर राष्ट्र में जागरण का स्वर भरते रहे तथा दूसरी ओर कला को इस योग्य बनाते रहे। सम्पूर्ण कार्य नवीन था तथा मौलिकता की अपेक्षा रखता था।

आगे आने वाले कलाकारों ने उनके साहित्य में इतिवृत्तात्मकता तथा स्थूलता का अनुभव करके एक एक नवीन सूक्ष्मता का विद्रोह किया किन्तु उन कलाकारों के पैरों के नीचे तो धरती थी ही नहीं, वल्कि थी एक क्षणिक बाहरी उत्तेजना मात्र। यदि वह क्रान्ति थी तो ठीक ही थी परन्तु तत्कालीन

साहित्य में स्थूलता देखना, जड़ता का परिचय देना था। जिस साहित्य का मूल उद्देश्य ही सोयी हुई आत्मा को जगाना हो, उसके सिंहनाद में स्थूलता कैसे दिखाई पड़ी ? गुप्त जी ने भाषा तथा अभिव्यंजना-शैली को जो बल प्रदान किया उसके लिए भी हिन्दी-साहित्य ऋणी रहेगा। उस प्रयोग काल को ध्यान में लाने पर ही गुप्त जी की कला के महत्त्व तथा उनकी मौलिकता दोनों को समझा जा सकता है। आगे पुनः हम विचार करेंगे।

हिन्दी के प्रतिनिधि कवि : गुप्त

जिस प्रकार गुप्त जी प्रतिष्ठित राष्ट्र-कवि थे उसी प्रकार हिन्दी के प्रतिनिधि कवि भी थे। वही व्यक्तित्व प्रतिनिधि कहा जा सकता है जिसमें युग की सभी भावनाओं, विचारों तथा अन्य रूपों का विराट सामंजस्य हो। सन्त-साहित्य के प्रतिनिधि कबीर, सूफी-साहित्य के जायसी, भक्ति-साहित्य के तुलसी तथा रीति-कालीन साहित्य के प्रतिनिधि कवि देव थे उसी प्रकार आधुनिक साहित्य के प्रतिनिधि कवि गुप्त जी थे। उनके व्यक्तित्व में हम ऐसा ही व्यापक रूप देखते हैं।

गुप्त जी का साहित्य युग की सारी आशा—आकांक्षाओं का एक ही साथ प्रतिनिधित्व करता है। इसी प्रकार प्रेमचन्द ने उपन्यास जगत् में महान् प्रतिनिधित्व किया है। व्यापक समन्वयवादी ही ऐसा महान कार्य कर सकता है। गुप्त जी ने अपने साहित्य में हर प्रकार से प्रतिनिधित्व किया है। उन्हें लम्बी आयु मिली थी। इस आयु में उन्हें हरिऔध जी से लेकर आज तक के साहित्य का दर्शन मिला। इस लम्बी अवधि के भीतर साहित्य में कितने ही प्रयोग हुए तथा राष्ट्रीय परिवर्तन हुए। सभी प्रयोगों तथा परिवर्तनों में उन्होंने भाग लिया। सबको अपनाया तथा अपना कुछ दिया।

गुप्त जी का हृदय उदार तथा प्रतिभा व्यापक थी। उसीके अनुसार उन्होंने साधना भी की। केवल युगों का अनुसरण ही नहीं करते रहे बल्कि उनमें महत्त्वपूर्ण योग दिया। वह साहित्य के एक ऐसे सेनानी हैं जिन्होंने स्वतंत्रता-संग्राम के प्रारम्भिक दिनों में अपनी 'भारत-भारती' का शंखनाद किया तथा सन् १९४७ में उसका महान् परिणाम भी देख लिया। उनका सम्पूर्ण साहित्य युग की राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत है। उन्होंने समाज, संस्कृति, राजनीति, युग तथा राष्ट्र को एक ही साहित्य की पृष्ठभूमि पर एक ही ढाँचे में प्रतिष्ठित किया। उनका विशाल साहित्य ही भारतीय राष्ट्र बन गया

है। उसमें सम्पूर्ण राष्ट्र की पुकार तथा चेतना की ध्वनि और प्राचीन-नवीन रूपों का समन्वित ढाँचा है। इस प्रकार गुप्त जी के साहित्य का स्वर युग का प्रतिनिधित्व करता है।

गुप्त जी का प्रतिनिधि रूप संस्कृति के दृढ़ आधार पर खड़ा है। इसीलिए वे भारतीय समाज का प्रतिनिधित्व सफलता से कर सके हैं। उनके सामाजिक दर्शन के पीछे कृष्ण का कर्मवाद तथा बुद्ध की करुणा तो है हाँ उसमें राजपूती शक्ति तथा गाँधी के अहिंसावाद का विचित्र समन्वय है। गुप्त जी ने समाज के प्रत्येक वर्ग स्त्री-पुरुष, छोटे-बड़े तथा मजदूर-किसान से लेकर राजा-प्रजा तक के सम्बन्धों का समन्वय किया है। लोकतंत्रीय समाज के हर दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है। उनका साहित्य व्यापक लोकभावनाओं का प्रतिनिधित्व करता है। समाज की सारी आशा-आकांक्षाएँ तो उनके साहित्य में हैं हीं उनका व्यापक समाधान भी प्रस्तुत किया गया है।

गुप्तजी ने अपने कथाकाव्यों में पात्रों का युगानुसार ऐसा मौलिक चरित्र-चित्रित किया है कि उनका समन्वित व्यक्तित्व पूरे राष्ट्र के चरित्र का प्रतिनिधित्व करता है। उनमें अच्छे तथा बुरे सभी प्रकार के पात्र हैं। प्राचीन होकर भी नवीन हैं। वे भारतीय संस्कृति को नये सिरे से जगाना चाहते हैं। सच पूछा जाय तो गुप्तजी भारत को सम्पूर्ण विश्व में मानवता का एक प्रतिनिधि राष्ट्र बनाना चाहते हैं।

गुप्तजी की व्यापक प्रतिभा ने काव्य-धाराओं के सभी प्रयोग किये। सभी प्रयोगों पर उनके व्यक्तित्व की अमिट छाप है। उन्होंने अनेक खण्डकाव्य, साकेत सा प्रबन्ध-काव्य तथा झंकार जैसा गीतिकाव्य (मुक्तक) लिखा है। संस्कृत-छन्दों से लेकर हिन्दी के अनेक प्रचलित छन्दों तथा गेय-पदों का प्रयोग किया। उनके प्रत्येक छन्द की संगीतात्मकता ने लोकप्रियता प्राप्त की है। आगे हम शुक्लजी के कुछ विचार उद्धृत कर रहे हैं।

"गुप्तजी की प्रतिभा की सबसे बड़ी विशेषता है कालानुसरण की क्षमता अर्थात् उत्तरोत्तर बदलती हुई भावनाओं और काव्य-प्रणालियों को ग्रहण करते चलने की शक्ति। इस दृष्टि से हिन्दी-भाषी जनता के प्रतिनिधि कवि ये निस्सन्देह कहे जा सकते हैं। भारतेन्दु के समय से स्वदेश-प्रेम की भावना जिस रूप में चली आ रही थी उसका विकास भारत-भारती में मिलता है। इधर के राजनीतिक आन्दोलनों ने जो रूप धारण किया उसका पूरा आभास पिछली रचनाओं में मिलता है।"

"गुप्त जी की रचनाओं में तीन अवस्थाएँ लक्षित होती हैं। प्रथम अवस्था भाषा की सफाई की है। इसमें सरस और कोमल पदावली की कमी भी खटकती थी। बात यह है कि यह खड़ीबोली के परिमार्जन का काल था। इसके अनन्तर गुप्त जी ने बंग भाषा की कविताओं का अनुवाद भी किया। इससे इनकी पदावली में बहुत कुछ सरसता और कोमलता आई। भारत-भारती और वैतालिक के बीच की रचनाएँ इस दूसरी अवस्था के उदाहरण में ली जा सकती हैं। इसके उपरान्त 'छायावाद' कही जाने वाली कविताओं का चलन होता है। गुप्त जी का कुछ झुकाव प्रगीत मुक्तकों और अभिव्यंजना के लाक्षणिक वैचित्र्य की ओर भी हो जाता है। इस झुकाव का आभास साकेत और यशोधरा में भी पाया जाता है। यह तीसरी अवस्था है।"

"अतः हिन्दी-कविता की नयी धारा का प्रवर्तक इन्हीं को—विशेषतः मैथिलीशरण गुप्त और मुकुटधर पाण्डेय को—समझना चाहिए। इस प्रकार छायावाद का रूप-रंग खड़ा करने वाले कवियों के सम्बन्ध में अँगरेजी या बँगला की समीक्षाओं से उठाई हुई इस प्रकार की पदावली का कोई अर्थ नहीं कि 'इन कवियों के मन में आँधी उठ रही थी जिसमें आन्दोलित हुए वे उड़े जा रहे थे, एक नूतन वेदना की छटपटाहट थी जिसमें सुख की मीठी अनुभूति भी छिपी हुई थी।' न कोई आँधी थी न तूफान, न कोई नयी कसक थी न वेदना।"

जो कुछ भी हो इतना तो निश्चित है कि गुप्त जी ने अभिव्यंजना की छायावादी शैली को भी अपनाया। 'झंकार' में ऐसी ही रचनाओं का संग्रह है।

(१) तेरे घर द्वार बहुत हैं किससे होकर आऊँ मैं ?
सब द्वारों पर भीड़ बड़ी है कैसे भीतर जाऊँ मैं ?

(२) निकल रही है उर से आह, ताक रहे सब तेरी राह।
प्यारे तेरे कहने से जो यहाँ अचानक मैं आया।

उर्मिला कहती है :—

(१) रह चिर दिन तू हरी भरी,
बढ़ सुख से बढ़ सृष्टि सुन्दरी।

(२) प्रभु नहीं फिरे क्या तुम्हीं फिरे ?
हम गिरे, अहो ! तो गिरे, गिरे।—(उन्माद की अवस्था में)

भारत-भारती की मुसद्दस शैली :—

क्षत्रिय सुनो अब तो कुयश की कालिमा को मेट दो।
निज देश को जीवन सहित तन, मन तथा धन भेंट दो।।

गीति-शैली :—

(१) वेदने तू भी भली बनी।
अरी वियोग-समाधि अनोखी तू क्या ठीक ठनी।

(२) स्वजनि रोता है मेरा गान।
प्रिय तक नहीं पहुँच पाती है उसकी कोई तान।

इस प्रकार गुप्त जी सभी दृष्टियों से अपने युग के प्रतिनिधि कवि हैं। उनके विशाल साहित्य में युग की सभी प्रवृत्तियों, काव्य-धाराओं तथा शैलियों के एक साथ दर्शन होते हैं।

गुप्त जी की काव्य-कला

रस-योजना :—

गुप्त जी ने अपने विशाल-साहित्य में व्यष्टि तथा समष्टि के व्यापक जीवन का चित्र खींचा है। जीवन के सुख-दुख तथा उत्थान-पतन के विविध रूप तथा अवसर उनके साहित्य में आते जाते रहते हैं। जीवन की नाना अनुभूतियों के कारण गुप्त जी के व्यापक साहित्य में नाना-रसों की सृष्टि हुई है। उनके हृदय की सच्ची प्रेरणा के कारण रसों में वास्तविक अनुभूति, कथात्मकता के कारण उनमें जीवन की धारा तथा भाषा की स्वाभाविकता के कारण प्रवाह पाया जाता है। उस धारा में सुख-दुख तथा जीवन के उत्थान-पतन की तरंगें हैं।

भारत-भारती उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में से एक है। उसमें भाषा तथा शैली के प्रारम्भिक प्रयोग हैं किन्तु गुप्त जी के हृदय की तीव्र अनुभूतियों ने उसमें रसों के स्रोत बहा दिये हैं। कवि की ओज भरी वाणी में हृदय की प्रचण्ड ज्वाला फूट रही है। कहीं वीररस का उमड़ता वेग है तो कहीं भारत की दयनीय दशा करुणा का संचार करने वाली है। भारत के जन-मानस पर भारत-भारती का बड़ा प्रभाव पड़ा। इस ग्रन्थ ने तीन दिशाओं में लाभ पहुँचाया। अपनी लोकप्रियता के कारण इसने हिन्दी के प्रचार तथा गौरव में वृद्धि की, अँग्रेजों के क्रूर दमन-चक्र से राष्ट्र में जो निराशा छाई हुई थी उसे

दूर करने तथा आशा का संचार करने में इसने सहायता पहुँचाई तथा अँग्रेजी सभ्यता की ओर बहनेवाले समाज को इसने बचाया। सारांश यह कि गुप्त जी की इस प्रारम्भिक रचना ने अपनी सच्ची अनुभूतियों के वेग के कारण ही ऐसा जादू का काम किया।

गुप्त जी की सम्पूर्ण रचनाओं में राष्ट्र-भक्ति का रस प्रवाहित हो रहा है। इस रस के लिए उन्होंने अतीत को ही आलम्बन बनाया है। स्वतंत्रता-संग्राम काल में हमने गुप्त जी के इस रस का देश-व्यापी साधारणीकरण देखा है। राष्ट्र-प्रेम का भाव गुप्त जी के हृदय का मूल भाव है। बहुत गहराई में जाकर हमको ऐसा प्रतीत होता है कि उनके काव्यों के अन्य भाव उस मूल भाव के संचारी भावों के समान हैं। अभिमन्यु, जगदेव, लक्ष्मण, यशोधरा तथा उर्मिला जैसे पात्रों के बलिदानों तथा त्यागों से गुप्त जी भारतीयों के हृदय में देश-प्रेम के मूल भाव को ही उद्दीप्त करना चाहते हैं। गुप्त जी जनता के हृदय के स्थायी भावों का सदुपयोग करके उसके ठोस चरित्र का निर्माण करना चाहते हैं क्योंकि इसीसे शक्तिशाली राष्ट्र का निर्माण हो सकता है।

वैसे भी उनके काव्यों में वीर, करुण तथा शृङ्गार की त्रिवेणी देखने योग्य है। जयद्रथ-वध तथा सिद्धराज इसके मुख्य उदाहरण हैं। अकेला बालक अभिमन्यु सप्त महारथियों के बीच जिस साहस से युद्ध कर रहा है, देशप्रेमियों के लिए कितना प्रेरणादायक है!

(१) कुछ देर में जब रिपु-शरों से अश्व उसके गिर पड़े।
तब कूद कर रथ से चला वह थे जहाँ वे सब खड़े॥
(२) फिर नृत्य सा करता हुआ, धन्वा लिये निज हाथ में।
लड़ने लगा निर्भय वहाँ वह क्रूरता के साथ में॥
(३) यों विकट विक्रम देख उसका धैर्य रिपु खोने लगे।
उसके भयंकर वेग से अस्थिर सभी होने लगे॥

उपर्युक्त पंक्तियों में अभिमन्यु का उत्साह स्थायीभाव है। उसके अनुभावों का कितना सजीव-चित्र गुप्त जी ने खींचा है! आगे करुणरस का असह्य वेग है।

हे तात! हे मातुल! जहाँ हो है प्रणाम तुम्हें वहीं।
अभिमन्यु का इस भाँति मरना भूल मत जाना कहीं॥

यहाँ 'इस भाँति मरना' में कितना तीव्र अनुभूति है! अभिमन्यु अर्जुन

तथा कृष्ण को याद दिलाना चाहता है कि उसकी मृत्यु कायरता के कारण नहीं बल्कि शत्रुओं के धाले तथा अन्याय से हुई है। नीचे अभागिनी उत्तरा का चित्र है।

(१) क्षत्राणियों के अर्थ भी सबसे बड़ा गौरव यही।
सज्जित करें पति पुत्र को रण के लिए जो आप ही॥

(२) मैं हूँ वही जिसको किया था विधि विहित अर्द्धांगिनी।
भूलो न मुझको नाथ हूँ मैं अनुचरी चिरसंगिनी॥

उत्तरा की यह वेदना शाश्वत है क्या! आज भी सीमा पर मर मिटने वाले अभिमन्यु-वीरों की स्मृति में तड़पनेवाली सहस्रों उत्तराओं का करुण-क्रन्दन, अपने देश में सुन सकते हैं। जिस दुर्योधन ने भारत का सर्वनाश किया, उसकी परम्परा का विनाश, इस सृष्टि में, सदा के लिए कब हो जाएगा! यदि भारत भविष्य में कभी इस तथ्य को एक क्षण के लिए भी भूल जाएगा तो उस करुण-क्रन्दन को सुनने के लिए यहाँ कोई बचा भी नहीं रहेगा, जबकि भूलना तथा स्वयं विपत्तियों का निर्माण करना ही, इसकी चिरन्तन विशेषता है। आगे 'सिद्धराज' के जगदेव का एक ओजस्वी चित्र है। वह बन्दी है।

(१) काट डालो मेरा सिर कोई अनायास ही,
किन्तु झुकने से रहा मस्तक विपक्षी को,
कंठ कट जाए मेरा, किन्तु किसी काल में,
कुंठित न होगा यह कहने से अपनो।

(२) मेरी यह जन्मभूमि जननी जगत में,
मेरे प्राण रहते रहेगी महारानी ही।
किंकरी न होगी किसी और नरपाल की,
पंचतत्त्व मेरी पुण्यभूमि के हैं मुझमें॥

उपर्युक्त अन्तिम चार पंक्तियों में गुप्त जी की भावना अनुभव करने योग्य है। गुप्त जी के काव्यों में नारी-वर्ग को विशेष महत्त्व दिया गया है। उर्मिला तथा यशोधरा की वियोग-दशाओं का चित्र खींचने के लिए तो उन्होंने एक-एक काव्य ही खड़ा कर दिया है। दोनों ही वियोगिनियों के हृदय का बड़ा ही मार्मिक चित्र गुप्त जी ने खींचा है। वियोगिनी यशोधरा अपने पुत्र को सुला रही है :—

सो मेरे चञ्चलपन सो
सो मेरे अचल धन सो—

पुष्कर सोता है निज सर में
भ्रमर सो रहा पुष्कर में।

कभी वह फूट पड़ती है :—

(१) रुदन का हँसना ही तो गान
गा गा कर रोती है मेरी हृद्तंत्री की तान।

(२) मेरा ताप और तप उनका
जलती है हा! जठर मही।

किन्तु उर्मिला की अपेक्षा यशोधरा के वियोग का क्षेत्र व्यापक तथा आदर्श महान है। उर्मिला के उच्छ्वासों में अधिकतर कृत्रिमता अथवा मर्यादाहीनता है किन्तु यशोधरा में ऐसी बात नहीं है। वह कहती है :—

(१) भव भावे और उसे मैं भाऊँ।
(२) डूबेंगे नहीं कदापि तरें न तरें हम।
संसार हेतु शतधार सहर्ष मरें हम॥
(३) स्वामी के सद्भाव फैल कर फूल फूल में फूटे।

अलङ्कार-योजना :—

इस सम्बन्ध में डॉ० सत्येन्द्र कहते हैं—"कहीं तो वे अलङ्कारों का प्रयोग भाव को सजाने के लिए करते हैं और कहीं उनके अलङ्कार स्वाभाविक सहचर की भाँति एक भाव के साथ आकर उनकी अभिव्यक्ति को प्राञ्जल कर देने में सहायक होते हैं। हो सकता है कि इस प्रकार की मिश्रित प्रवृत्ति कवि ने सभी ओर अपनी शक्ति आजमाने के लिए ग्रहण की हो अथवा इस प्रकार वह केवल अपने ही समाज का नहीं हिन्दी साहित्य भर का प्रतिनिधि बनने की आकांक्षा रखता हो।"

गुप्त जी के साहित्य का क्षेत्र बहुत व्यापक है। उन्होंने बहुत से काव्य लिखे। उनकी रचनाओं में अधिकांश स्थल ऐसे हैं जहाँ न तो कला का कोई चमत्कार है न किसी अनुभूति की तीव्रता बल्कि शुष्क शब्द-योजना मात्र है। बहुत से स्थल ऐसे भी हैं जहाँ अलङ्कारों की छटा तो नहीं है किन्तु उनमें हृदय को स्पर्श करने की शक्ति है। कुछ स्थलों पर उनकी अलङ्कार-योजना बड़ी ही स्वाभाविक है :—

उपमा तथा उत्प्रेक्षा :—कनक लतिका भी कमल सी कोमल।
धन्य है उस कल्प-शिल्पी की कला॥

पद्मरागों से अधर मानो बने।
मोतियों से दाँत निर्मित हैं घने॥

भ्रान्तिमान :—नाक का मोती अधर की कान्ति से।
बीज दाड़िम का समझ कर भ्रान्ति से॥
देख कर सहसा हुआ शुक मौन है।
सोचता है, अन्य शुक यह कौन है॥

अनुप्रास :—ढलमल ढलमल चंचल अंचल झलमल झलमल तारा।
निर्मल जल अन्तस्तल भर के
उछल उछल कर छल छल करके

कहीं-कहीं पर गुप्त जीने अलङ्कारों का अस्वाभाविक प्रयोग भी किया है जिससे रस-निष्पत्ति में बाधा भी पड़ी है। पंचवटी का एक चित्र है :—

नाटक के इस नये दृश्य के, दर्शक थे द्विज लोग वहाँ।
करते थे शाखा सनस्थ वे समधुप रस का भोग वहाँ॥
झट अभिनयारम्भ करने को कोलाहल भी करते थे।
पंचवटी की रंग भूमि को प्रिय भावों से भरते थे॥

छन्द-योजना :—

गुप्त जी ने 'रंग में भंग' में गीतिका, जयद्रथ-वध तथा भारत-भारती में हरिगीतिका छन्दों का प्रयोग किया है। इन तीनों काव्यों के बाद उन्होंने उनके छन्दों का प्रयोग आगे की रचनाओं में नहीं किया। तुकान्त तथा अतुकान्त अनेक छन्दों के प्रयोग उनके काव्यों में मिलते हैं। तुलसी द्वारा प्रयुक्त १५ अक्षरों वाले एक छन्द का प्रयोग उन्होंने दो प्रकार से किया। 'प्लासी का युद्ध' में उसका तुकान्त पूर्ण प्रयोग किया :—

आधी रात हो रही है मौन महीतल है।
सघन घनों से घिरा घोर नभस्थल है॥

तथा 'सिद्धराज' में उसी का अतुकान्त रूप है :—

लाल होठ हँसना ही सदा चाहते
किन्तु बीच बीच में कठोरता झलकती।

'नहुष' में इसी छन्द का रूप तुकान्त तथा 'यशोधरा में अतुकान्त है। 'साकेत' में उन्होंने विविध छन्दों का प्रयोग किया है। उसके एक सर्ग में तो केवल संस्कृत वर्णवृत्तों का प्रयोग किया है किन्तु सभी तुकान्त हैं। उस काव्य

में उन्होंने छायावादी गीतिशैली का भी प्रयोग किया है किन्तु उन गीतों में प्रायः तुकान्तों का ध्यान रखा गया है।

महाकाव्य के लक्षणों के अनुसार, एक सर्ग में एक ही छन्द रखने और अन्त में छन्द बदल देने का नियम बताया गया है। साकेत में दो सर्गों को छोड़कर, गुप्त जी ने सर्वत्र ही इस नियम का पालन किया है। उन्होंने पीयूष-वर्षण छन्द से इस काव्य का प्रारम्भ किया है। यह शृङ्गार रस का मुख्य छन्द है। इसमें आर्या, शार्दूल, विक्रीड़ित, शिखरिणी, मालिनी, द्रुत-विलम्बित आदि संस्कृत-छन्दों के अतिरिक्त घनाक्षरी, सवैया तथा रोला जैसे अनेक मात्रिक तथा वर्णिक छन्दों के प्रयोग किये गये हैं। विरह प्रसंगों में उन्होंने गीतों का प्रयोग किया है।

गुप्त जी की छन्द-योजना में न तो कोई विशेष नवीनता है और न विशेष आकर्षण ही है। यह तो उनकी भाषा की सरलता तथा उनके छन्दों की गेयता है, जिसने उनको लोकप्रिय बना दिया। 'यशोधरा' में उन्होंने नवीनतम प्रयोग करने की चेष्टा की है।

भाषा तथा शैली :—

अपनी कल्पनाओं तथा अनुभूतियों की शक्ति से कलाकार अपने काव्य में मानव जाति के लिए जिस स्वर्ग का निर्माण करता है वह वसुधा के सम्पूर्ण जीवों के लिए सुखद और मंगलकारी होता है ! कल्पना उस स्वर्ग को आदर्श की ओर प्रेरित करती है। उस पथ पर अग्रसर मानवता को उन अनुभूतियों से प्रेरणा तथा शक्ति मिलती है। इस प्रकार जो कार्य विधाता से नहीं हो सका है उसे कलाकार करना चाहता है क्योंकि संतप्त जीवों की दुखद स्थिति उसे चैन से नहीं रहने देती। इस पुनीत साधना में विश्व के कलाकार युगों से लगे हुए हैं किन्तु उसकी पूर्ति आज तक न हो सकी।

कारण यह है कि मानव स्वभाव से ही नारकीय प्राणी है। सृष्टि के प्रारम्भ से ही उसमें बुद्धि के विकाश के साथ नारकीय गुणों की वृद्धि होती गई है। प्रत्येक युग में मानव जातिने सारी शक्ति लगाकर विश्व को नरक बनाने का प्रयत्न किया है। उसमें हिंसा तथा शोषण की प्रवृत्तियाँ बढ़ती ही गई हैं। आज तो वे वीभत्स-गुण, उसकी सभ्यता का आधार बन गये हैं। मानव-समाज उस नारकीय घनघोर बादल के समान है, जिसमें सन्त कलाकार कहीं-कहीं और कभी-कभी बिजलियों की तरह चमक जाते हैं। पता नहीं

कब और कैसे यह धरती, वह स्वर्ग बन सकेगी, जहाँ सभी पीड़ित तथा अहिंसक-जीव सुख तथा शान्ति से रह सकेंगे ?

उन कल्पनाओं तथा अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए तदनुरूप भाषा की आवश्यकता होती है। संसार में भारतीय भाषा ही ऐसी है, जिसके पीछे करोड़ों वर्षों की महान साधना छिपी है। ऐसे कठोर साधक, विश्व के अन्य किसी देश में नहीं हुए। उनका इतिहास ही कितना लम्बा है ? विगत सहस्राब्दी में इस भारत ने अपने को जिस संकट में डाल लिया, उसकी कहानी अत्यन्त भयानक है। उस अवधि में कितनी साधना का विनाश हुआ, उसके परिमाण को समझने की शक्ति इस विश्व में नहीं है। शेष सम्पूर्ण पृथ्वी की सारी मानवता तथा साधना भी एटम बम से विनष्ट हो कर, उस विनाश की समता नहीं कर सकती। यह है भारतीयों की करनी। वही विनाश की क्रिया आज भ्रष्टाचार के रूप में राष्ट्र के रोम-रोम में व्याप्त हो गई है। उसका वेग और भी बढ़ गया है। जितना पतन विगत एक सहस्र वर्षों में हुआ उसका सौगुना इन बीस वर्षों में हुआ है। जो विनाश अत्याचारी मुसल्मान-शासक तथा कपटी-अंग्रेज भी न कर सके, उसकी पूर्ति आज स्वयं भारतीय कर रहे हैं।

उदाहरण के लिए भाषा की समस्या को ले लें। कबीर, सूर तथा तुलसी आदि किस काल में हुए ? कबीर, रसखान, जायसी तथा रहीम किस जाति के थे ? धर्म प्रचार ही के लिए सही, कितने अंग्रेजों ने हिन्दी के प्रसार में योग दिया ? और आज के स्वतंत्र भारत को देखिये। आज सारा भारत जानता है कि अंग्रेजी एक ऐसी निकम्मी और शत्रु भाषा है जिसने भारत को हर प्रकार से पंगु बना दिया है। जिन पचासों देशों के साथ हमारा लाखों वर्षों का सांस्कृतिक सम्बन्ध है, इस निकम्मी भाषा ने उनसे हमारा सम्बन्ध ही काट दिया है। इधर देश के भीतर इसने राष्ट्रभाषा का द्वार बन्द कर दिया है। उधर राष्ट्रीय संस्कृति को निगलती हुई नागालैण्ड का जबड़ा फैला रही है। रोटी के टुकड़ों तथा वोट के भूखे चन्द शक्तिशाली भारतीयों ने सम्पूर्ण राष्ट्र को दबा रखा है। विशेषता यह है कि सारी जनता ने मिलकर उन विनाशक तत्वों को शक्तिशाली बनाया है।

विगत शताब्दियों में ब्रज, अवधी तथा मैथिली आदि भाषाओं को राजकीय प्रोत्साहन तो नहीं मिला किन्तु वे भाषाएँ भारतीय संकृति की रक्षा करती रहीं। दिल्ली शासन का केन्द्र था। उसके आस पास की भाषा, खड़ी बोली का सम्बन्ध, उस केन्द्र से था। भारतेन्दु-मंडल ने उसकी प्रकृति को

पहचाना और गद्य-साहित्य में उसे ही माध्यम बनाया। उस भाषा के क्रिया रूपों में राजकीय केन्द्र की भारतीय गति थी। इस गतिशीलता के कारण वह भाषा युग के साथ तेजी से दौड़ सकती थी। आज तो दौड़ का सम्बन्ध अर्थ तथा विज्ञान से अधिक है तथा संस्कृति से कम है। अंग्रेजी ही को देखिए, जिसके पीछे न तो कोई विशेष साधना छिपी है और न कोई अधिक प्राचीन संस्कृति, किन्तु विज्ञान तथा अंग्रेजी उपनिवेशों के दानवी विस्तार के साथ, यह बाजारू भाषा, पृथ्वी पर इस प्रकार छा गई कि कई सहस्र मील दूर के उन भारतीयों की माता बन बैठी है, जिनसे सारा भूमंडल लाखों वर्षों तक प्रेरणा लेता रहा। वैज्ञानिक अनुसन्धानों के साथ वह नामावली गढ़ती गई है।

आगे चलकर हरिऔध जी ने हिन्दी की इस खड़ी भाषा को काव्य के अनुकूल ढालने में जो तरह-तरह की साधाना की, हिन्दी साहित्य उनका ऋणी रहेगा। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि हरिऔध तथा गुप्त जैसे कलाकारों को बड़ी विकट साधना करनी पड़ी। उनकी साधना में खड़ीबोली को अपने ढाँचे की पूर्ति, संस्कृत के शब्द भंडार से करनी पड़ रही थी। अवधी, ब्रज तथा मैथिली आदि की अर्जित अभिव्यंजना प्रणालियाँ पीछे छूटती जा रही थीं। उन भाषाओं की प्रकृति तथा सामग्री का जितना सम्बन्ध जन मानस से था खड़ीबोली का आज तक नहीं हो पाया। वैसे तो भाषा और बोली का अन्तर सदा ही रहता है किन्तु दुर्भाग्य से हमारे हिन्दी क्षेत्र में सर्वाधिक है। इस कमी की कुछ पूर्ति जनशिक्षा द्वारा हो सकती है किन्तु वर्तमान शताब्दी से ऐसी आशा नहीं की जा सकती।

यही कारण है कि खड़ीबोली का सम्बन्ध जन-मानस से नहीं हो पाता है। इस भाषा में जनता के मुहावरों, कहावतों तथा लोकोक्तियों का रस अब तक नहीं घुल मिल पाया है। इसीलिए इसमें लोकप्राण की अभिव्यक्ति की शक्ति अभी नहीं आ सकी है। हरिऔध जी ने इस दिशा में अथक परिश्रम किया। युग की पुकार को तीव्र करने तथा राष्ट्रोद्धार की भावना को लेकर गुप्त जी भी मैदान में उतरे। भाषा के रूप को गढ़ने तथा उसमें गति लाने के लिए उन्होंने बड़ी साधना की। गुप्त जी की भाषा में यद्यपि तरलता तथा ध्वन्यात्मकता का अभाव है किन्तु उसको सर्वाधिक लोकप्रियता मिली। इस लोकप्रियता से हिन्दी के प्रचार तथा युग-जागरण के प्रसार में बड़ी सहायता मिली। अब हम गुप्त जी के निम्नांकित कथनों के साथ मूल विषय पर आते हैं।

"जो शब्द भिन्न भाषाओं के होने पर भी हमारी भाषा में मिल गये हैं वे हमारे ही हो गये हैं। परन्तु यह अवश्य कहा जायगा कि उनके सामने,

उसी अर्थ के, अपने शब्दों को अशिष्ट समझना हमारे मन की नहीं तो कानों की गुलामी जरूर है। आजकल राजनीति की सभाओं में बहुधा एक बात देखी जाती है। वह हिन्दी शब्दों का चुन-चुन कर बहिष्कार और उनके बदले उर्दू फारसी के अल्फाज का प्रचार। हिन्दी के हित चिन्तकों को सावधान हो जाना चाहिए। अपनी भाषा को छोड़कर हम अपने भावों की रक्षा नहीं कर सकते।"

"बोलचाल की भाषा से कविता का शब्द-भण्डार भरने में अपनी प्रान्तिक भाषाओं से भी सहायता लेकर हमें उनसे सम्बन्ध-सूत्र बनाये रखना उचित जान पड़ता है। ब्रज, बुन्देलखण्डी और अवधी की तो बात ही जाने दीजिए, उन्हें तो हम लोग अपने घरों और गावों में नित्य बोलते ही हैं, लेखक की राय में तो अन्य प्रान्तिक भाषाओं में से भी हमे शब्द 'जोगाड़' करते हुए 'सिहरने' के बदले 'विभोर' ही होना चाहिए।"

"हमारी प्रान्तिक बोलियों में कभी कभी ऐसे अर्थ-पूर्ण शब्द मिल जाते हैं, जिनके पर्य्याय हिन्दी में नहीं मिलते। जब हम अरबी, फारसी और अंग्रेजी के शब्द निस्संकोच भाव से स्वीकार करते हैं तब आवश्यक होने पर अपनी प्रान्तिक भाषाओं से उपयुक्त शब्द ग्रहण करने में हमें क्यों संकोच होना चाहिए?"

उपर्युक्त शब्दावली से साधक की राष्ट्रीय भावना तथा उसकी साधना की कठिनाइयों का पता चल जाता है। गुप्त जी की भाषा शुद्ध तथा अरबी-फारसी के प्रयोगों से प्रायः मुक्त है। एकाध स्थलों पर जहाँ कुछ प्रयोग है, साभिप्राय है। यथा 'किसान' में एक स्थान परः—

"जमींदार ने कहा कि" सुन लो, कहते हैं हम साफ।
अबकी बार फसल फिर बिगड़े या लगान हो माफ॥
हुक्म हुआ फिर मगर कबूलत होगी फिर बेकार।
इब्दुलतलब नाम का रुक्का लिखा गया लाचार॥

उपर्युक्त चित्र में शब्दों का कैसा साभिप्राय प्रयोग है? किसान पर ढाये जाने वाले जुल्म की तस्वीर तो है ही, देश की दासता का भी करुण चित्र है जिसमें संस्कृति का सर्वस्व लुट चुका था और गुलाम जमींदार ऐसी भाषा बोल रहे थे।

गुप्त जी की भाषा में आदि से अन्त तक एक-रूपता मिलती है। जयद्रथ-वध से लेकर यशोधरा तथा नहुष तक भाषा का एक ही रूप मिलता है।

उदाहरणार्थ :—

(१) री लेखनी ! हृत्पत्र पर लिखनी तुझे है यह कथा।
हृद्कालिमा में डूब कर तैयार होकर सर्वथा ॥—(भारत-भारती)

(२) तब वीर कर्ण समक्ष सत्वर उग्र साहसच्युत हुआ।
उस काल दोनों में वहाँ पर युद्ध अति अद्भुत हुआ॥–(जयद्रथ-वध)

(३) नरकृत शास्त्रों के सब बन्धन हैं नारी को ही लेकर।
अपने लिए सभी सुविधाएँ पहले ही कर बैठे नर ॥—(पंचवटी)

(४) हे आर्य रहा क्या भरत अभीप्सित अब भी,
मिल गया अकण्टक राज्य उसे जब तब भी ?— (साकेत)

(५) अब कठोर हो वज्रादपि ओ कुसुमादपि सुकुमारी।
आर्य पुत्र दे चुके परीक्षा अब है मेरी बारी ॥—(यशोधरा)

(६) आकर मिलेंगी यहीं संस्कृतियाँ सबकी
होगा एक विश्व तीर्थ भारत ही भूमि का।— (सिद्धराज)

(७) लोभ वस्तुतः रहा हमारा, क्षोभ वृथा हम मानें।
नये कहाँ बैठें सोचो यदि हटें न यहाँ पुराने ॥—(द्वापर)

गुप्त जी की भाषा में पर्याप्त प्रवाह है। उन्होंने अधिकतर कथाकाव्य लिखा तथा कथा के अनुरूप ही उनकी भाषा में धारा भी पाई जाती है। जैसा कि वह भाषा का प्रयोग-काल था अतः उनकी रचनाओं में मुहावरों तथा लोकोक्तियों का प्रायः अभाव सा है। यह अभाव तो खड़ी बोली में अब तक बना हुआ है। जिन दिनों गुप्त जी अपनी साधना में लीन थे दूसरी ओर छायावादी शैली की क्रान्ति चल रही थी। इस नवीन अभिव्यंजना शैली का भी प्रभाव उनके ऊपर पड़ा। 'झंकार' के गीतों में हम इस प्रभाव को देख सकते हैं। 'साकेत' एक प्रबन्ध काव्य है किन्तु उसके नवम सर्ग में उर्मिला के उद्गार गीतों में प्रस्फुटित हुए हैं।

गुप्त जी के विशाल साहित्य में विभिन्न शैलियों का प्रयोग किया गया है। उनकी रचनाएँ दो प्रकार की हैं, प्रबन्धात्मक तथा मुक्तक। प्रबन्ध काव्यों में जयद्रथवध, गुरुकुल, किसान, सिद्धराज, द्वापर तथा नहुष जैसे खण्डकाव्यों से

लेकर 'साकेत' के समान विशाल काव्य हैं। मुक्तकों में भारत-भारती तथा झंकार मुख्य हैं। भारत-भारती है तो मुक्तक किन्तु इसमें कवि की एक विचारधारा तथा जागरण की एक चेतना है। इसमें कवि कहीं पर उपदेशक बन जाता है, कहीं पर प्रेरक तथा कहीं पर कठोर व्यंग करता है। किसी भी प्रकार से वह देश को जगा देना चाहता है।

मुक्तक काव्य झंकार तथा प्रबन्ध काव्य साकेत के नवम सर्ग में गीति शैली का प्रयोग किया गया है। आत्मपीड़ा को व्यक्त करने वाले उनके गीतों में लय, गति तथा कोमलता तो है किन्तु कहीं तो उनमें कृत्रिमता है और कहीं भावों की तरलता का अभाव है। झंकार के गीतों में शैली की जैसा उछाल है उसके मूल में हृदय की अनुकूल गहराई नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है मानो नवीन छायावादी शैली को समेट करके वे चलना चाहते थे। प्रवृत्ति तथा शैली की दृष्टि से गुप्त जी का साकेत और झंकार वह सन्धिस्थल है जहाँ प्रियप्रवास तथा चौपदों की एक यात्रा पूरी होती है तथा प्रसाद के आँसू और कामायनी की यात्रा प्रारम्भ होती है। गुप्त जी, हरिऔध तथा प्रसाद के बीच की कड़ी से प्रतीत होने लगते हैं।

आधुनिक युग के कवियों में गुप्त जी को प्रबन्ध-शैली में सर्वाधिक सफलता मिली है। प्रबन्ध-निर्वाह के लिए उन्होंने वर्णनात्मक, चित्रात्मक तथा ध्वननशील अनुप्रास शैलियों से लेकर नाट्य तथा गीतिशैलियों का प्रयोग किया है। स्थान-स्थान पर उपदेशात्मक शैली को वे नहीं भूले हैं क्योंकि राष्ट्रोद्धार उनका मुख्य लक्ष्य है।

जयशंकर प्रसाद का जीवन-वृत्त

आपका जन्म काशी के वैश्य परिवारमें सन् १८८९ ई० में हुआ था उनके पिता का नाम बाबू देवी प्रसाद था जो बड़े ही परिश्रमी, दानी तथा गुणग्राहक थे। उनके यहाँ अच्छे-अच्छे कवि तथा विद्वान आया करते थे। जयशंकर प्रसाद दो भाई थे। उनके बड़े भाई का नाम शम्भुरत्न था। जरदा, सुर्ती तथा तम्बाकू के उन्नत व्यापार से, इस परिवार ने बड़ा धन कमाया तथा मुक्त हस्त से दान किया था। जयशंकर प्रसाद का प्रारम्भिक जीवन बड़े ही सुख से बीता यह सुख का क्रम उनकी सत्रह वर्ष की आयु तक ही चला।

बारह वर्ष के जब वे थे पिता की मृत्यु हो गई। उस समय वे क्वींस कालेज में सातवीं कक्षा के विद्यार्थी थे। उनकी वह शिक्षा रुक गई। उनके भाई ने घर पर ही शिक्षा की व्यवस्था कर दी। घर पर ही उन्हें विभिन्न अध्यापकों से अंग्रेजी, संस्कृत, उर्दू तथा फारसी की शिक्षा मिलने लगी। परम विद्वान पं० दीनबन्धु ब्रह्मचारी उनको वेद तथा उपनिषद् पढ़ाते थे। प्रसाद जी के भावी जीवन में ब्रह्मचारी जी की शिक्षा का सर्वाधिक महत्त्व रहा। प्रसाद जी का परिवार परम्परा से शिव का उपासक था। किसी भी कलाकार के साहित्य का अध्ययन करना हो तो उसकी जीवनी का परिचय बड़ा उपयोगी होता है।

इस वातावरण का बड़ा ही व्यापक प्रभाव प्रसाद के संस्कारों पर पड़ा। प्रसाद जी के दुर्भाग्य तथा हिन्दी के सौभाग्य से बहुत शीघ्र ही नियति-नटी ने उनका अध्यापन प्रारम्भ कर दिया। उन पर विपत्तियों के बादल टूटने लगे। कुछ दिनों में उनकी माता चल बसीं। वे ज्योंही सत्रह वर्ष के हुए उनके संरक्षक बड़े भाई भी स्वर्गवासी हो गये। आगे चलकर क्रमशः उनकी दो पत्नियों की मृत्यु हुई। भावज की प्रार्थना पर उन्होंने तीसरा विवाह किया। इधर परिवार पर भारी कर्ज का बोझ था। कहा नहीं जा सकता उनके हृदय की क्या दशा हुई। यदि उनकी प्रसिद्ध रचना 'आँसू' में प्रवेश करें तो उनकी इस करुण व्यथा को हम कुछ समझ सकते हैं। भारतीय संस्कृति तथा तेजस्वी दर्शन का स्थायी रस पाकर उनकी वह वेदना 'कामायनी' में मंगलमय हो गयी है। उनके 'आँसू' की अजस्र धारा वहाँ शान्त समुद्र में विलीन हो गई है।

प्रसाद जी का व्यक्तित्व कोमल, शान्त, मधुर, गम्भीर तथा स्वस्थ था। जीवन के अन्तिम वर्ष तक वे व्यायाम करते रहे। उनके हृदय में समुद्र की

गहराई, मस्तिष्क में आकाश का विस्तार तथा व्यक्तित्व में हिमालय की अटल ऊँचाई थी। वे अतीत के पुजारी तथा भविष्य के स्वप्नद्रष्टा थे। उनकी प्रखर प्रतिभा गम्भीर आलोक से मण्डित थी। उनके हृदय में अक्षय सौन्दर्य का भाण्डार था। वे प्रेम की प्रतिमूर्ति तथा करुणा के सागर थे। अपनी साधना ही के कारण वे हमारे साहित्य के युग-प्रवर्तक बने। सन् १९३७ में अड़तालिस वर्ष की अल्प आयु में ही वे हम को छोड़कर चल बसे।

प्रसाद के काव्य

प्रसाद जी की प्रतिभा बहुमुखी थी। वे कहानीकार, उपन्यासकार, नाटककार तथा महाकवि थे। उनकी सभी प्रकार की रचनाओं में काव्य ही का आनन्द मिलता है। उनके सम्पूर्ण साहित्य में अतीत की सान्त्वना तथा भविष्य का विश्वास है। उनकी कल्पना की रंगीनी ने उनके साहित्य में दिव्य-लोक की सृष्टि कर दी है। उनके भावों में पाताल को तोड़नेवाली भयानक गहराई तथा कल्पनाओं में अनन्त को भेद कर पार करजानेवाली ऊँचाई है किन्तु उनमें ऐसी निर्माण-शक्ति है जिसके द्वारा उन्होंने आकाश तथा पाताल को समरसता की धरती पर खींचकर एक नवीन स्वर्ग की सृष्टि कर दी। उनकी गणना विश्व के महान कवियों में होती है।

प्रारम्भ में उनकी रचना व्रजभाषा में होती थी। उस प्रचीन भाषा में की गई कविताओं से ही इस युगप्रवर्तक कलाकार की नवीन प्रवृत्तियों के दर्शन होने लगे थे। जिस छायावादी शैली ने खड़ीबोली की अभिव्यंजना प्रणाली में क्रान्ति की, उसके जन्मदाता प्रसाद जी ही थे। प्रसाद जी ने अपनी रचनाओं से काव्य की भाषा, उसकी भावभंगिमा तथा शक्ति में क्रान्ति कर दी। उनके काव्यों में क्रमशः विकास हुआ है। उनकी प्रारम्भिक रचनाओं के संग्रह जब-जब प्रकाशित हुए उन्होंने उनमें कुछ न कुछ परिवर्तन तथा संशोधन कर दिया जिससे उनके रचनाकाल के निर्धारण में कठिनाई पड़ती है।

उदाहरणार्थ चित्राधार तथा कानन-कुसुम उनके दो प्रारम्भिक कविता-संग्रह हैं जिनके रचनाकाल सन् १९०९ से १९१४ तक उभयनिष्ठ हैं। प्रसाद जी के सामने ही इनके दो बार प्रकाशन हुए तथा उनमें संशोधन भी हुए। चित्राधार में तीन आख्यानक तथा साठ से ऊपर मुक्तक कविताएँ हैं। आख्यानकों में अयोध्या का उद्धार, वन-मिलन तथा प्रेमराज्य शीर्षक कविताएँ हैं। मुक्तकों के मुख्य विषय प्रकृति तथा प्रेम हैं। कानन-कुसुम के स्वरूप में दो बार

संशोधन किये गये। इस काव्य में आख्यानक, प्रकृति-विषयक, भक्ति-विषयक, प्रेम-विषयक एवं सामाजिक रचनाओं का संग्रह है। इसमें व्रजभाषा के साथ खड़ीबोली की रचनाएँ हैं। आगे चलकर प्रसाद जी ने जो प्रौढ़ रचनाएँ कीं उनके मूल बीज इन कृतियों में बिखरे हुए हैं।

उपर्युक्त अवधि में ही प्रसाद जी ने व्रजभाषा में 'प्रेम-पथिक' की रचना की थी जिसका खड़ीबोली में रूपान्तर करके उन्होंने सन् १९१३ में प्रकाशित कराया। इसमें एक पथिक और प्रेम के बीच का कथोपकथन है। उसी वर्ष में 'करुणालय' का प्रकाशन हुआ। इसमें प्राचीन काल के नरमेध-यज्ञ के प्रति एक विद्रोह का चित्र प्रस्तुत किया गया है। इसमें रोहित तथा शुनःशेप के अन्तर्द्वन्द्वों के मार्मिक चित्र हैं। सन् १९१४ में प्रकाशित 'महाराणा का महत्त्व' एक छोटा सा खण्ड-काव्य है।

'झरना' से प्रसाद के प्रौढ़तर काल का प्रारम्भ होता है। इसका प्रकाशन सन् १९१८ में हुआ। अब तक उनकी अधिकतर रचनाएँ द्विवेदी-युगीन इतिवृत्तात्मक थीं किन्तु उनमें संक्रमणात्मक तत्त्व भी थे। 'झरना' की कविताओं से प्रसाद जी अपनी स्वाभाविक अन्तर्मुखी प्रवृत्ति की ओर उन्मुख हो गये। उसमें प्रसाद का आत्म-प्रकाशन है। उसमें आशा-निराशा, विरह-मिलन, हर्ष-विषाद, निश्चय-अनिश्चय तथा उत्थान-पतन के अल्हड़ चित्र हैं। उसके भावों में झरने की चंचलता है।

आधुनिक छायावाद-रहस्यवाद ने इसी 'झरना' से स्रोत पकड़ लिया। प्रसाद प्रेम और सौन्दर्य के कलाकार हैं। प्रेम, रूप, समर्पण, प्रतीक्षा, अनुनय, विरह तथा मिलन आदि मुख्य विषय हैं। झरना का लौकिक प्रेम अपनी जिज्ञासा के कारण अलौकिक के धरातल को स्पर्श कर रहा है। 'झरना' एक ऐसी प्रयोगशाला है जिससे आँसू, लहर तथा कामायनी जैसे अनमोल रत्न निकले। सन् १९२५ में 'आँसू' का प्रथम संस्करण निकला जिसमें कुल १२६ छन्द थे। सन् १९३३ के द्वितीय संस्करण में यह संख्या १९० हो गई और संशोधन के साथ छन्दों में एकसूत्रता ला दी गई। प्रसाद जी ने सम्भवतः ऐन्द्रियता के दोष तथा आलोचना से बचने के लिए 'आँसू' के द्वितीय संस्करण में अलौकिकता का पुट देना चाहा था।

'आँसू' एक गीति-काव्य है। डॉ० भोलानाथ तिवारी के शब्दों में, इसमें स्वानुभूति का प्रकाशन, संगीतात्मकता, आवेग और तीव्रता, भाव प्रवणता और विह्वलता तथा मार्मिकता और प्रभविष्णुता आदि तत्त्व इतनी अधिक मात्रा में हैं कि हिन्दी के कम ही गीतिकाव्य इसके समकक्ष रखे जा सकते हैं। 'आँसू'

की प्रशंसा में आगे डॉ० तिवारी कहते हैं—"पर इतना मात्र कह देने से ही इसकी काव्य-विधा का वर्णन नहीं हो सकता। 'आँसू' मुक्तक है पर एकसूत्रता का आभास लिए हुए। इसके छन्दों में तारतम्यता है। मीरा या सूर के छन्दों का कोई संग्रह हम उठा लें तो उसमें मुक्तक का आनन्द तो आयेगा पर हर छन्द अलग-अलग बिखरा मिलेगा। उसके हर छन्द मुक्तक हैं पर सम्मिलित रूप से 'आँसू' एक प्रबन्ध-काव्य सा है।" 'आँसू' का मेरुदण्ड प्रसाद की वेदना ही है।

'लहर' में प्रसाद की प्रौढ़ रचनाओं का संग्रह है जिसका प्रकाशन सन् १९३३ में हुआ। प्रसाद की रचनाओं में भावधारा का विचित्र विकासक्रम पाया जाता है। 'झरना' में जवानी की पहाड़ियों से आत्मवेदना का उछलता-कूदता हुआ स्रोत फूटता है। वह स्रोत लौकिक प्रेम के क्रोड़ में सम्हलने के लिए व्याकुल है किन्तु नियति का क्रूर ढाल उसे 'आँसू' की धरती पर ला पटकती है जहाँ वेदना की सरिता उमड़ने लगती है। उस धारा की तरंगें 'लहर' में उठ-उठ कर गगन को चूमने लगती हैं। आगे चलकर 'कामायनी' के महासागर में यह धारा विलीन हो जाती है।

'कामायनी' का प्रकाशन १९३५ में हुआ। इसी के दो वर्ष बाद प्रसाद जी अपने आनन्द-लोक को पधार गये। वर्तमान युग-सागर को मथकर निकाला गया यह अमृतघट है। 'कामायनी' वर्तमान सहस्राब्दी के विश्व-साहित्य का अनमोल रत्न है। इसका मूल्य कभी नहीं घटेगा क्योंकि इसमें मानव-समस्या की शाश्वत पकड़ है। बुद्धिवाद का ढोंग करनेवाले वर्तमान भौतिकवादी जड़युग के लिए तो कामायनी का मूल्य है ही, आनेवाले युग को भी इससे सन्देश प्राप्त होते रहेंगे क्योंकि विनाश के बाद बार-बार भौतिक स्वार्थजन्य जड़ता का जन्म होता रहेगा। विश्व की समष्टि का यह प्राकृतिक गुण तथा क्रम है।

जब कोई कलाकार विश्वसमाज के इस वीभत्स रहस्य को सत्य बतलाता है तो उसे निराशावादी अथवा पलायनवादी कहा जाता है। यह अच्छा तमाशा है कि कलाकार आशावादी लोरियाँ सुनाता रहे क्योंकि वह आशावादी है तथा दूसरी ओर समाज उससे थकावट मिटा मिटाकर अपने शाश्वत धर्म का पालन करता रहे। प्रसाद की व्यक्तिगत वेदना ने कामायनी में व्यापक करुणा का रूप धारण कर लिया है। वह करुणा विश्व का मंगल करने वाली है। उस करुणा में संत्रस्त मानवता के प्रति अगाध सहानुभूति है। बौद्धिक विज्ञानवाद ने हृदय के अभाव में विश्व-समाज को सदा ही पतन के गर्त में गिराया है। यह विज्ञानवाद बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से समाज के आचरण को भ्रष्ट करता है।

भौतिक स्वार्थों का लोभ ही समाज को विज्ञान की ओर प्रेरित करता है, अतः उसकी प्रेरणा का मूल भाव अर्थात् लाभ, समाज के रोम-रोम में व्याप्त हो जाता है। यह दशा लोकतंत्रीय तथा साम्यवादी दोनों ही व्यवस्थाओं में समान रूप से लागू होती है। उदाहरणार्थ इसी भाव से उत्पन्न विस्तारवादी चीनतंत्र, इस्लाम का नारा लगाने वाले अयूबतंत्र, कपटाचारी विभक्त ब्रिटिशतंत्र तथा चकमा देनेवाले भारत के नेतातंत्र की ओर देखने से स्पष्ट हो जायगा कि इन रूपों में भ्रष्टाचार का एक ही रूप है। यह सभी तंत्र अपने-अपने देशों में राष्ट्रीयता के नाम पर मानवता का शोषण कर रहे हैं तथा दूसरी ओर युद्ध के बादल छाये हुए हैं। यह तो अलग पुस्तकों का विषय है। विश्व की संतप्त जनता की चेतना को इस भौतिकवाद ने लुप्त कर दिया है। वह इस भ्रष्टाचारी भौतिकवाद के रस का इतना आदी हो गई है कि मरते दम तक उस रस को छोड़ नहीं सकती, भले ही कोई तंत्र उसका रक्त चूस कर उसे मृतप्राय कर दे। वह डिग नहीं सकती क्योंकि महान पूर्वजों की सन्तान है।

'कामायनी' में मानवता को सींचनेवाला करुणा का रस है। मनु ने श्रद्धा को छोड़ कर बुद्धि को वरण किया। इस प्रकार वे वैभवों के सम्राट बने। उस वैभव की वही दशा हुई जो युगों से होती आई है। इस भौतिकवादी युग के लिए 'कामायनी' प्रसाद जी की बहुत बड़ी देन है। इस काव्य की मान्यताएँ तथा कलात्मक विशेषताएँ भी इस बुद्धिवादी युग के अनुसार ही हैं। कठिनाई तो यह है कि बुद्धिवादी युग इस काव्य की प्रशंसा कर सकता है क्योंकि इसमें युग के आचरण का वैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है किन्तु उसके लाभ को प्राप्त करने के लिए आचरण नहीं कर सकता क्योंकि आचरण का Standard उसकी बुद्धि से Below है। बुद्धि यथा आचरण में मौलिक भेद है। उसके विचार से बुद्धिवाद का सीधा सम्बन्ध वैभवसम्पन्न सभ्यता से है।

'कामायनी' विश्व-साहित्य की नवीनतम कृति है। कहा जाता है कि यह छायावाद का प्रथम तथा अन्तिम महाकाव्य है। जिस नवीन शैली में इस महाकाव्य की रचना हुई उससे भाषा की भावभंगिमा में एक महान क्रान्ति हुई किन्तु इस काव्य के विषय तथा उद्देश्य को किसी वाद की सीमा में बाँधना ठीक नहीं। इस काव्य पर हिन्दी को गर्व होना चाहिए।

प्रसाद की कला का मूल्यांकन

प्रसाद आधुनिक काल के महान कलाकार थे। उनमें अपार कवित्व शक्ति थी। वे कल्पनाओं के धनी थे। उनकी कल्पनाशक्ति की असीमता-

अनुभूतियों की प्रखर गम्भीरता तथा अभिव्यंजना-शक्ति की तरलता को देखकर आश्चर्य होता है। वे खड़ीबोली के साहित्य में एक चमत्कार की भाँति आये। जिस खड़ीबोली को कविता के योग्य तैयार करने में चालीस वर्षों से साधना चल रही थी प्रसाद जी ने उस दिशा में क्रान्ति कर दी। अपने केवल पचीस वर्षों के साधनाकाल में प्रसाद जी ने अकेले ही भाषा को जैसा रूप दे दिया उसे देखकर विस्मय होता है।

प्रसाद जी की कला के मुख्य विषय हैं प्रेम तथा सौन्दर्य। उनके हृदय में उमड़ता हुआ सौन्दर्य तथा प्रेम का साम्राज्य था। उनके भीतर तथा बाहर सौन्दर्य की एक ही धारा थी। उनकी प्रतिभा में मौलिक शक्ति तो थी ही, अध्ययन तथा नियति के थपेड़ों से वह प्रखर एवं प्रदीप्त हो उठी। उनमें अनुभूतियों की लहरें उठने लगीं। उनके सामने माता-पिता, भाई तथा दो-दो पत्नियों की क्रमशः मृत्यु हुई। सम्भवतः उनको वर्तमान से वेदना ही मिलती गई। उनकी छटपटाती हुई वेदना सहारा ढूँढने लगी। वे झरना, आँसू तथा लहर में भटकते रहे। इन रचनाओं के भीतर उनकी व्यक्तिगत व्यथा अत्यन्त नवीन भावभंगिमा के साथ उतरी है। उस भंगिमा में युगप्रवर्तन का सन्देश है।

वे सान्त्वना तथा शान्ति प्राप्त करने के लिए प्रकृति का कोना-कोना छान डालते हैं, परन्तु कहीं नहीं मिलती। अपने भीतर टटोलते हैं तो अन्धकार दिखाई देता है। अतीत के इतिहास से शक्ति तथा दर्शन से ज्योति लेकर अन्तर में प्रवेश करते हैं पश्चात् बड़ी गहराई में समाधान की समतल भूमि मिल जाती है। उनकी 'कामायनी' में इसी तथ्य की अभिव्यक्ति है। प्रसाद जी की अपनी यह मान्यता थी कि कवि का क्षेत्र स्वतंत्र होता है। इसी मान्यता को लेकर उन्होंने द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मकता के प्रति विद्रोह किया था। परन्तु यदि हम इस क्रान्ति तथा उनके साहित्य का मूल्यांकन करें तो बहुत सी बातें सामने आ जाएँगी। उन पर थोड़ा विचार कर लेना चाहिए।

प्रसाद जी जिस अभिव्यंजना शैली को लेकर आगे बढ़े उसमें निश्चित ही क्रान्ति के पुष्ट बीज थे। उन बीजों से उनके साहित्यलोक में भाँति-भाँति के विटप तथा रंगबिरंगे पुष्पोंवाली लताएँ निकलीं। एक खिली हुई रम्य-वनस्थली लहरा-लहरा कर आनन्दलोक को स्पर्श करने लगी। कल्पनाओं के धनी इस विधाता ने अपने गानों के कलरव तथा अनुभूतियों की निर्झर ध्वनि से उस वनस्थली को मनोहर बना दिया। पथिकों के लिए समरसता के विश्वास का संबल भी जुटाने का प्रयास किया। हिन्दी-साहित्य को ऐसी महान उपलब्धि

प्रसाद जी की कल्पना की रंगीनी, अभिव्यंजना की नवीन लाक्षणिकता, चित्रमयता, सांकेतिकता, प्रकृति के मानवीकरण तथा उनकी व्यक्तिगत अनुभूतियों की तीव्रता के कारण ही हुई।

महान काव्य भूत, वर्तमान तथा भविष्य को समेट कर चलते हैं। भूत से संबल मिलता है, वर्तमान से यथार्थ की धरती मिलती है तथा भविष्य उसकी कसौटी बन कर साथ लगा रहता है। यदि उसमें भविष्य के लिए मंगल तत्त्व न रहें तो वह शीघ्र ही समाज से उठ जाता है। अतः आज के युग में कला-कार की स्वतंत्रता का क्या अर्थ है? यदि उसका सम्बन्ध अभिव्यक्ति की भंगिमा से है तो किस युग में किसने किसको रोका है? परन्तु जहाँ तक आदर्शों के नियंत्रण का प्रश्न है वह तो सदा ही रहेगा। नग्न, असंयत तथा मर्यादाहीन वैज्ञानिक युगों को भी जीवित रहने के लिए कुछ मर्यादा की सीमाएँ तो रखनी ही पड़ेंगी।

प्रसाद जी अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में द्विवेदीयुगीन आख्यानकों को लेकर चले थे। नाटकों का तो पूछना ही क्या है। झरना, आँसू तथा लहर में अन्तर्मुखी विद्रोह का झंडा लेकर खड़े हो गये। इधर वर्तमान की धरती से कोई सम्बन्ध था ही नहीं। अपने नाविक से प्रार्थना करने लगे कि वह उन्हें इस 'कोलाहल की अवनी' से किसी प्रेम-लोक में भगा ले चले। राष्ट्र का वह काल दुख, दैन्य तथा परतंत्रता का काल था। देश-भक्त प्राणों की होली खेल रहे थे। चारों ओर उत्पीड़न का साम्राज्य छाया हुआ था। राष्ट्र के सामने जीवन तथा मरण का प्रश्न था। उधर अलौकिक प्रतिभा से सम्पन्न हमारा पूज्य कलाकार निर्जन प्रेमलोक में भगने की तैयारी कर रहा था। स्वतंत्रता का उद्घोषक कलाकार कभी 'आँसू' बहा रहा था और कभी सौन्दर्य के गीत गा रहा था। इसे केवल देश का दुर्भाग्य कहा जायगा।

इन तीनों रचनाओं को देखकर रीतिकाल के प्रतिभाशाली तथा निराश कवि देव याद आ जाते हैं। 'कामायनी' की भाँति उन्होंने भी अपने अन्तिम काल में मंगलकारी भक्तिकाव्य की रचना की थी। जन्म भर याद करने के बहाने से राधा-कृष्ण के संयोग-वियोग के चित्र खींचते रहे। देव की भाँति ही प्रसाद की भाषा में तरलता और प्रवाह है तथा वैसी ही उदात्त कल्पनाशक्ति है। देव का विलास प्रत्यक्ष है तथा प्रसाद का प्रच्छन्न है। देव ने रीतियों का पोथा तैयार किया और प्रसाद ने खड़ीबोली को नयी रीति दी। देव के विरह चित्रों में कल्पना का विलास है तथा प्रसाद की वेदना में निजी हृदय

की विवशता। एक अपनी आर्थिक दशा से विपन्न है दूसरा अपने व्यक्तिगत प्रेम से।

इन कृतियों से तो ताजमहल अच्छा है, जिसको देखकर शापित कलाकारों की कला पर विस्मय तथा गर्व होता है, दूसरी ओर उसके पीछे छिपे हुए शोषण को याद करके आँखों में रक्त उतर आता है तथा तीसरी ओर समाधि में दबे हुए शव, सारी अनुभूतियों में समरसता ला देते हैं। भारतेन्दु, हरिऔध तथा गुप्त की कलाओं के स्तर किसी कोटि के रहे हों उन्हें देखकर भूषण की याद आती है। यहाँ सब कुछ कहने का अभिप्राय केवल इतना ही है कि प्रसाद जी ऐसे प्रतिभाशाली थे कि यदि उनकी करुणा वर्तमान विपन्न राष्ट्र तथा पीड़ित समाज को समेट कर चली होती तो परिणाम कुछ और निकला होता।

कला की दृष्टि से 'कामायनी' हिन्दी की अनुपम कृति है। उसमें प्रसाद जी की क्षमता को देखकर विस्मय होता है। उसमें ईर्ष्या, काम, आशा, चिन्ता, श्रद्धा तथा बुद्धि आदि मानसिक वृत्तियों का मानवीकरण करके उन्होंने सूक्ष्म वैज्ञानिक एवं मार्मिक विश्लेषण काव्य के धरातल पर जिस सफलता के साथ किया है वहाँ उनकी मौलिकता तथा सरसता पर निश्चित ही आश्चर्य होता है। परन्तु वर्तमान मानव जाति के इन मनोवेगों से उत्पन्न मनोग्रन्थियों को कहाँ सुलझाया गया है? पलायनवादी मनु के साथ 'कामायनी' भी तो समरसता के निर्जन लोक में सरक जाती है? वहाँ कामायनी ही नाविक बनकर मनु को न जाने कौन सा भुलावा देकर ले भागती है और काल्पनिक समाज में छूट जाते हैं मानव तथा इड़ा। वास्तव में निजी प्रेम-पथ के थके हुए प्रसाद जी अतीत से सान्त्वना पा जाते हैं। इस प्राप्ति के लिए उन्हें अपने अन्तर का बड़ा मंथन करना पड़ा।

'कामायनी' में बुद्धिवाद, हृदयवाद, आध्यात्मवाद तथा भौतिक विज्ञानवाद अथवा कामायनी तथा इड़ा के सन्तुलन का जो प्रश्न उठाया गया है वह भारतीय जीवन-दर्शन का नया प्रश्न नहीं है। इस प्रश्न पर प्रत्येक युग के कलाकारों तथा सन्तों ने समय की आवश्यकता के अनुसार विचार किया है। रावणकाल तथा दुर्योधनकाल के असन्तुलन के परिणामों को यह समाज भुगत भी चुका है। प्रसाद जी ने इस प्रश्न को युग की मनोवैज्ञानिक कसौटी पर मौलिक ढंग से कसने का प्रयत्न किया है। परन्तु उन्होंने वर्तमान विपन्न राष्ट्र तथा सन्तप्त समाज के भीतर से इस प्रश्न को न उठाकर, उसे अपने ही समान भागने वाले पात्रों में प्रतिष्ठित कर दिया है। यदि मनु तथा कामा-

यनी इस स्वार्थी और विलासी समाज का प्रतिनिधित्व करनेवाले हों तब भी उनके वातावरण को हम वर्तमान से कटा हुआ ही देखते हैं।

जो कुछ भी हो 'कामायनी' की प्रशंसा दो दृष्टियों से करनी ही पड़ेगी। पहली यह कि मानव के शाश्वत मनोवेगों का यथार्थ चित्र खींचा गया है जो अत्यन्त उपयोगी है तथा दूसरी यह कि अभिव्यक्ति की दृष्टि से यह रचना बड़ी ही मोहक तथा उत्कृष्ट है। इस कलाकृति से खड़ीबोली के इतिहास में नया मोड़ आ गया और इतना कम नहीं है। हम किसी कलाकार को इस भ्रष्ट समाज से उलझने के लिए विवश नहीं कर सकते क्योंकि उसकी प्रतिभा पर उसका स्वतंत्र अधिकार है। पश्चाताप तो कर ही सकते हैं। 'कामायनी' की मनोहर कृति पाठक को कुछ सोचने के लिए विवश तो कर ही देती है। उसमें निहित परिणाम तो लाभकारी है ही। वे मानव को सौन्दर्य की महिमा से मण्डित देखना चाहते थे।

प्रसाद जी के व्यक्तित्व के मूलतत्त्व हैं प्रेम तथा सौन्दर्य। उन्हें विश्व के अशिष्ट कोलाहल से घृणा है। वे सृष्टि को सुन्दर तथा प्रेम से आप्लावित देखना चाहते हैं। यह भव्य रूप उनको वर्तमान में नहीं मिला। अतः अतीत की महिमा की ओर मुड़े। कामायनी में सात्विक, इड़ा में राजसिक तथा मनु में तामसिक प्रेम के रूप हैं। प्रेम के चरम उत्कर्ष में ही मानवता का पूर्ण उत्कर्ष हो सकता है। इसी प्रेम के धरातल पर उन्होंने समाधान ढूँढने का प्रयत्न किया है। यह बात ठीक है कि समाज के सारे संघर्षों का लक्ष्य आनन्द की प्राप्ति ही है और यह भी ठीक है कि प्रेम के धरातल पर ही सही लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है किन्तु व्यावहारिक यात्रा का पथ भी तो होना चाहिए। दबी हुई मानवता को छोड़कर अतीत से भविष्य की ओर काल्पनिक छलांग लगाने से क्या होगा?

प्रसाद-साहित्य में छायावादी रहस्यवाद

छायावाद :—

छायावाद के सम्बन्ध में पहले हम डॉ० भोलानाथ तिवारी के कुछ विचार देते हैं।

(१) अपने वास्तविक रूप में वह एक व्यापक जीवन दृष्टि का साहित्यिक प्रतिफलन है। दूसरे शब्दों में वह मात्र नई काव्यधारा अथवा साहित्य-धारा का पर्याय न होकर नई जीवन-धारा का पर्याय है।

(२) छायावाद की रोमाण्टिक चेतना उस दर्शन की आधार-भित्ति है।

(३) अपने व्यापक रूप में छायावाद उस नव्य जीवन-दर्शन का पर्याय है जो द्विवेदी-युग के समाप्त होने के पूर्व ही पूँजीवाद के तृतीय आघात के फलस्वरूप नयी परिस्थितियों में स्वतः ही उत्पन्न हो गया था।

(४) भारतेन्दु-युगीन चेतना का शेक्सपियर के युग से, द्विवेदी-युगीन चेतना का मिल्टन आदि के क्लासिकल पुनर्जागरण से और छायावाद का रोमाण्टिक पुनर्जागरण काल से प्राणगत साम्य मिल सकता है।

(५) रोमाण्टिक चेतना व्यक्ति की मुक्ति कामना का ही दूसरा रूप है।

(६) रोमाण्टिक चेतना की एक अन्य विशेषता है सौन्दर्य के प्रति अहेतुक अनुराग और असीमित उल्लास का भाव।

(७) छायावाद के भीतर वेदना और रुदन का प्राधान्य रहा है।

(८) छायावाद की रोमाण्टिक चेतना आध्यात्मिकता से भी अनुप्राणित रही है।

(९) रोमाण्टिक काव्य-चेतना में नूतन मानवतावाद का स्वर भी मिला हुआ था।

(१०) प्रकृति को अधिक सजीव तथा बिल्कुल मानव रूप में देखा गया है। यह भी एक प्रकार से स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह ही था।

(११) कला के क्षेत्र में भी इन्हीं सबकी प्रेरणा से विद्रोही स्वर सुनाई पड़ा और नवीन मुक्त छन्दों सूक्ष्म सौन्दर्य और संकेत से युक्त मानवीकरण, विशेषण विपर्यय, अमूर्त का मूर्त या मूर्त का अमूर्त विधान आदि नवीन अलंकारों तथा लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता एवं ध्वन्यात्मकता आदि के द्वारा अभिव्यंजना में एक नया आकर्षण आ गया।

(डॉ० तिवारी जी की उपर्युक्त ११ बातों को छात्र यदि रट लेंगे तो सुविधा होगी)

इस छोटी सी पुस्तक में इन सभी सूत्रों के विश्लेषण करने तथा प्रसाद के साहित्य से उद्धरण प्रस्तुत करने का अवकाश तो नहीं है किन्तु कुछ अपने विचार हम अवश्य प्रस्तुत करेंगे। वर्तमान सामाजिक ढाँचे में पलनेवाले छात्रों का उद्दण्ड बहुमत 'शार्टकट' के लिए व्याकुल है।

इस रोमाण्टिक चेतना का उदय सर्व प्रथम ब्रिटिश सभ्यता में हुआ था। वहाँ सामन्त-युग की परतंत्रता के बाद लोकतंत्रीय पूँजीवाद का आगमन हुआ था। यंत्रों ने पूँजीवादी वैभव को आकाश पर पहुँचा दिया। वहाँ की

सभ्यता तो पहले से ही भौतिकवादी तथा निम्न-कोटि की थी, ऊपर से इस यंत्रयुग ने वहाँ की सभ्यता को और अधिक यंत्रवत बना दिया। समाज का संगठन प्रकृति तथा मानवता को छोड़कर नगरों में केन्द्रित हो गया। उपनिवेशों से भी अपार सम्पत्ति आकर इकट्ठी हो गई। ब्रिटेन एक प्रकार से रावण की स्वर्ण-मण्डित-लंका बन गया। यंत्रयुग का जड़-विलास स्वाद में अरुचिकर हो गया। रोमाण्टिक कवियों ने स्वाद बदलने के लिए विद्रोह कर दिया। वे व्यक्तिगत जीवन में नयी चेतना लाकर, उसी की टक्कर में, भोग्य-पदार्थों में भी जीवन लाने के लिए व्याकुल हो उठे क्योंकि निर्जीव के साथ सजीव का विलास, सन्तोषप्रद न था। अभिव्यंजना शैली में भी उसी के जोड़-तोड़ का जीवन लाना आवश्यक था। भोग-लिप्सा में नवीनता (ताजगी?) का बड़ा महत्त्व होता है। इस दिशा में वहाँ प्रकृति ने बड़ी सेवा की।

उन दिनों ब्रिटेन अपने दास भारत के सम्पर्क में भी आ चुका था। वहाँ की बौद्धिक चेतना को भारतीय अद्वैतवादी दर्शन का भी कुछ परिचय मिल गया था। वहाँ की साधनाहीन छिछली सभ्यता भारत के गम्भीर तथा पवित्र दर्शन को हृदय से स्पर्श करने में असमर्थ थी। उस रोमाण्टिक चेतना में यत्र-तत्र भारतीय रहस्य भावना भी दिखाई पड़ी। वर्ड्स्वर्थ में इसकी स्पष्ट झाँकी मिलती है। आगे चलकर उपनिवेशों में विद्रोह हुए तथा दो-दो बार जर्मनी ने कसकर धक्के दिये।

भारत एक विचित्र देश है। एक सहस्र वर्षों से इसने अपने को और भी विचित्र बना लिया है। भारतीय साहित्य में छायावाद की उत्पत्ति की कथा भी मार्मिक है। उन दिनों इस देश में भौतिक वैभव तथा यंत्रयुग की जड़ता का कोई प्रश्न ही नहीं था। यहाँ तो परतंत्र समाज के देशभक्त शहीद हो रहे थे और अशिक्षित निर्धन जनता पुरानी चक्की में पिस रही थी। दमन, दीनता तथा शोषण के भीषण चक्र चल रहे थे। शिक्षित समाज का बहुत बड़ा वर्ग अंग्रेजी कृत्रिम सभ्यता के सम्पर्क में आया। उसके हार्दिक धरातल पर उस सभ्यता का प्रभाव पड़ा। बस रोमाण्टिक विद्रोह चल पड़ा। इसीलिए तो सर्व प्रथम यह बंगाल से उठा। अंग्रेजी दमन से निराश साधारण समाज के युवक भी वेदना के स्वर में सम्मिलित होने लगे तो आश्चर्य ही क्या है?

इस स्वर में एक लहर चल पड़ी। यह एक दम निश्चित है कि हमारे देश के रोमाण्टिक विद्रोह का परिस्थिति से कोई सम्बन्ध नहीं था। यदि था

तो इतना ही कि अंग्रेजी सभ्यता से आकर्षित सौन्दर्य-प्रेमी भारतीय देश के शव पर एक विदेशी नवीन प्रेम का लोक बसाने के लिए व्याकुल हो उठे। वे जाते भी कहाँ ? कोइ अतीत में सौन्दर्य ढूँढने लगा। कोई फैली हुई चन्द्रिका तथा रजनी में मल्लिका तथा माधवी की ओर दौड़ा, यहाँ डैफोडील्स कहाँ था ? यहाँ स्प्रिंग तो था किन्तु 'विण्टर की वेस्ट विण्ड' कहाँ थी ? झरने थे लहरें थी, अम्बर था और थी सजनी की रजनी। वीरगाथा कालीन प्रेम रीतिकाल में जड़ हो गया था। छायावाद के अंग्रेजी धरातल पर उसे नयी जाति की व्यक्तिवादी चेतना मिली। प्रेम-मत्त होकर नाचने लगा। देश की विषम परिस्थियों से जब ठोकर लगती तो उसका कोमल अन्तर वेदना से सिहर उठता। दूसरी ओर कितने ही लाल फाँसी के तख्ते पर झूल रहे थे। इस प्रकार उस दुख को देखकर बड़ी वेदना होती है।

खड़ीबोली का प्रयोग-काल अभी चल ही रहा था। उसके रुक्ष तथा अनगढ रूप को इस कोमल वाद ने तरलता प्रदान की। वेदना के वेग तथा नवीन भंगिमा को पाकर इस भाषा में प्रवाह तथा स्रोत फूट पड़ा। उन नये प्रेमियों को रिझाने के लिये भाषा को नये-नये शृङ्गार करने पड़े। उनके नवीन रुदन को रोना पड़ा और कभी नये ढंग से मुस्कुराना तथा कभी खिलखिलाकर हँसना पड़ा। भाषा को बड़ी कसरत करनी पड़ी। इतना तो मानना ही पड़ेगा कि इस व्यायाम से भाषा-कामिनी का ऐसा स्वास्थ्य बढ़ा कि कपोलों पर गुलाबी आ गई। किन्हीं-किन्हीं के साथ तो इतनी आहें भरनी पड़ी कि उसका हृदय भी तरल अनुभूतियों का अक्षय समुद्र बनकर उमड़ने लगा। यहाँ हमारा सम्बन्ध केवल अब प्रसाद जी से है। कुछ उद्धरण हैं :—

प्रकृति का उद्दीपक रूप :—

> मनु क्यों क्यों निरखने लगे यामिनी का रूप।
> वह अनन्त प्रगाढ़ छाया फैलती अपरूप॥
> बरसता था मदिर कण सा स्वच्छ सतत अनन्त।
> मिलन का संगीत होने लगा था श्रीमन्त॥

आलम्बन का रूप :—

> किरन तुम क्यों बिखरी हो आज,
> रँगी हो तुम किसके अनुराग ?
> स्वर्ण सरसिज किञ्जल्क समान,
> उड़ाती हो परमाणु पराग ?

अप्रस्तुत रूप में :—

आह वह मुख पश्चिम के व्योम, बीच जब घिरते हैं घनश्याम।
अरुण रविमण्डल उनको भेद दिखाई देता है छविधाम॥

विशेषण विपर्यय :—

जलधि लहरियों की अँगड़ाई बारबार जाती सोने।

प्रतीकात्मकता :—

मधुमय वसन्त जीवन वन के वह अन्तरिक्ष की लहरों में।
(यहाँ मधुमय वसन्त मादक यौवन का प्रतीत है।)

लाक्षणिकता :—

नीरव निशीथ में लतिका सी, तुम कौन आ रही हो बढ़ती।
कोमल बाहें फैलाये सी आलिंगन का जादू पढ़ती॥

झरना से लेकर कामायनी तक प्रसाद जीने इसी छायावादी शैली का चमत्कार दिखाया है। उन्होंने ही हिन्दी में इसको जन्म दिया, बढ़ाया तथा प्रौढ़ किया। प्रसाद की इस शैली में कला का चरम उत्कर्ष है। शैली के अतिरिक्त रोमाण्टिक विषय भी उनकी रचनाओं में ज्यों के त्यों हैं। 'झरना' में वही रोमाण्टिक उछल-कूद तथा उल्लास है। 'आँसू' में वही सजीव वेदना है। 'लहर' में प्राणों का रस उमड़ रहा है। 'कामायनी' में तो उसका चरम उत्कर्ष है। हाँ, उस काव्य में भारतीय दर्शन तथा संस्कृति ने उस रोमाण्टिक भावना को उदात्त बना दिया है। भारतीय रहस्यवाद की दौड़ से गुजरनेवाले प्रसाद के उस सांस्कृतिक महाकाव्य में मनु छायावादी व्यक्तिगत पलायनवाद से मुक्त नहीं हो सके हैं और यह स्थिति विचारणीय बनी रहेगी।

रहस्यवाद :—

छायावाद को मनोवैज्ञानिक कारणों से रहस्यवाद में शरण ढूँढनी पड़ी है। भौतिकवादी जड़-विलास से ऊबकर पश्चिमी सौन्दर्य-लिप्सा ने भोगार्थ नवीन जीवन प्राप्त करना चाहा था। अपार वैभव ने हर वर्ग में ऊब पैदा करदी थी। जब यह लिप्सा चेतना के पथ पर आगे बढ़ी और प्रकृति क्षेत्र में उतरी तो संयोग से उसकी भेंट भारतीय अद्वैत सत्ता से हो गई। उस सत्ता से थोड़ा सा मनोरंजन करके उसको बड़ी स्फूर्ति मिली और फिर तेजी से अपने गन्तव्य की ओर बढ़ गई।

भटकती हुई द्विवेदी -युगीन अभिव्यंजना प्रणाली को छायावाद से एक क्रान्तिकारी मार्ग मिल गया। इस मार्ग को प्रशस्त करने वाली प्रसाद जी की साधना अमूल्य है। उधर भावना के क्षेत्र में जब छायावादी कलाकार वेदना (जैसे भी हो) से पीड़ित होकर भटकने लगे तो बहुतों को चिर परिचित भारतीय दर्शन से प्राप्त अद्वैत सत्ता का सहारा मिला। प्रत्येक साधक को अपनी-अपनी अनुभूतियों की व्यक्तिगत सच्चाई के अनुसार ही उस आश्रय की दृढ़ता मिली। यह रहस्यानुभूति महादेवी की चिरसाधना बन गई। पन्त तथा निराला उसे किनारे छोड़कर युग-साधना में लग गये। प्रसाद जी झरना, आँसू तथा लहर से होते हुए अपनी रहस्यानुभूति को ठोस आधार देने के लिए कामायनी में पहुँच गये।

रहस्यानुभूति का प्रारम्भ जिज्ञासा से होता है फिर परिचय, विरह तथा मिलन का क्रम चलता है। 'कामायनी' के प्रारम्भ में ही मनु में जिज्ञासा उत्पन्न होती है :—

(१) कौन ? हुआ यह प्रश्न अचानक और कुतूहल का था राज।

(२) किसका था भ्रूभंग प्रलय सा जिसमें ये सब विकल रहे ?

(३) महानील इस परम व्योम में, अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान।
ग्रह नक्षत्र और विद्युत्कण, किसका करते से सन्धान ?

पुनः प्रकृति के माध्यम से इस जिज्ञासा का अल्प समाधान सा हो जाता है।

हे विराट ! हे विश्वदेव ! तुम कुछ हो ऐसा होता भान—
मन्द गम्भीर धरि-स्वर-संयुत यही कर रहा सागर गान।

यह रहस्यभावना तो प्रसाद की प्रारम्भिक ब्रजभाषा की रचनाओं से ही लक्षित होने लगती है :—

'तारागन क्यों गगन में हँसत मन्दहि मंद ?'

प्रेम-पथिक में सर्वात्मवादी भावना के दर्शन होते हैं।'

'विश्व स्वयं ही ईश्वर है।'

प्रसाद के साहित्य में रहस्यानुभूति की कई अवस्थाएँ मिलती हैं :—

(१) प्रेम-प्रदर्शन :—

'तेरा प्रेम हलाहल प्यारे अब तो सुख से पाते हैं।,

(२) मिलन का प्रयत्न :—'सब कहते हैं खोलो खोलो,
छवि देखूँगा जीवन धन की।'

(३) वेदनाधिक्य :—'सुनो प्राणप्रिय हृदय वेदना,
विकल हुई क्या कहती है।
तव दुःसह यह विरह रात-दिन,
जैसे सुख से सहती है॥'

(४) मिलन :—'इस हमारे और प्रिय के मिलन से'
स्वर्ग आकर पृथ्वी से मिल रहा।'

प्रसाद जी का 'आँसू' लौकिक विरह का काव्य है। सन् १९३३ वाले संशोधित संस्करण की कतिपय पंक्तियों को देख कर कुछ लोगों को अलौकिक संकेतों का भ्रम होता है। जो कुछ भी हो, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि प्रसाद जी के साहित्य में जहाँ वेदना की अभिव्यक्ति है वहाँ उनकी निजी अनुभूति की सच्चाई है। यही कारण है कि उनकी कृतियों में गुरुता, गम्भीरता तथा प्रभावोत्पादक बल है।

"इस दृश्य जगत के पीछे जो रहस्य या छिपी विराट् सत्ता है उसी के प्रति व्यक्त कविताएँ रहस्यवाद के अन्तर्गत आती हैं। महादेवी जी 'अपनी सीमा को असीम तत्त्व में खो देने को' रहस्यवाद कहती हैं। प्रसाद जी 'अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहं का इदं से समन्वय कर देने को' रहस्यवाद मानते हैं। शुक्ल जी के अनुसार 'चिन्तन के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है वही भावना के क्षेत्र में रहस्यवाद है। —(डॉ॰ भोला-नाथ तिवारी)

यहाँ प्रसाद की कुछ मार्मिक पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं:—

(१) प्रियतम की शोभा :—'विकसित सरसिज-वन-वैभव,
मधु ऊषा के अंचल में।
उपहास करावे अपना,
जो हँसी देख ले पल में।

(२) एक कामना :—

मानव जीवन वेदी पर, परिणय हो विरह-मिलन का।
दुःख सुख दोनों नाचेंगे, है खेल आँख का मन का॥

(२) एक- परिचय :—'कुल शेष चिन्ह हैं केवल,
मेरे उस महा मिलन के।'

टिप्पणी :—विश्व का सत्य हमारी इन्द्रियों की पकड़ से बाहर है। साधक अपने भीतर तथा बाहर उस सत्य का प्रत्यक्ष दर्शन करते रहते हैं। इस प्रकार जो सत्य साधकों के लिए प्रत्यक्ष है, सामान्य प्राणियों के लिए अलौकिक तथा रहस्य है। दूसरी बात यह कि प्रत्यक्षानुभूति को व्यक्त करने के लिए साधक के पास कोई यंत्र नहीं। वाणी का यंत्र भी असमर्थ है। इस प्रकार सत्य की अनुभूति प्रत्यक्ष रहते हुए भी अभिव्यक्ति में रहस्य-युक्त बनी रह जाती है। तीसरी बात यह कि अभिव्यक्त की गई स्पष्ट बातें भी, अनुभव के अभाव में सामान्य जनों के लिए रहस्य ही बनी रहती हैं। चौथी बात यह कि उस सत्यानुभूति को समझाने योग्य, संसार में उपमान भी नहीं हैं जिनसे तुलना करके स्पष्ट किया जाय। विषयी जीवों को आकृष्ट करने तथा शीघ्र समझाने के लिए साधकों ने जीव-ब्रह्म के रहस्यात्मक सम्बन्ध को, प्रिया-प्रियतम का रूपक खड़ा करके, स्पष्ट किया।

प्रसाद जी की काव्य-कला

प्रसाद जी महाकवि थे। उनमें महाकवि की शक्ति, योग्यता तथा प्रतिभा थी। उनके भीतर अनुभूतियों का उमड़ता हुआ गहरा समुद्र और ज्ञान का विस्तृत आकाश था। यही कारण है कि उनके काव्यों में भावों का लहराता हुआ महासागर तथा आकाश का विस्तार है। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। उनके साहित्यकाश में कल्पनाओं के चमकते हुए असंख्य तारे हैं जो अनन्त से धरती पर अपनी झिलमिल ज्योति फेंकते रहते हैं। उनकी समरसता का विश्वास उस आकाश का ध्रुवतारा है। प्रसाद जी के काव्यों में उनके व्यक्तिगत सुख-दुख तथा अपनी निजी अनुभूतियों का विशेष महत्त्व है।

प्रसाद जी का कलात्मक प्रयोग एक नवीन क्रान्ति लेकर आगे बढ़ा, अतः उनकी कलाकृतियों का विश्लेषण प्राचीन रीतियों के आधार पर करना ठीक नहीं। उनकी समीक्षा करते समय नूतन भंगिमा के सौन्दर्य पर अवश्य विचार करना पड़ेगा।

ध्वनि तथा रस :—

प्रसाद-साहित्य के मूल तत्त्व हैं प्रेम तथा सौन्दर्य। यदि इन तत्त्वों के रंग तथा रसों को खींच दें तो उनके साहित्य में कुछ न बचेगा, अस्थियों का

एक टुकड़ा भी नहीं। उनके साहित्य में कुसुम की सुकुमारता, पक्षियों का कलरव, निर्झरों का प्रवाह, गम्भीर बादलों की झड़ी, लहरों की तरंगें, धारा के आवर्त, सुकुमारी की लज्जा, आशा की रश्मियाँ, वासना की सेज, बुद्धि का चमत्कार, हृदय का समर्पण, प्रेम का अनुराग, नश्वरता का विराग तथा सब कुछ का जोड़ है प्रेम। बस केवल प्रेम। प्रेम ही सौन्दर्य है, प्रेम ही साधना है और वही है साध्य आनन्द।

प्रसाद जी की क्रान्ति अनुभूति जन्य थी। इसीलिए उनकी कविता में रस की धारा स्वतः बहती है। उनके काव्यों में आद्यन्त मुख्य रस शृङ्गार ही है। वह शृङ्गार, रीतियों के बन्धन में बँधना नहीं चाहता। प्राचीन परम्परा-पथों को दूर हटाकर स्वतंत्र धारा में फूट-फूट पड़ता है। वह प्राचीन आलम्बनों तथा पोथियों में दर्ज उद्दीपनों में आबद्ध नहीं। वह स्वयं मुक्त होकर अपनी गति से प्रकृति के विशाल-लोक में विचरण करता है। उसका उद्गम-स्थल अपना हृदय है। उसकी धारा में किसी उधार नायक-वेदना अथवा नायिका के हृदय का काल्पनिक चित्र नहीं बल्कि अपनी वेदना का वेग तथा अवस्था की दाल है।

प्रसाद जी का जीवन ही रसमय था। उनकी कविता में वही रस ढुलक रहा है। प्रसाद जी कितने गम्भीर थे? जीवन की पीड़ाओं को पीते गये। समय पाकर सारी वेदना 'आँसू' बनकर बरस गई।

जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृति सी छाई।
दुर्दिन में आँसू बनकर वह आज बरसने आई॥

इन पंक्तियों में कितने मार्मिक नवीन प्रयोग हैं? आदि से अन्त तक कैसी चित्रमयता है? इस चित्र ने अमूर्त को कितना मूर्त रूप दे दिया है? द्वितीय पंक्ति की शब्द-योजना, है तो स्वाभाविक किन्तु उसमें कितनी ध्वन्यात्मकता है? पीड़ा के पीछे पीड़ा का ताँता लग जाता है। अभिधा में तो दिखाई देता है कि आँसुओं की वर्षा दुर्दिन को दूर करनेवाली है क्योंकि अकाल की वर्षा मंगलदायिनी होती ही है। परन्तु 'आज' और 'दुर्दिन' शब्द मिलकर दुहरी चोट करने लगते हैं और इस चोट से पाठक स्वयं विरही बन जाता है और वह वर्षा भीतर ही भीतर जलानेवाली हो जाती है।

इस करुणा कलित हृदय में अब विकल रागिनी बजती।
क्यों हाहाकार स्वरों में वेदना असीम गरजती॥

कवि तो स्वयं वियोग-दशा में ईमानदारी से सिसक रहा था, भला इस वेदना की निर्ममता को क्या कहा जाय कि उसे इससे सन्तोष नहीं मिला और वह कवि के हृदय में आतंक फैलाने के लिए घोर गर्जना करने लगी। यहाँ भी अमूर्त वेदना का कैसा मार्मिक तथा मूर्त चित्र है !

बेसुध जो अपने सुख से, जिनकी हैं सुप्त व्यथाएँ।
अवकाश भला है किनको, सुनने को करुण कथाएँ॥

नीचे वियोगिनी कामायनी का एक मार्मिक चित्र है :—

अरे बतादो मुझे दया कर कहाँ प्रवासी है मेरा ?
उसी बावले से मिलने को डाल रही हूँ मैं फेरा॥

यहाँ संयोग शृङ्गार का एक चित्र है :—

स्पर्श करने लगी लज्जा ललित वर्ण कपोल।
खिला पुलक कदम्ब सा था भरा गदगद बोल॥

प्रसाद जी ने प्रलय-प्रसंग में भयानक तथा मनु और प्रजा के युद्ध में वीर-रस की अच्छी योजना की है। प्रसाद जी की शब्द-योजना में जैसी ध्वन्यात्मक शक्ति मिलती है, खड़ीबोली के सम्पूर्ण साहित्य में दुर्लभ है।

भाषा :—

प्रसाद जी की सर्वाधिक विशेषता उनकी भाषा की शक्ति तथा अभिव्यंजना-कौशल में पाई जाती है। इस क्षेत्र में उन्होंने जो साधना की, स्तुत्य है। उन्होंने अभिव्यंजना-प्रणाली में युगान्तर उपस्थित कर दिया। उनकी भाषा तथा भाव में कोई अन्तर नहीं है। दोनों का एक ही व्यक्तित्व है। उनकी भाषा में एक नवीन कान्ति, उनके व्यक्तित्व और भावों सी ही एक नवीन मादकता, चित्रमयता, हृदयग्राह्यता, भावानुकूलता तथा लयपूर्णता का अपूर्व वैभव है। वे प्रायः भाषा की लक्षणा और व्यंजना-शक्ति का उपयोग करते हैं।

प्रसाद जी की भाषा में प्रतीक-बाहुल्य सोने में सुगन्ध का काम करता है। इससे उनकी भाषा में एक सजीवता आ जाती है और साथ ही सांकेतिकता के कारण अर्थ-सौन्दर्य भी बढ़ जाता है।

(१) अनुप्रास-छटा :—(१) खग-कुल कुलकुल सा बोल रहा।
(२) धँसती धरा धधकती ज्वाला।
(३) उठ-उठ गिर-गिर फिर-फिर आती।
(४) कंकण क्वणित रणित नूपुर के।

उपर्युक्त शब्द-योजना में बहुमुखी सार्थकता है। प्रथम पंक्ति में वर्णों की ध्वनन-शक्ति से पक्षियों के कलरव को मुखरित कर दिया गया है। साथ ही सौन्दर्य बरस पड़ता है। द्वितीय पंक्ति ध ध ध ध के ध्वनन से भयंकर तो हो ही गई है, एक साक्षात् मूर्त-चित्र उभर आया है। तृतीय पंक्ति स्वयं 'लहर' की भाँति उठ गिर रही है। चतुर्थ पंक्ति के वर्ण स्वयं नूपुरों की ध्वनि क्वणित कर रहे हैं। ऊपर की प्रथम पंक्ति वहाँ से ली गई है जहाँ उषा-नागरी अम्बर-पनघट में तारा-घट डुबो रही है। अब जरा डूबनेवाले तारा-घटों की ध्वनि खगों के कुलकुल-कुलकुल स्वर में सुनिये। क्या कमाल है!

(२) प्रतीकात्मकता :—(१) उठ उठ री लघु लघु लोल लहर।

(२) कलियाँ जिनको मैं समझ रहा,
वे काँटे बिखरे आसपास।

ऊपर लहर में आनन्द-भाव, कलियों में सुख के साधनों तथा काँटों में दुख के साधनों का प्रतीक है।

(३) लाक्षणिकता :—

वैसे ही माया में लिपटी, अधरों पर उँगली धरे हुए।
माधव के सरस कुतूहल का आँखों में पानी भरे हुए॥

उस चित्र के पीछे लज्जा का कैसा लाक्षणिक रूप झलक रहा है! प्रसाद जी के सम्पूर्ण काव्यों में संगीतमयता ने भाषा को मोहक रूप दे दिया है। उनकी एक-एक पंक्ति सशक्त-भाषा, सजीव-अनुभूति तथा नवीन चमत्कार के लिए उदाहरण बन गई है। प्रसाद जी के साहित्य में ऐसे महिमा-मण्डित-चित्र हैं जिनमें कल्पना की ऊँचाई तथा भावों की गहराई है। उनकी भाषा के स्वरूप में भी वही महिमा है। इसीलिए वह लोकभाषा से बहुत दूर पड़ गई है।

अलङ्कार :—

प्रसाद जी के साहित्य में भावों की सरिता उमड़ती रहती है। अलङ्कार उसमें तरंगों की छटा बनकर झलका करते हैं। उन्होंने भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों अलङ्कारों के प्रयोग किये हैं। उनके उपमान प्राचीन भी हैं तथा नवीन भी हैं।

(१) रूपक :—

अम्बर पनघट में डुबो रही तारा-घट ऊषा नागरी।

(२) मूर्त के लिए अमूर्त उपमान :—

आ गया फिर पास क्रीड़ाशील अतिथि उदार।
चपल शैशव सा मनोहर भूल काले भार॥

(३) अमूर्त के लिए मूर्त उपमान :—

मृत्यु अरी चिर निद्रे तेरा अंक हिमानी सा शीतल॥

(४) विशेषण-विपर्यय :—

(अ) नर्तित पद-चिन्ह बना जाती।

(आ) थकी सोई है मेरी मौन-व्यथा।

(इ) यह मूर्छित मूर्छना आह सी निकलेगी निस्सार।

छन्द-योजना :—

सन् १९०९ के पूर्व प्रसाद जी ने मात्रिक और वर्णिक दोनों छन्दों का प्रयोग किया, पर वर्णिक छन्दों की प्रधानता रही। इसके बाद सन् १९१४ तक मात्रिक छन्दों का प्रयोग बढ़ता गया। तत्पश्चात् तो केवल मात्रिक छन्दों का ही प्रयोग हुआ। प्रसाद जी ने देशी-विदेशी सभी प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया। 'चित्राधार' से झरना तक प्रसाद जी के छन्दों का प्रयोग-काल है।

अंग्रेजी शैली पर लिखे गये चतुर्दशपदी सानेट भी उन्होंने लिखे जिनकी संख्या २४ है। इनके सानेटों की तुक प्रणाली स्वतंत्र है। इनमें रोला, उल्लाला तथा ताटंक छन्दों के प्रयोग किये गये हैं। प्रसाद जी ने बङ्गला के त्रिपदी तथा पयार छन्दों को भी अपनाया। 'सान्ध्य तारा' कविता पयार छन्द में ही है। उन्होंने सर्व प्रथम मात्रिक छन्दों का अतुकान्त प्रयोग किया। 'करुणालय' तथा 'महाराणा का महत्व' में २१ मात्रा वाले मात्रिक अरिल्ल छन्द का खुलकर प्रयोग किया। दूसरा नया काम यह किया कि पंक्ति में विरामों का प्रयोग चरणों के आधार पर न करके अर्थ के आधार पर किया।

झरना में छन्दों की भरमार है। प्रेम-पथिक में उन्होंने ३० मात्राओं वाले एक अतुकान्त मौलिक छन्द का भी प्रयोग किया है। आँसू का छन्द तो प्रसिद्ध ही है। लहर में गीत तथा अतुकान्त छन्द हैं। कामायनी में प्रायः ताटंक, पादाकुलक, मदन, रोला, ललित पद, पद्धरि तथा आनन्द आदि अनेक छन्दों का प्रयोग किया है।

मनोविश्लेषण तथा प्रभाव :—

प्रसाद जी के सम्पूर्ण साहित्य का मूल-प्राण मनस्तत्त्व ही है। उनके सभी काव्यों, नाटकों, उपन्यास तथा कहानियों में अन्तर्द्वन्द्वों के सूक्ष्म चित्र भरे पड़े हैं। उनकी कला में कल्पना की रंगीनी, मनोवेगों से ही रंग पकड़ती है। प्रसाद जी का व्यक्तिगत जीवन चिन्तन का सागर है। 'आँसू' में मानव का मन ही फूट कर बह रहा है। 'झरना' में मन का वेग तथा 'लहर' में उसी की प्रबल तरंगें है। कामायनी में मानव-मन का क्रमशः विकास, बड़ी सूक्ष्मता से अंकित हुआ है।

व्यवहारतः 'जन्मत मरत दुसह दुख होई' के अनुसार बालक का जन्म प्रलय की पीड़ा के बीच से ही होता है। मनु प्रलय के बाद 'आशा' की किरणों से अनुप्राणित होकर जीवन में प्रवेश करते हैं। उसी मनःस्थिति में श्रद्धा का उदय होता है। श्रद्धा, दया, ममता तथा करुणा की प्रतिमूर्ति हैं। प्रसाद जी ने मनु में आज के पतित, दुर्बल तथा स्वार्थी मानव के यथार्थ को ही प्रतिष्ठित किया है। प्रसाद के साहित्य में यदि वर्तमान से कहीं स्पर्श है तो बस यहीं मनु के यथार्थ ही में है। स्वार्थी मनु श्रद्धा में कम आकर्षण का अनुभव करके अनायास ही उसको छोड़कर चल देते हैं और आगे चलकर नई रोशनीवाली इड़ा का वरण कर लेते हैं। सच पूछिये तो मनु आज के उन मनचले युवकों का ही प्रतिनिधित्व करते हैं जो अंग्रेजी मनोवृत्ति की नकल करके राष्ट्र का सिरदर्द बन रहे हैं। सम्पूर्ण विश्व में आज यही लहर उमड़ रही है।

एक क्रान्ति द्वारा इस मनोवृत्ति की पराजय दिखाकर प्रसाद जी ने मानव समाज के लिए उपकार की योजना प्रस्तुत की है किन्तु खेद है कि आज का समाज, अपनी बुद्धिवादिता (भ्रष्टाचार और वासना की मदान्धता !) के कारण उस पराजय को तबतक स्वीकार नहीं करेगा जबतक कि वह स्वयं अपना सर्वनाश नहीं कर लेगा। हलाँकि विपक्ष प्रसाद ने भारतीय दर्शन की आशावादिता से प्रेरित होकर मनु का होश कुछ ठिकाने पर ला दिया है। श्रद्धा ही आशा की किरण बनकर स्वार्थी मनु को आनन्द नामक व्यापक स्वार्थ की ओर प्रेरित करती है और मनु के लिए चारा ही क्या है ?

विश्व-मन के भ्रष्ट-प्रवाह और शाश्वत-प्रवाह को देखकर प्रसाद जीने निराशा से, यदि नियति में विश्वास किया हो तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है ? आखीर इस बुद्धिवाद के पास मृत्यु की औषधि ही क्या है ? पिछले

पृष्ठों में हमारा निवेदन इतना ही था कि प्रसाद जी अपने आदर्श पात्रों में से एकाध को यदि वर्तमान-प्रवाह से भिड़ने के लिए छोड़ दिये होते तो वर्तमान का स्पष्ट भण्डाफोड़ भी हुआ होता और उनके आदर्श-सौन्दर्य की महिमा में वृद्धि भी हुई होती। संक्षेप में प्रसाद जी के भव्य साहित्य में विश्व-मन की एक अच्छी अभिव्यक्ति हुई है।

अन्त में प्रसाद जी का साहित्य हमारे मन पर उनके व्यक्तित्व का गम्भीर प्रभाव छोड़ जाता है। हम बहुत कुछ सोचने के लिए बाध्य हो जाते हैं। आशा है विश्व-मन उनके साहित्य में आत्मीयता का अनुभव करेगा क्योंकि उसकी तृप्ति के लिए वहाँ कम सामग्री नहीं है। वर्तमान से असन्तुष्ट मनों को सन्तुष्ट करनेवाले दिव्य-लोक भी वहाँ मिलेंगे। मन की उस यात्रा में उनकी श्रद्धा संबल भी प्रदान करेगी। अनुशासन हीन वर्तमान भ्रष्ट-युग के लिए प्रसाद जी की श्रद्धा बहुत बड़ी देन मानी जाएगी किन्तु खतरा यही है कि यह वर्तमान, अपने भ्रष्टाचार में इसका दुरुपयोग ही करेगा। किन्तु इसमें कलाकार का क्या दोष है?

रामनरेश त्रिपाठी

जीवन-वृत्त :—

आपका जन्म संवत् १९४६ (सन् १८८९) में जौनपुर जिले के कोइरीपुर ग्राम में हुआ। आप को अपना विशेष अध्ययन घर पर ही करना पड़ा क्योंकि उन्हें विद्यालयों में पढ़ने का बहुत कम अवसर मिला। आपको दक्षिणी तथा उत्तरी भारत के अनेक भागों का भ्रमण करने का अवसर प्राप्त हुआ। त्रिपाठी जी के जीवन में उनके अध्ययन तथा भ्रमण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनके मनोहर प्रकृति-चित्रणों तथा मौलिक मनोविश्लेषणों को देखकर पता चलता है कि अपने भ्रमण-काल में उन्होंने प्रकृति तथा मानव-जीवन का कितना सूक्ष्म निरीक्षण किया था।

रचनाएँ :—

त्रिपाठी जी सच्चे साहित्य-सेवी तथा महान राष्ट्रप्रेमी रहे हैं। हिन्दी का उत्थान करने के लिए आपने प्रयाग में हिन्दी-मन्दिर की स्थापना की। उनकी रचनाएँ कई प्रकार की हैं। मिलन, पथिक तथा स्वप्न उनके खण्ड-काव्य हैं। खण्डकाव्य, उस कथा-काव्य को कहते हैं जिसमें मानव-जीवन के मार्मिकतम खण्ड का चित्र अंकित किया गया होता है। उक्त तीनों ही काव्य त्रिपाठी जी की अमूल्य देन हैं। अब तक जो खण्डकाव्य लिखे गये थे उनके नायक पुराण अथवा इतिहास के प्रसिद्ध पात्र ही थे, जैसे गुप्त जी के जयद्रथ वध, सिद्धराज तथा प्रसाद जी का महाराणा का महत्त्व आदि। परन्तु त्रिपाठी जीने अपने काव्यों के नायकों का मौलिक सृजन किया है।

कथा तथा पात्रों के सृजन में आपकी दूसरी मौलिक विशेषता यह है कि वे एक ओर तो युग तथा समाज के आदर्शों का प्रतिनिधित्व करते हैं और दूसरी ओर तीव्र प्रेरणा देते हैं। इस क्रिया में त्रिपाठी जी की मौलिक प्रतिभा तथा उनकी उत्कट देश-भक्ति का परिचय मिलता है। उन्होंने जिन कथाओं की सृष्टि की है वे मार्मिक भी हैं। उदाहरणार्थ स्वप्न को लीजिए, उसका नायक वसन्त अत्यन्त भावुक, कायर तथा निकम्मा व्यक्ति है। देश पर किसी राजा की चढ़ाई हो जाती है और अपना राजा घोषणा कर देता है कि जो देश की रक्षा करेगा वही राजा बना दिया जायगा।

बसन्त की पत्नी सुमना एक आदर्श नारी है। जब देखती है कि प्रेरणा देने पर भी बसन्त देश-रक्षार्थ नहीं बढ़ता है तो पुरुष-वेष बनाकर स्वयं निकल पड़ती है। छद्म-वेष में लौटकर बसन्त को ललकारती है जिससे प्रेरित होकर वह निकल पड़ता है। अन्त में जनता का नेतृत्व करके वह विजयी होता है। त्रिपाठीजी ने इस काव्य के द्वारा देश को जगाने का उपक्रम किया है। मिलन तथा पथिक भी ऐसे ही काव्य हैं। परतंत्र भारत को इन काव्यों से बड़ी प्रेरणा मिली थी।

त्रिपाठी जी की मुक्तक रचनाएँ भी अत्यन्त उत्कृष्ट हैं। अधिकांश वे देश-प्रेम से ओत-प्रोत हैं। 'ग्राम-गीत' एक अच्छा संकलन है। उन्होंने 'प्रेम-लोक' नामक एक नाटक तथा 'तुलसीदास और उनकी कविता' एक आलोचना ग्रन्थ भी लिखा। वे हर प्रकार से देश तथा साहित्य की सेवा के व्रती रहे हैं।

त्रिपाठी जी की काव्यगत विशेषताएँ

काव्य के विषय :—

देश-प्रेम :—देश-प्रेम की जो भावना भारतेन्दु-काल से चली आ रही थी त्रिपाठी जी ने अपनी मौलिक प्रतिभा से उसे बड़ा ही सुन्दर तथा आकर्षक रूप दिया। इसके सम्बन्ध में शुक्ल जी लिखते हैं—"देश-भक्ति को रसात्मक रूप त्रिपाठी जी द्वारा प्राप्त हुआ इसमें सन्देह नहीं।" उनके हृदय में सच्ची देश-भक्ति थी। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में हम रस का अनुभव करते हैं। उस समय देश अंग्रेजों का दास था। देश की दुर्दशा से वे मर्माहत थे। वे हर प्रकार से देशवासियों को जगाना चाहते थे। वे जनता को यह विश्वास दिलाना चाहते थे कि यदि वह उठ जाय तो उसकी मुक्ति हो जायगी। पहले वे अतीत की स्मृति से आत्म-बोध कराते हैं :—

देख चुके हैं जिसका वैभव,
ये नभ के अनन्त तारागण।
अगणित बार सुन चुका है नभ,
जिनका विजय-घोष रण-गर्जन॥

त्रिपाठी जी के व्यथित हृदय में देश-भक्ति का समुद्र लहरा रहा है। उसकी लहरें आकाश तथा दिग-दिगन्त को चूम लेना चाहती हैं। उस समुद्र के नीचे यथार्थ की धरती है। उसमें धधकता हुआ बड़वानल चीत्कार कर रहा है। वह ऐसा बड़वानल है जो आततायी दानवों को निगल जाने के लिए व्याकुल है। उसमें देश के संतप्त हृदय की ज्वाला है।

सागर निज छाती पर जिनके,
अगणित अर्णव पोत उठाकर।
पहुँचाया करता था प्रमुदित,
भूमण्डल के सकल तटों पर॥

त्रिपाठी जी की भावुकता में यथार्थ का वेग है। इतिहास उस यथार्थ का आधार है। कौन ऐसा पाषाण हृदय है जो इन पंक्तियों से विचलित न हो जाय :—

विषुवत रेखा का वासी जो—
जीता है नित हाँफ-हाँफ कर।
हिम-वासी जो हिम में तम में—
जी लेता है काँप-काँप कर॥
वह भी अपनी मातृ-भूमि पर,
कर देता है प्राण निछावर।

क्या यह तर्क काटने योग्य है? कितनी ममता उमड़ रही है?

तुम तो हे प्रिय बन्धु, स्वर्ग सी,
सुखद सकल विभवों की आकर।
धरा शिरोमणि मातृभूमि में,
धन्य हुए हो जीवन पाकर॥
तन रहते कैसे तज दोगे—
उसको हे वीरों के वंशज॥

त्रिपाठी जी के देश-प्रेम की जड़ गहरी है। उस प्रेम का आधार व्यापक है। उसकी जड़ें देश की संस्कृति में गहराई तक पहुँची हैं। त्याग यहाँ की संस्कृति का मूल तत्त्व है। उसका आध्यात्मिक मूल्य है। भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिकता एवं भौतिकता का सन्तुलन है। त्रिपाठी जी सुप्त संस्कृति को जगाना चाहते हैं। कैसी दृढ़ व्याख्या है :—

सच्चा प्रेम वही है जिसकी—
तृप्ति आत्म बलि पर हो निर्भर।

इसी आत्म-बलिदान के अभाव के कारण आज देश भ्रष्टाचार के दलदल में छटपटा रहा है। मानवता कराह रही है। समाज के कर्णधार राष्ट्र को समेट कर भयंकर गर्त में धँस चुके हैं। अभिप्राय यह कि त्रिपाठी जी की इस अनुभूति का मूल्य शाश्वत है।

त्याग बिना निष्प्राण प्रेम है,
करो प्रेम पर प्राण निछावर।
देश-प्रेम वह पुण्य क्षेत्र है—
अमल असीम त्याग से विलसित,
आत्मा के विकास से जिसमें,
मनुष्यता होती है विकसित॥

त्रिपाठी जी का सम्पूर्ण जीवन देश-भक्ति के रस से सराबोर है। यह रस कितना पवित्र तथा निर्मल है। वीरगाथाकालीन आत्मघाती प्रेम-रस, रीतिकालीन वीभत्स प्रेम-रस, राष्ट्रव्यापी स्वार्थी भौतिक प्रेम-रस के सन्दर्भ में इस प्रेम-रस का मूल्यांकन कीजिए। वे प्रश्न करते हैं :—

या वह वैभव देश लोभ वश,
कोई निठुर दस्यु सीमा पर।
आकर धन जन पर पड़ता है,
निर्भय रण-दुन्दुभी बजाकर।
तब नवयुवक स्वतंत्र देश के,
क्या बैठे रहते हैं घर पर?

प्रकृति-प्रेम :—

इस प्रसंग में शुक्ल जी लिखते हैं—"इनके 'पथिक' में दक्षिण-भारत के रम्य दृश्यों का बहुत विस्तृत समावेश है। इसी प्रकार इनके 'स्वप्न' में उत्तराखण्ड और कश्मीर की सुषमा सामने आती है। प्रकृति के किसी खण्ड के संश्लिष्ट चित्रण की प्रतिभा इनमें अच्छी है।" यहाँ 'स्वप्न' से उद्धृत एक चित्र प्रस्तुत है :—

अर्द्ध निशा में तारागण से,
प्रतिबिम्बित अति निर्मल जलमय।
नील झील के कलित कूल पर,
मनोव्यथा का लेकर आश्रय॥

आगे 'ग्राम-गीत' का एक चित्र है :—

चारु चन्द्रिका से आलोकित,
विमलोदक सरसी के तट पर।
बौर-गन्ध से शिथिल पवन में,
कोकिल का आलाप श्रवण कर॥

त्रिपाठी जी के प्रकृति-चित्र अत्यन्त सजीव हैं :—

उमड़ घुमड़ कर जब घमण्ड से,
उठता है सावन में जलधर।
हम पुष्पित कदम्ब के नीचे,
झूला करते हैं प्रति वासर।

मानव-प्रेम :—

त्रिपाठी जी की आत्मा दुखियों की पीड़ा से व्यथित है। एक पीड़ा से सन्तप्त हृदयवाली अभावों की मारी गरीबिनी का चित्र देखिए :—

किन्तु उसी क्षण वह गरीबिनी,
अति विषादमय जिसके मुँह पर।
घुने हुए छप्पर की भीषण,
चिन्ता के हैं घिरे वारिधर।
जिसका नहीं सहारा कोई,
आ जाती है दृग के भीतर॥

इसीलिए वे मानव-सेवा पर विशेष बल देते हैं :—

सेवा है महिमा मनुष्य की,
न कि अति उच्च विचार द्रव्य-बल ?

भाषा-शैली :—

त्रिपाठी जी की भाषा में अनुभूतियों का प्रवाह है। जहाँ वे युवकों में उत्साह भरना चाहते हैं उनकी भाषा में ओज आ जाता है। सामान्यतः उनकी भाषा में प्रसाद तथा माधुर्य गुणों की छटा है। इस छटा को हम सर्वत्र देख सकते हैं। उनकी भाषा परिमार्जित तथा व्यवस्थित है। वह सर्वथा शुद्ध है। इसके सम्बन्ध में शुक्ल जी लिखते हैं :—

"भाषा की सफाई और कविता के प्रसाद गुण पर इनका बहुत जोर रहता है। काव्यभाषा में लाघव के लिए कुछ कारक-चिह्नों और संयुक्त क्रियाओं के कुछ अन्तिम अवयवों को छोड़ना भी (जैसे 'कर रहा है' के स्थान पर 'कर रहा' या 'करते हुए' के स्थान पर 'करते') वे ठीक नहीं समझते।"

संस्कृत शब्दों की अधिकता के होते हुए भी इनकी भाषा में क्लिष्टता नहीं पाई जाती। विषय तथा भावों के अनुसार इनकी कविता में अनेक शैलियों के प्रयोग हुए हैं। इनकी शैली में उपदेशात्मकता, निर्देशात्मकता, छायावादी चित्रमयता तथा भावुकता के विविध रूप मिलते हैं। उन्होंने मूर्त के लिए छायावादी अमूर्तों का भी विधान किया है, यथा 'प्रिय की सुधि सी ये सरिताएँ।' त्रिपाठी जी की भाषा में निर्झरों का वेग है। देश उन्हें कभी भूल नहीं सकता। उनकी साहित्य-सेवा चिरस्मरणीय रहेगी।

गोपालशरण सिंह

जीवन-वृत्त :—

आपका जन्म सन् १८९१ में रीवाँ राज्य के नयी गढ़ी नामक स्थान में हुआ था। उनके सामने जीवन में आर्थिक कठिनाइयों का कोई प्रश्न ही नहीं रहा। क्योंकि वे सम्पन्न राज-परिवार में उत्पन्न हुए थे। दसवीं कक्षा में उत्तीर्ण होने के बाद आपने घर पर ही अध्ययन का कार्य प्रारम्भ कर दिया। उन्हें साहित्य से बड़ा प्रेम था। इसलिये साहित्य-सेवा को ही अपना लक्ष्य बना लिया।

आपका व्यवस्थित रचनाकाल सन् १९१४ से प्रारम्भ हुआ। आप की कविताएँ सरस्वती में छपा करती थीं। आप द्विवेदी जी के कृपापात्र थे। आपने अपने जीवन में द्विवेदी जी से बराबर ही प्रेरणा प्राप्त की। द्विवेदीजी ने उन्हें हर प्रकार से प्रोत्साहित किया। उनकी भाषा तथा उनके आदर्शों पर द्विवेदी जी का स्पष्ट प्रभाव है।

काव्यगत विशेषताएँ

आपने कोई खण्डकाव्य अथवा प्रबन्धकाव्य नहीं लिखा। आपकी स्फुट कविताओं के अनेक संग्रह हैं जिनमें माधवी, कादम्बिनी, मानवी, ज्योतिष्मति, संचिता, सुमना, सागरिका, विश्वगीत ग्रामिका मुख्य हैं। शृंगार भावना, ईश्वर-प्रेम, भक्ति, राष्ट्र-प्रेम तथा दलित-मानवता आदि उनके मुख्य विषय हैं।

देश-प्रेम :—

आपके हृदय में भारत की महिमा के प्रति गहरी आस्था है। जहाँ उन्होंने भारत के गौरव का चित्र खींचा है वहाँ देशोद्धार की प्रेरणा मिलती है।

हे आदि सभ्यता के निधान !
हे आदि यती के साम-गान !
हे जन्म सिद्धि साधक अकाम !
हे दिव्य काम हे दिव्य नाम !

गोपालशरण सिंह के हृदय में भारत का एक दिव्य चित्र है।

हे विश्व-विजेता समर-धीर !
हे अखिल सिन्धु के विपुल तीर !

आदर्श-प्रेम :—

वे मानव जीवन में महान आदर्शों का दर्शन करना चाहते थे। उनकी इच्छा थी की मानव के भीतर मानवोचित गुण अवश्य होने चाहिए। मानव को तन से सबल, मन से दृढ़, सहनशील तथा उदार होना चाहिए। इन्हीं गुणों के अभाव के कारण आज सम्पूर्ण समाज दुख भोग रहा है।

मानव सदा मानव रहे।
उर प्रेम-परावार हो
मन उच्च और उदार हो

वैभव पाकर मानव में दानवता के विकार आ जाते हैं। इन विकारों से विनाश होता है अतः वे चेतावनी देते हुए अपने आदर्श की घोषणा करते हैं :—

रवि-तुल्य तेज निधान हो।
विभवेश शक्र समान हो
लंकेश सा बलवान हो
तो भी न वह दानव रहे !
मानव सदा मानव रहे।

उन्होंने नारी के रूपों के चित्र खींचे हैं जिनमें देवदासी, उपेक्षिता, अभागिनी, भिखारिनी तथा वीरांगना के मार्मिक रूप हैं। एक अभागिनी का करुण चित्र देखिए :—

चुकती है नहीं निशा तेरी,
है कभी प्रभात नहीं होता।
तेरे सुहाग का सुख वाले !
आजीवन रहता है सोता॥

प्रकृति-प्रेम :—

आपके हृदय में प्रकृति के प्रति गहरा अनुराग है। आपकी रचनाओं में प्रकृति के विविध चित्र मिलते हैं। कहीं-कहीं पर प्रकृति जीव तथा ब्रह्म के बीच सम्बन्ध जोड़ने का काम करती है किन्तु जहाँ पर उन्होंने ग्राम-सुषमा का चित्र खींचा है वहाँ उसका रूप बड़ा ही मोहक है। उसी के साथ हमारा ध्यान उन दीन-हीन किसानों की ओर भी चला जाता है जो उस प्रकृति की गोद में शरण पाते हैं।

रम्य लीला-स्थल प्रकृति के
ग्राम हैं छवि धाम।

यंत्रों की हड्डियों में जकड़े हुए नगरों की पैशाचिक सभ्यता से दूर भारत के यह ग्राम सचमुच ही प्रकृति के अंग बन गये हैं। इस चित्र में कवि के हृदय का सौन्दर्य उमड़ रहा है। कैसा संश्लिष्ट चित्र है!

आम्र-वन से हैं कहीं शोभित नदी के तीर
मिल रहे हैं तरु-लता,
छाया-प्रकाश ललाम।

उस बिम्ब में कितनी दिव्यता है!

है तड़ागों में खिले शत-शत कमल के फूल
मृदु मृणालों पर पवन-दोलित रहे हैं झूल
कर रही है प्रेम से मधुपावली गुंजार
हो रहा है पद्म-दल का प्रकट स-स्मित प्यार
स्वर्ण वितरण कर रहीं
रवि-रश्मियाँ अविराम।

यहाँ प्रकृति का आलम्बन रूप है। प्रकृति, भ्रष्ट-मानव की कुत्सित वासनाओं के उद्दीपन का कार्य नहीं कर रही है। इस पवित्र-चित्र की तुलना उन रीतिकालीन जड़-चित्रों से कहाँ तक की जा सकती है! ऐसा प्रतीत होता है मानो उस वातावरण में ईश्वरीय विभूति उमड़ रही है।

दीखते हैं ग्राम में लघु स्वच्छ सुन्दर गेह
है हुआ साकार उनमें मृदु मही का स्नेह
विश्व का सारस्य उनमें कर रहा है वास
दैन्य भी रहता वहाँ बनकर मनुज का दास
संकटों से नित्य होता
धैर्य का संग्राम।

किन्तु हाय! आज इस वर्तमान नेता-तंत्र ने उन ग्रामों को भी श्मशान बना दिया है। वे इस तंत्र की राजनीति के अखाड़े बन गये हैं। वैमनस्य तथा घृणा की ज्वाला से जल रहे हैं। अब वहाँ संकटों से धैर्य का संग्राम नहीं हो रहा है बल्कि स्वार्थ का प्रलयकारी संग्राम हो रहा है।

धान के पौधे हरे चंचल पवन से डोल
ज्ञात होते हैं धरा के चारु अंचल लोल
दीखता है सजल पावस
में मनोरम ग्राम।

आगे प्रकृति तथा ग्रामों का संश्लिष्ट चित्र देखने ही योग्य है:—

फूल अलसी और सरसों के रहे हैं फूल
रत्न भूषित सी धरा है दीखती छवि-मूल।

(किन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि धरा के उपर्युक्त रत्न समाज के मुट्ठी भर लोगों के हाथ में आवद्ध हैं तथा दीन-हीन जनता 'प्रकृति की दीखने वाली छवि' को ही अपने हिस्से में पाती है।)

जो हरी थी बाल गेहूँ की हुई वह पीत
यह शिशिर की हार है ऋतुराज की है जीत
कृषि कृषक के घोर श्रम का
है सुखद परिणाम।

भाषा-शैली :—

आपकी भाषा में आपका मधुर, सरस, सरल तथा कोमल व्यक्तित्व ही मुखरित हो रहा है। उसमें भावानुकूल प्रवाह है। सरलता तथा माधुर्य उनकी भाषा की मुख्य विशेषताएँ हैं। खड़ीबोली को कविता के योग्य ढालने में आपने बड़ा योग दिया। स्थान-स्थान पर मुहावरों के प्रयोग से उनकी शैली में जान आ गई है।

सीधी-सादी अभिव्यंजना ही उनकी शैली की मुख्य विशेषता है। इस शैली से समाज तथा साहित्य का व्यावहारिक उपकार हुआ। आपके छन्द गेय हैं। उनमें मोहक संगीतात्मकता तथा लय है।

महाप्राण निराला का जीवन-वृत्त

पं० श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला" का जन्म बंगाल के महिषा-दल नामक राज्य में सन् १८९६ में हुआ था। इनके पिता पं० रामसहाय त्रिपाठी उन्नाव जिले के गढ़कोला ग्राम के रहने वाले थे। जीविकोपार्जन के लिए वे बंगाल के उक्त राज्य में पहुँच गये थे। वहाँ के राजा के यहाँ नौकरी करने लगे। यहीं पर निराला की शिक्षा-दीक्षा भी हुई। इनके ऊपर राज-दरबार की बड़ी कृपा थी और उसी ने इनकी शिक्षा का प्रबन्ध भी कर दिया था। जब वे तीन वर्ष के थे तभी उनकी माता स्वर्गवासी हो गई।

विद्यालयों की बँधी-बँधाई पढ़ाई से उन्हें सन्तोष न था। वे स्वतंत्र विषयों का विशेष अध्यन करना चाहते थे और ऐसा ही उन्होंने किया भी। जिस प्रकार भारतेन्दु, हरिऔध, गुप्त, प्रसाद तथा त्रिपाठी ने घर पर अध्ययन करके ही विशेष योग्यता प्राप्त की, उसी प्रकार निराला ने भी ऐसा ही किया। वास्तव में विद्यालयों की वर्तमान शिक्षा व्यक्तित्व के विकास में बाधक है। राष्ट्र के लिए आत्म-घातिनी है। इन्हें संगीत तथा अश्वारोहण से भी प्रेम था। इसी से इनके दुहरे व्यक्तित्व का पता चलता है। एक ओर तो इनका हृदय कोमल तथा करुण था दूसरी ओर उनमें तेज तथा अपार पौरुष था। स्वतंत्र अध्ययन से इनके दोनों गुणों का विकास हुआ।

नियति का चक्र कठोर होता है। विश्व के अधिकांश सन्तों तथा कलाकारों के जीवन के साथ इसने खिलवाड़ ही किया है। निराला का सम्पूर्ण जीवन करुणा और वेदना से भरा हुआ है। जब ये २२-२३ वर्ष के थे तभी इनकी पत्नी मनोहरा देवी का शरीरान्त हो गया था। वे विदुषी, उदार तथा प्रेरणा-देनेवाली थीं। उन्होंने ही निराला को हिन्दी सिखा कर उसकी सेवा के लिए प्रेरित किया। उनकी लाड़ली पुत्री भी मर गई। उधर पिता भी चल बसे थे। निराला के ही समान व्यक्ति था जो सब कुछ झेल सका। उन्होंने फिर दूसरा विवाह भी नहीं किया। मरणशय्या तक कला ही उनकी प्रेयसी बनी रही। वही इसके योग्य भी थी। उसी ने श्रीमती मनोहरा का स्थान ले लिया। इसी ने निराला के हृदय को सम्हाल लिया। अब तो निराला तथा कला का जीवन एक हो उठा।

उन्होंने बहुमुखी अध्ययन थोड़े ही काल में कर लिया था। संस्कृत के ग्रन्थों, रामकृष्ण मिशन तथा विवेकानन्द के साहित्य, बौद्धसाहित्य, बँगला साहित्य तथा उसी के माध्यम से अंग्रेजी साहित्य का व्यापक बोध हो गया था। निराला के साहित्य का अध्ययन करते समय उनके व्यक्तित्व, उनकी करुण-कथा तथा गम्भीर अध्ययन का ध्यान रखना चाहिए।

निराला की काव्य-कृतियाँ

निराला का व्यक्तित्व निराला, उनके जीवन के साथ नियति का खेल निराला तथा उनका साहित्य भी निराला है। यहाँ उनकी रचनाओं का सम्यक परिचय ही दिया जा सकता है क्योंकि उनके मूल में निहित भावनाओं का संश्लिष्ट-चित्र प्रस्तुत करना कठिन है। बहुत दिनों तक वह मनन का विषय बना रहेगा। आलोचकों ने उनकी ठोस रचनाओं का प्रारम्भ 'परिमल' नामक कविता-संग्रह से माना है।

अपने जीवन में उन्होंने लगभग ५४ ग्रन्थों का प्रणयन किया जिनमें ८ उपन्यास, ४ कहानी-संग्रह, दो रेखा-चित्र, ४ निबन्ध-संग्रह, ५ जीवनियाँ, अनेक अनूदित ग्रंथ तथा कुल ८ कविता ग्रन्थ हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि निराला का सम्पूर्ण जीवन कला की सेवा में ही बीता। हम उनकी काव्य-कृतियों पर अब अलग-अलग थोड़ा सा विचार करेंगे।

परिमल:—

वैसे तो सन् १९२३ में 'अनामिका' का प्रथम संस्करण निकल चुका था किन्तु निराला को वास्तविक ख्याति 'परिमल' (सन् १९३०) से प्राप्त हुई। इसके पहले ही प्रसाद के 'आँसू' तथा पन्त के 'पल्लव' का प्रकाशन सन् १९-२६ में हो चुका था। उन्ही की भाँति परिमल भी छायावादी रचना थी किन्तु उनकी तुलना में इसकी भाव-भूमि विस्तृत थी। अभिव्यंजना शैली की दृष्टि से भी 'परिमल' का विशेष महत्त्व था। 'आँसू' में शैली तथा 'पल्लव' में उपमानों के अधिक चक्कर थे। उनमें यथार्थ का अभाव तथा भावुकता का आधिक्य था किन्तु 'परिमल' की अभिव्यंजना सरल थी। उसमें जीवन के यथार्थ का स्पर्श था।

इसमें प्रार्थनात्मक, प्रकृति-सम्बन्धी (जैसे प्रभाती, यमुना के प्रति, वासन्ती, तरंगों के प्रति, जलद के प्रति, बसन्त समीर, प्रथम प्रभात, सन्ध्यासुन्दरी, शरद्-पूर्णिमा की विदाई, वनकुसुमों की शय्या, रास्ते के फूल से, प्रपात के प्रति,

बादलराग तथा शेफालिका), प्रेम-परक, सामान्य-मानव-सम्बन्धी दार्शनिक तथा देश-प्रेम सम्बन्धी उत्कृष्ट कविताएँ हैं। 'परिमल' की कविताएँ भाव तथा अभिव्यंजना की दृष्टि से नवीन युग का सूत्रपात करनेवाली हैं। यहीं से निराला के युग-प्रवर्तक रूप का दर्शन मिलने लगता है।

गीतिका (सन् १९३६):—

'गतिका' के सम्बन्ध में प्रसाद जी कहते हैं—"गीतिका हिन्दी के लिए सुन्दर उपहार है। उसके चित्रों की रेखाएँ पुष्ट, वर्णों का विकास भास्वर है। उसका दार्शनिक पक्ष गम्भीर और व्यंजना मूर्तिमती है। आलम्बन के प्रतीक उन्हीं के लिए अस्पष्ट होंगे जिन्होंने यह नहीं समझा है कि रहस्यमयी अनुभूति युग के अनुसार अपने लिए विभिन्न आधार चुनती है। केवल कोमलता ही कवित्व का मापदण्ड नहीं है। निराला जी ने ओज और सौन्दर्य-भावना तथा कोमल कल्पना का जो माधुर्यमय संकलन किया है, वह उनकी कविता में शक्ति-साधना का उज्वल परिचायक है।"

'गीतिका' के गीतों का मुख्य विषय रहस्यवाद है। इसमें जीव-ब्रह्म परक, प्रकृति-मूलक, आध्यात्मिक, देश-प्रेम-सम्बन्धी, प्रेम-परक उत्कृष्ट गीत हैं। गीतिका के गीतों के विषय और भी अधिक हैं। उन गीतों में आकाशचारी कल्पनाओं की अपेक्षा जीवन तथा समाज के सामान्य धरातल को विशेष महत्व दिया गया है। इस प्रयोग के द्वारा निराला जी ने हिन्दी-काव्य-क्षेत्रमें नवीन क्रान्ति कर दी। 'वह जो बछड़े का ... हला रहा' जैसे सामान्य विषयों को देख-कर निराला के साहस पर आश्चर्य होता है। उस तपस्वी की प्रतिभा आश्चर्य-जनक है।

अनामिका (सन् १९३८):—

यह संकलन पहली (सन्१९२३ की) अनामिका से भिन्न है। इसमें निराला का अत्यन्त प्रौढ़ व्यक्तित्व क्रान्ति की नूतन ज्वाला तथा परिवर्तन की भावना से युक्त होकर सामने आया है। इसके स्वरों में ओज की प्रधानता है। अधिकांश कविताओं में कवि ही कविता का विषय है। इन कविताओं में दान, वनवेला, राम की शक्ति-पूजा तथा सरोज-स्मृति विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। अनामिका की नवीन प्रगतिशील कविताओं में 'किसान की नई बहूकी आँखें', 'खुला आसमान', 'ठूँठ', 'तोड़ती पत्थर', और 'सहज' जैसी युगान्तर उपस्थित करनेवाली कविताएँ हैं।

तुलसीदास (सन् १९३८):—

तुलसी के जीवन से सम्बन्धित १०० छन्दों का छोटा सा खण्डकाव्य है। इसमें लोक-प्रचलित कथा का ही सहारा लिया गया है। इसमें कथा तथा घटना की अपेक्षा नायक के मानसिक-विकास पर विशेष ध्यान दिया गया है। इस प्रकार इसमें भी निराला जी का युगानुकूल नवीन प्रयोग ही है।

कुकुरमुत्ता (सन् १९४२):—

इस कविता में पूँजीवाद पर कठोर प्रहार किया गया है। यह व्यंग-प्रधान रचना है। कुकुरमुत्ता निर्धन-वर्ग का तथा गुलाब शोषक-वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। इसमें कवि के हृदय की कटु अनुभूतियाँ ही मुखरित हुई हैं। इसमें भी निराला जी का नवीन प्रयोग ही है।

अणिमा (सन् १९४३) :—

इस संग्रह की रचनाओं के विषय कई प्रकार के हैं। कुछ गीत तो गीतिका की याद दिलाते हैं तथा कुछ कविताओं में शैली के नवीन सरलतम प्रयोग हैं। कुछ में भक्त रैदास, आचार्य शुक्ल, महात्मा बुद्ध, विजयालक्ष्मी, प्रसाद तथा महादेवी की प्रशस्ति है। अणिमा की अधिकांश कविताओं में आश्चर्यजनक सरल शब्दावली का प्रयोग किया गया है।

बेला (१९४३) :—

इस संग्रह में कुछ गीत तथा गजलों के संकलन हैं। उनके सम्बन्ध में स्वयं निराला जी कहते हैं—"बेला मेरे नये गीतों का संग्रह है। प्रायः सभी तरह के गेय गीत इसमें हैं। भाषा सरल और मुहावरेदार है। गद्य करने की आवश्यकता नहीं। देश-भक्ति के गीत भी हैं। बढ़कर नई बात यह है कि अलग-अलग बहारों की गजलें भी हैं जिनमें फारसी के छन्दशास्त्र का निर्वाह किया गया है।"

बेला की अधिकांश रचनाओं में प्राचीन रूढ़ियों, समाज में फैलनेवाली सभ्यता, समाज के ठेकेदारों, गर्वीले साम्यवादियों, कांग्रेसियों आदि पर निराला ने कठोर व्यंग किये हैं। अभिव्यंजना ऐसी सरल है, मानो कवि हमसे हमारी ही भाषा में बातचीत कर रहा हो। इनमें कवि ऐसे वातावरण की सृष्टि कर रहा है मानो हमारी ही स्थिति का चित्रण कर रहा हो। निराला जी ने अपनी अन्तिम रचनाओं में साहित्य को हमारे घरों, आँगनों तथा गली कूचों पर उतार दिया है। उनकी छटपटाती हुई आत्मा हमारा कल्याण करने के लिए व्याकुल है। हमारे जीवन तथा समाज का कोई कोना उनकी आँखों से बच नहीं सका है।

युग-प्रवर्तक निराला के नूतन प्रयोग

निराला जी युग तथा समाज के सच्चे द्रष्टा, उदार हितैषी तथा भविष्य के निर्माता थे। वे पूर्ण युग-प्रवर्तक तथा वास्तविक क्रान्तिकारी थे। उनकी क्रान्ति सर्वतोमुखी थी। इस क्रान्ति के लिए उन्होंने स्वयं ही मौलिक अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण किया। उन अस्त्र-शस्त्रों को चलानेवाले नूतन विचारों तथा भावों को उन्होंने ही जन्म दिया। उनका यह विचार बिल्कुल ही ठीक था कि बिना क्रान्ति के साहित्य तथा समाज का उद्धार नहीं हो सकता। उस क्रान्ति को फलवती बनाने के लिए वे नूतन से नूतन प्रयोग करते गये। वे हिन्दी की अमूल्य विभूति हैं।

निराला जी के सम्पूर्ण जीवन का मुख्य लक्ष्य लोक-मंगल है। वे जानते थे कि पुराने रागों से इस जड़-समाज के रक्त में चेतना नहीं लायी जा सकती। निराला की भावनाएँ मनन करने योग्य हैं :—

"इस युग के कुछ प्रतिभाशाली अल्प-वयस्क साहित्यिक प्राचीन गुरुडम के एकच्छत्र साम्राज्य में बगावत के लिए शासन-दण्ड ही पा रहे हैं, अभी उन्हें साहित्य के राजपथों पर साधिकार स्वतंत्र रूप से चलने का सौभाग्य नहीं मिला। परन्तु ऐसा जान पड़ता है इस नवीन जीवन के भीतर से शीघ्र ही एक ऐसा आवर्त बँधकर उठनेवाला है जिसके साथ साहित्य के अगणित लक्षण उसे एक ही चक्र की प्रदक्षिणा करते हुए उसके साथ एक ही प्रवाह में बह जाएँगे।"

दूसरे स्थान पर निराला जी कहते हैं—"मनुष्य की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। मनुष्यों की मुक्ति कर्म के बन्धन से छुटाकारा पाना है और कविता की मुक्ति छन्दों के शासन से अलग हो जाना।" यहाँ कुछ प्रकृति के चित्र दिये जाते हैं जिनमें छन्द-मुक्त अभिव्यंजना में नवीन सौन्दर्य ढुलक रहा है :—

(१) पल्लव पर्यंक पर सोती शेफालि के
मूक आह्वान भरे लालसे कपोलों के
व्याकुल विकास पर
झरते हैं शिशिर के चुम्बन गगन के।

(२) अस्ताचल ढले रवि,
शशि-छवि विभावरी में

चित्रित हुई देख
यामिनी-गन्धा जगी।— (परिमल)

(३) स्निग्ध यह चन्द्रिका
उतरी सरोवर पर
स्वर्ग की अप्सरा
स्नान करने के लिए
लोक-लोचनों से परे
जिसकी छवि देखकर
कमल वे मुँद गये।

'देवी सरस्वती' से दो चित्र दिये जाते हैं। एक में उनकी प्रतिभा का चमत्कार तथा दूसरे में उमड़ता सौन्दर्य देखने योग्य है। उनकी निराली अभि-व्यंजना-शैली भी विचारणीय है। दोनों ही चित्र नवीन तथा यथार्थ को मूर्त रूप दे देते हैं। उनका युग-प्रवर्तक रूप देखिए :—

(१) घन-मृदंग वादन विद्युन के करों निपुणतर,
नृत्य परी का जैसे अर्जुन के अर्जन पर।

(२) पल्लव से शाखा, शाखा से द्रुम, द्रुम से नव
पुष्प और फल। हँसते बढ़े धान खेतों में,
जल पर हरे रेत जैसे ज्वारो नेतों में
अरहर, काकुन, सावाँ, और कोदो की,
खेती लहराई, वन आई है आमों की।

युग-प्रवर्तक निराला ने अभिव्यंजना के नित्य नवीन प्रयोग किये। उनकी रचनाओं में भावों तथा संगीत का विचित्र समन्वय मिलता है।

भारति जय विजय करे!
कनक शस्य कमल धरे!
लङ्का पदतल शतदल,
गर्जितोर्मि सागर-जल
धोता शुचि चरण कमल
स्तव कर बहु अर्थ भरे।

युग-प्रवर्तक निराला के क्रान्तिकारी नूतन प्रयोग, साहित्य को जीवन तथा समाज की धरती पर उतार देने वाले हैं। उनके प्रयोगों की प्रगतिशीलता जीवन में प्रेरणा तथा युग में नवीनता लाने वाली है।

(१) मेरे घर के पश्चिम ओर रहती है
बड़ी-बड़ी आँखों वाली वह युवती
सारी कथा खुल-खुल कर कहती है
चितवन उसकी और चाल ढाल उसकी।

(२) यह है बाजार !
सौदा करते हैं सब यार।
धूप बहुत तेज थी, फिर भी जाना था।
दुखिया को सुखिया के लिए तैल लाना था,
बनिये से गुड़ का रुपया पिछला पाना था,
चलने को हुआ जैसे बड़ा समझदार।

ऐसे ही समाज के यथार्थ का भण्डाफोड़ करनेवाले, अनेक नूतन चित्र हैं जिन्हें देखकर निराला के अदम्य साहस तथा तेजस्वी व्यक्तित्व का पता चलता है।

(१) वह आता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक
चल रहा लकुटिया टेक
मुट्ठी भर दाने को-भूख मिटाने को,
साथ दो बच्चे भी हैं सदा हाथ फैलाए
बाएँ से वे मलते हुए पेट को चलते...
घूँट आँसुओं के पीकर रह जाते।

(२) वह टूटे तरु की छुटी लता सी दीन—
दलित भारत की विधवा है।

इस ढोंगी समाज की पोल को प्रकट कर देनेवाले व्यंग बड़े ही तीव्र होते हैं। उनकी दृष्टि में मौलिक सूझ तथा अनुभूतियों में प्रखरता है। निराला जी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ व्यंग्यकार हैं। जीवन एवं समाज को नष्ट करने वाले भ्रष्ट-तत्त्वों को वे बरदाश्त नहीं कर सकते थे। वे भ्रष्ट-तत्त्व कभी-कभी तिलमिलाकर उनकी कटु आलोचना करने लगते हैं। वे बड़ी शिष्टता से आरोप लगाते हैं कि इनमें भद्दापन है, मर्यादाहीनता है इत्यादि। निराला की आँखें तेज थीं। उन्होंने समाज तथा साहित्य के कोने-कोने को देखा था। उनकी आँखों से बचना कठिन था।

हमारी धारणा यह है कि निगल जानेवाले भ्रष्ट तत्त्वों पर व्यंग्य ही किये गये तो क्या किये गये ? यदि उनके विष-दन्त नहीं तोड़ दिये गये, रक्त चूसने वाली उनकी जीभें न काट ली गईं, उनके विशाल पेट फाड़ न डाले गये, उनकी शिष्टता तथा सभ्यता के ढोंगी पर्दे को उड़ा न दिया गया, मानवता को निगल जानेवाले उनके विकराल जबड़ों को तोड़ न दिया गया तो उन भ्रष्ट-तत्त्वों को अपनी शिष्टता का कोमल प्रदर्शन करने का अवसर मिलता ही रहेगा। विशेष हैरानी तो विश्व की पचहत्तर प्रतिशत उस पतित जनता पर होती है जो करोड़ों वर्षों से चकमें तथा भ्रम में पड़कर सड़ रही है। वे भ्रष्ट-तत्त्व कभी फूट डालकर, कभी विश्वासघात करके, कभी धर्म के ढोंग से, कभी शिष्टता की मर्यादा दिखाकर, कभी जाति और वंश की आन दिखाकर तथा कभी रोटी के टुकड़ों का लोभ दिखाकर, उस पतित बहुमत पर शासन करते हैं और उसे शिष्टता तथा नम्रता सिखाते हैं।

भावी साहित्यकारों को चाहिए कि वे अब स्पष्ट घोषणा कर दें कि अब हमको आपकी प्रशंसा की आवश्यकता नहीं है। आपकी प्रशंसा एक चकमा है। जब तक वह ढोंग कुचल नहीं दिया जायगा तब तक काव्य के सर्वग्राही साधारणीकरण के चक्कर में पड़ना भी धोखा ही उठाना है। कभी-कभी कलाकारों को शिक्षा दी जाती है कि उनकी कला महान होनी चाहिए और उसे चन्द शोषितों की सीमा में नहीं बँधना चाहिए। कैसा दुहरा चकमा है ! 'महान' तथा 'चन्द' शब्द कितने भ्रामक हैं ! क्या कलाकार यह भूल गये हैं कि उनकी लाखों वर्षों की बिखरी हुई साधना व्यर्थ चली गई है ! क्या भविष्य में भी उनकी साधना को बह जाना ही पड़ेगा ? निराला की करुण-आत्मा हमसे ऐसी दुराशा नहीं कर सकती।

निराला के व्यंग्यों में भावी कलाकारों के लिए आशा की किरण है। उनमें एक बहता हुआ प्राण है जो शक्ति देनेवाला है। अब तो उससे प्रेरणा लेकर उस व्यंग्य के प्रश्न ही को समाप्त कर देना है। जब वे भ्रष्ट तथा ढोंगी तत्त्व रहेंगे ही नहीं तो निरर्थक प्रयास ही क्यों करना पड़ेगा ? अब मनोविश्लेषण के दीर्घसूत्री चकमों में नहीं फँसना है। अब यथार्थ के नाम पर मजदूरों और किसानों के प्रेम-गीत कब तक गाये जाएँगे ? अब तो कलाकारों को पहले अपनी संयुक्त-शक्ति पर विचार करना होगा, फिर चेतना के ऐसे नवीन स्वरों को ढूँढ़ना होगा जिनसे ऐसा विस्फोट हो जाय कि सदा के लिये वारा-न्यारा हो जाय। इस विस्फोट के पीछे निराला की तड़पती हुई आत्मा पूजनीय है।

उस युग-द्रष्टा ने विश्व-समाज की सड़ी हुई नब्ज को पहचान लिया था। उसे कुछ काल के लिए निन्दित होना स्वीकार था किन्तु अब वह साहित्यिक तथा सामाजिक भ्रष्टाचार सहने को तैयार नहीं था क्योंकि अब तो वह मानवता की मुक्ति ही चाहता था। मुक्ति, मुक्ति बस केवल मुक्ति। सड़े हुए संस्कारों के भीतर इस मुक्ति कि जड़ जमानी थी। भ्रष्ट-तत्त्वों ने उस धरती के रस को चूसकर बंजर बना दिया था। नये बादलों से वर्षा करके, उसे उस शुष्क धरा को उर्वर भी बनाना था। उस तपस्वी की करुणा कितनी मार्मिक है? उसके पूज्य-हृदय में मंगल के प्रति जो भक्ति तथा भ्रष्ट तत्त्वों के प्रति जो ज्वाला (तथाकथित अशिष्टता) थी उसके संश्लिष्ट रूप को समझ लेना ही आज के युग की सबसे बड़ी बहादुरी है।

निराला के जीवन का मुख्य लक्ष्य था लोक-मंगल। लोक मंगलकी उन्होंने जीवन भर साधना की। इसी सच्ची साधना ने उन्हें बल तथा संबल प्रदान किया। उन्होंने जो विद्रोह किया उसका उद्देश्य विध्वंस नहीं था बल्कि घातक जड़ता की जड़ों को वे उखाड़ देना चाहते थे। उनके मुक्त-छन्दों में भी भावानुकूल लय है। वे कला के सम्पूर्ण तत्त्वों को नवीन रूप देकर लोक-सेवा में लगा देना चाहते थे। वे समाज को प्रगति के पथ पर लाना चाहते थे किन्तु अपने प्रगतिवाद के लिए वे मार्क्स का दास नहीं बनना चाहते थे :—

बाल्मीकि ने पहले वेदों की लीक छोड़ी,
छन्दों में गीत रचे, मंत्रों को छोड़कर,
मानव को मान दिया,
धरती की प्यारी लड़की सीता के गाने गाये।
वर्जिन स्वैल, गुड अर्थ, अब के परिणाम हैं।

वर्तमान व्यवस्था तथा नेतागीरी पर भी उनके महत्त्वपूर्ण व्यंग्य हैं :—

(१) गाँधीवादी आए
देर तक गाँधीवाद क्या है, समझाते रहे।
गोली चलने लगी।
भीड़ भगने लगी

(२) आजकल देश में पंडित जी विराजते हैं।
माता जी को स्वीट्जरलैंड के अस्पताल,
तपेदिक के इलाज के लिए छोड़ा है।
बड़े भारी नेता हैं।

कुल्हरीपुर गाँव में व्याख्यान देने
आये हैं मोटर पर।

विश्वम्भर मानव लिखते हैं—"वे एक साथ छायावादी, प्रगतिवादी, प्रयोगवादी, राष्ट्रवादी, मानवतावादी और ब्रह्मवादी भी हैं। वे व्यक्तिवादी भी हैं और समष्टिवादी भी, यथार्थवादी भी और आदर्शवादी भी, निराशावादी भी, और आनन्दवादी भी। उनमें कभी प्रखर अहं उभरता है, कहीं सजल दीनता। समाज, राजनीतिक, धर्म, दर्शन, मनोविज्ञान, संस्कृति के क्षेत्र की कोई ऐसी बात नहीं जिससे वे परिचित न हों। वे मुक्त-छन्द के प्रवर्तक हैं, पर छन्दबद्ध काव्य पर उनका असाधारण अधिकार है। भाषा कहीं एकदम संस्कृतनिष्ठ है, कहीं बिल्कुल बोलचाल का। काव्य कहीं अत्यन्त सरल है, कहीं अत्यन्त दुरूह। अभिव्यक्ति कहीं शुद्ध अभिधामूलक है, कहीं समास, प्रतीक, बिम्ब, नाद, लय, ध्वनि, मानवीकरण और चित्रमयता से पूर्ण। इस प्रकार भाव, विचार कल्पना और कला के क्षेत्र में विरोधी तत्त्वों के अपूर्व सामंजस्य का दूसरा नाम है—निराला। वे पूरा एक युग हैं।"

निराला जीवन भर नये-नये प्रयोग करते रहे किन्तु उनके प्रयोगों का लक्ष्य एकांगी प्रयोगवाद नहीं। वास्तव में उनकी आत्मा में लोक-मंगल तथा मानवता के उद्धार के लिए एक व्याकुलता थी। इस व्यग्रता को हम उनके प्रयोगों के क्रम में देख सकते हैं। यहाँ हम एक और बात पर भी अपना मत प्रगट कर देना चाहते हैं। आज का प्रयोगवाद फ्रायड के प्रभाव में मनोविश्लेषण को आधार बनाकर चल रहा है। इस प्रयोग को मनोविज्ञानवाद या मनोविश्लेषणवाद नाम न देकर, प्रयोगवाद नाम दिया गया है। ऐसा करके साहित्य में एक धोखा खड़ा किया गया है। प्रत्येक कलाकार अपनी कला में कुछ प्रयोग ही तो करता है? निराला जी ने लोक-मंगल के लिए जो व्याकुल-प्रयोग किये उनसे प्रयोग शब्द धन्य हो गया। इसके बाद अब प्रयोगवाद कैसा? कलाकार तो वाद क्या?

छायावाद में कल्पना-विलास है। किन्तु कलाकार, बुद्धि-विलास में फँसकर प्रतिभा का दुरुपयोग क्यों करता है और यदि ऐसा करता भी है तो उसी को लक्ष्य क्यों बना लेता है? क्या समाज की पीड़ा का कारण उसकी मनोग्रन्थियाँ हैं कि कुछ अन्य कारण हैं जिनसे इन ग्रन्थियों का निर्माण होता है? यदि प्रयोग ही करना हो तो क्यों न उन कारणों पर प्रयोग किया जाय जिनसे सारी समस्याएँ ही हल हो जायँ और पृथ्वी नरक से स्वर्ग बन जाय? यह प्रयोग या तो एकांगी है अथवा मानवता को चकमा देने वाला है। कुछ

कलाकार ऐसा करके भी सेवा कर सकते हैं जिस प्रकार सीमा-रक्षक युद्ध-रत सैनिकों को सिगरेट भेजकर भी सेवा की जा सकती है। सिगरेटों से सैनिकों का मानसिक लाभ हो सकता है किन्तु वे अन्तिम अस्त्र नहीं हैं और न लक्ष्य ही हैं। निराले तथा नवीन प्रयोगों द्वारा युग-प्रवर्तक निराला ने क्रान्ति कर दी। वह तपस्वी सदा पूजनीय रहेगा।

महाकवि निराला की काव्य-कला

निराला की कला में प्राचीन बन्धनों से मुक्त होने की तीव्र व्यग्रता है और वह इसलिए कि उसे छटपटाती हुई आत्मा का उद्धार करना है। उसका यह व्यावहारिक अनुभव है कि प्राचीन जड़-संस्कार, इस पावन साधना में बाधक हैं। जो प्राचीन तत्त्व इस रण-यात्रा में सहायक हैं वे तो वरणीय हैं किन्तु सड़े हुए जड़-तत्त्व फूँक देने योग्य हैं। उनकी कला में सत्य को धरती तथा शिव का सौन्दर्य है। उनके शिव में ताण्डव की शक्ति तथा नृत्य का सौन्दर्य है। इस प्रकार वही सुन्दर है जो सत्य का शिव करे। उनका शिव क्रान्ति से डरने वाला नहीं। वह मर्यादा के धोखे में पड़कर मंगल-च्युत होनेवाला नहीं। निराला की कला का यह एक रहस्य है जो प्रगट भी है।

निराला की कला ऐसे प्राचीन-सौन्दर्य का भार ढोना पसन्द नहीं करती जिससे उसके शिव का तेज ही दब जाय। उसमें रणचण्डी की करुणा है। उसके नूपुरों की ध्वनि में चक्की-धुन की गति, विश्वासों का ताल, क्रान्ति की लहर, चेतना का कम्पन तथा मानवता प्रेम का राग है। यदि नित्य-नवीनता ही सौन्दर्य है तो वह चिर-नवीन है। इस कला-देवी के स्वतंत्र-व्यक्तित्व का मूल्यांकन करने के लिए कसौटी भी नवीन ही होनी चाहिए। कोई भी रूढ़ि-बद्ध कसौटी इस कार्य को नहीं कर सकती। उस देवी का एक मात्र लक्ष्य है लोक-मंगल।

यदि ध्वनि अथवा रस की दृष्टि से उनकी कला की समीक्षा करना चाहें तो यह कहना पड़ेगा कि ऐसी व्यापक भूमिका केवल तुलसी और रत्नाकर में ही मिलेगी। वीर, शृंगार तथा करुण रसों की ऐसी दिव्य-धारा केवल एक कवि के साहित्य में यदि मिल सकती है तो तुलसी अथवा रत्नाकर ही ऐसे कवि थे। परन्तु यह भी ध्यान रखना चाहिए कि निराला का उद्देश्य भी तुलसी के समान 'मंगलानाम्' ही है। वे काव्य में रस की निष्पत्ति केवल पीड़ित तथा दबी हुई मानवता में जीवन लाने के लिए ही करना चाहते हैं। ध्वनियों की दृष्टि से वे अपने लक्ष्यार्थों तथा व्यंग्यार्थों द्वारा प्रबल चेतना ही उत्पन्न करना चाहते हैं।

प्रतिपल परिवर्तित व्यूह भेद-कौशल-समूह,
राक्षस-विरुद्ध-प्रत्यूह, क्रुद्ध-कपि-विषम हूह,
विच्छुरित-वह्नि राजीव-नयन हत लक्ष्य-वाण,
लोहित-लोचन-रावण-मदमोचन-महीयान।

यहाँ वीर-रस का प्रबल वेग धरती एवं गगन को झकझोर देने वाला है। लोहित-लोचन-रावण कितना प्रबल आलम्बन है? कपि तथा राम दो-दो आश्रय हैं किन्तु सब मिलकर एक शक्ति हैं। हूह करना तथा वाणों से अग्नि बरसाना आदि कितने सशक्त अनुभव हैं? यहाँ 'राजीव-नयन' शब्द की सार्थकता विचारणीय है। व्यंग्यार्थ में यह ध्वनित करता है कि रावण कैसा भयंकर आततायी था कि कोमल स्वभाववाले राम को भी अस्त्र उठाना पड़ा। वह शब्द अभिधार्थ में राम की विशेषता बतलाता है किन्तु लक्ष्यार्थ में राम के प्रति सहानुभूति मूलक भूमिका तैयार करके रस के साधारणीकरण के लिए मार्ग प्रशस्त करता है। उधर 'लोहित-लोचन' का प्रयोग भी साभिप्राय है।

हिन्दी-साहित्य में भिखारी, विधवा तथा तोड़ती पत्थर आदि करुण-रस की कविताएँ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इनके सजीव आलम्बन करुणा की मूर्ति हैं। वहाँ करुणा की धारा यथार्थ की धरती पर बह रही है। भिखारी का पछताना, दो बच्चों द्वारा पेट पर हाथ रखना तथा दूसरा हाथ फैलाना आदि कितनी उद्दीपक चेष्टाएँ हैं। उनकी व्यंग्यपरक कविताओं में उनके हृदय की करुणा तथा क्रोध का मिश्रित वेग बड़ा ही सशक्त है। सरोज-स्मृति तथा अन्य ऐसी पंक्तियों में जहाँ उनकी पत्नी की करुण-मूर्ति की याद की गई है, पाठक अपने को रोक नहीं पाता, अनायास ही फूट पड़ता है।

निराला के साहित्य में शृंगार की धारा वासना की सड़ी गलियों में नहीं बहती। उनकी कला का शिव ही उस सौन्दर्य-सरिता का मूल-स्रोत है उसकी धारा उस शिव की जटाओं से निकल कर दीन-हीन-पीड़ित तथा जीवन के थकित सगर-सुतों का उद्धार करती है। उस भगीरथ को प्रत्येक युग नमस्कार करेगा। रीतिकालीन कवियों ने सौन्दर्य की धारा को नायिका के हाव-भावों तथा दरबारों में बाँध दिया था। छायावादी कलाकार उसको आकाश में प्रवाहित करने लगे किन्तु वहाँ भी उसमें वासना के सड़े तत्त्व मिले हुए थे। हिन्दी साहित्य में केवल तुलसी ही ऐसे सन्त थे जिनके साहित्य में सौन्दर्य की मन्दाकिनी का लोक-मंगलकारी रूप था। निराला की गंगा की लहरें कभी गाँव की गड़ही में तरंगित होती हैं कभी अरहर, ज्वार, अलसी, मटर तथा धान के खेतों में तरंगित होती हैं।

(१) झूले हँसी-हिंडोले सावन के, भादों के,
वालाओं के स्रोत, वहाए संगीतों के ।

(२) खेत निराती हैं बालाएँ, कर लिए खुरपियाँ,
गाती बारहमासी, सावन और कजलियाँ ।

(३) शरद पंकजों से खंजन नयनों से प्रेक्षण,
हरसिंगार के हार विश्व के द्वार प्रतीक्षण,
नमित शालि से भरी हुई, सुन्दर वन-वसना,
श्वेत शशि-मुखी जगती पर मधुराधर-हसना ।

अन्तिम चार पंक्तियों में सौन्दर्य का जैसा सजीव विराट रूप है, हिन्दी साहित्य में अन्यत्र सम्भवतः ही मिले । नारी के वासनामय-शृङ्गार का दर्शन करने वाले, उस रूप का दर्शन, थोड़ा साहस के साथ करें । शरद की सुन्दरी का खंजन नयनों से प्रेक्षण तथा विश्व के द्वार पर प्रतीक्षण, शालि से भरी (स्नो, पाउडर अथवा गहनों से नहीं) वह वन-वसना अपने श्वेत-शशि-मुख से मधुर हँसी बिखेर रही है । यहाँ निराला ने 'शालि' शब्द के द्वारा कृषक जीवन को कितना दिव्य तथा विराट रूप दे दिया है ! निराला ने कला के अन्य तत्त्वों की भाँति शृङ्गार तथा सौन्दर्य का भी उद्धार किया है । ऐसी बात नहीं कि परुष व्यक्तित्व के कारण वे सौन्दर्य में रुचि नहीं रखते ।

जहाँ तक करुण-रस का प्रश्न है इसके सम्बन्ध में तो कुछ पूछना ही नहीं है । करुणा तो उनके हृदय का मूल तत्त्व है । उनके किसी भी भाव की तरंगों के भीतर अन्तस्तल में मूल करुणा की प्रेरणा ही काम करती है । वैसे तो स्पष्ट करुणा के प्रसंग भी अनगिनत हैं जिनमें विधवा, भिखारी, सरोज-स्मृति तथा तोड़ती पत्थर अत्यन्त प्रसिद्ध हैं । कुछ उद्धरण देखने योग्य हैं :—

(१) छिना हुआ धन, जिससे आधे नहीं वसन तन ।
आग तापकर कर रहे हैं गृह-जीवन ।
उनको दिखा रही हो तारे टूट रहे हैं,
पत्रों के डाल के सहारे छूट रहे हैं;—(देवी सरस्वती)

(२) देखते देखा मुझे तो एक बार
उस भवन की ओर देखा, छिन्नतार,
देखकर कोई नहीं,
देखा मुझे उस दृष्टि से
जो मार खा रोई नहीं,

लीन होते कर्म में फिर ज्यों कहा—
'मैं तोड़ती पत्थर।'

ऊपर की अन्तिम चार पंक्तियाँ कितनी मार्मिक हैं ? उस मजदूरनी की करुण आँखों की तह में निराला की करुण दृष्टि कितनी गहराई तक पहुँच जाती है ! निराला की निम्नांकित पंक्तियाँ भावी कलाकारों के मानस में गूँजती रहेंगी ? उनके लिए कैसा आमंत्रण है ?

ठहरो अहा, मेरे हृदय में है अमृत, मैं सींच दूँगा,
तुम्हारे दुख मैं अपने हृदय में खींच लूँगा।

अलङ्कार :—

निराला जी संगीत-प्रेमी हैं अतः उनकी रचनाओं में स्थान-स्थान पर अनुप्रासों की तरंगे हैं। नीचे की पंक्ति में अनुप्रास तथा रूपक की संयुक्त छटा देखने योग्य है।

(१) घन-मृदंग वादन विद्युत के करों निपुणतर।
(२) जल-तरंग खग-कुल कलरव के मधुर स्वर

पीछे शृङ्गार-रस के तृतीय उद्धरण में शरद की सुन्दरी का मानवीकरण देखने योग्य है। नीचे एक ऐसा ही उदाहरण है।

मेघमय आसमान से उतर रही है
वह संध्या-सुन्दरी परी-सी
सखी नीरवता के कन्धे पर डाले बाँह
छाँह-सी अम्बर पथ में चली।

नीचे उपमा के नवीन उपमान (मूर्त के लिए अमूर्त का विधान) देखिए :—

वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा सी,
वह दीप शिखा सी शान्त, भाव में लीन,
वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति रेखा सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता सी दीन
दलित भारत की विधवा है।

निराला ने मानव-जीवन तथा उसके भावों को ही अपने साहित्य का मूल विषय बनाया। अलंकार, भाषा तथा छन्दों को तो अभिव्यक्ति का केवल साधन समझा। एक बात और समझ लेनी चाहिए कि यदि निराला की इच्छा ललित-

काव्यों की रचना करने की रही होती तो जैसी उनकी प्रतिभा थी, बहुत कम ललित काव्यों के रचयिता उनकी तुलना में टिक पाते। परन्तु उन्होंने स्पष्ट ही समझ लिया था कि मानवता को अब और अधिक भुलावा में रखना घोर पाप होगा। यही कारण है कि उन्होंने जड़ता का प्रसार करनेवाले प्राचीन ललित तत्त्वों को भी ध्वस्त किया क्योंकि मरती हुई मानवता की प्राणरक्षा, नवीन चेतना से ही हो सकती थी ! उन्होंने सौन्दर्य को नया जीवन दिया।

छन्द-योजना :—

निराला के नवीन छन्दों को देखकर इस भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए कि विद्रोह ही उनका लक्ष्य था। वास्तव में समाज तथा साहित्य की आत्मघाती जड़ता से वे क्षुब्ध थे। उस जड़ता की नस-नस को उखाड़ने के लिए वे व्यग्र हो उठे। एक सजीव व्यवस्था लाने के लिए ही उन्होंने वह अव्यवस्था उत्पन्न की। वे जड़ता में अव्यवस्था लाकर जीवन में वास्तविक व्यवस्था लाना चाहते थे। निराला के विद्रोह के सन्तुलित प्रयोगों पर शान्त चित्त से विचार करना चाहिए।

दूसरे शब्दों में उनकी यह योजना थी कि छन्दों को भाषा तथा शब्दावली का छन्द न बनकर, अब जीवन तथा उसके भावों का छन्द बनना चाहिए। उनकी छन्द-योजना का वास्तविक रहस्य यही है। अभिप्राय यह कि छन्दों में लय हो किन्तु भावों की लय हो, छन्दों में गति हो किन्तु जीवन की गति हो। वे प्राचीन के नाम के विरोधी नहीं थे बल्कि चाहे प्राचीन हो या नवीन, वास्तव में भ्रष्ट-जड़ता के विरोधी थे। बहुत से प्राचीन छन्दों को भी उन्होंने अपनाया किन्तु लक्ष्य के अनुकूल बनाकर। उन्होंने लोक जीवन को ही लक्ष्य बनाया और उसे ही प्रगति के पथ पर बढ़ाना चाहा।

निराला के गीतों की संगीतात्मकता में जीवन की तन्मयता तथा अनुभूतियों का आरोह-अवरोह है। उसमें शक्ति के ताल तथा लक्ष्य के सम हैं। भाव का आलाप तथा यथार्थ के राग हैं। पुकार के स्वर तथा जागरण के टुकड़े हैं। वर्तमान के बोल तथा भविष्य की तिहाई है। हृदय का तार तथा प्राणों की ध्वनि है। मंगल का अर्थ तथा मानव की टेक है। कुछ उदाहरण हैं :—

(१) नयनों के डोरे लाल गुलाल भरे, खेली होली।
जागी रात सेज प्रिय पति संग, रति सनेह रंग घोली
दीपित दीप प्रकाश कंज छवि मंजु-मंजु हँस खोली
मली मुख चुम्बन रोली।

(२) काले काले बादल छाए न आए वीर जवाहरलाल।
कैसे कैसे नाग मँडलाये, न आए वीर जवाहरलाल॥
महगाई की बाढ़ बढ़ आई, गाँठ की छूटी गाढ़ी कमाई।
भूखे नंगे खड़े शरमाये, न आए...... ।

(३) जीवन प्रदीप चेतन तुमसे हुआ हमारा;
ज्योतिष्क का उजाला, ज्योतिष्क से उतारा।

गीतों के अतिरिक्त मुक्त-छन्दों में भी भाव की लय, मन्द-मन्द चलती रहती है। वास्तव में वहाँ जीव की गति तथा उसी के यथार्थ का आरोह-अवरोह रहता है। हमारे जीवन में व्यवस्था ही कितनी है ?

(१) भरा हुआ है तालाब,
खेलती हैं मछलियाँ
पानी की सतह पर
पूँछ पलटती हुई।

(२) बाईं बगल कुछ आगे बढ़ी पड़ी
गाँव के किनारे की बड़ी गड़ही
भरी हुई किनारे तक उमड़चली
बहती हुई गाँव के नाले से मिली

(३) पड़ी चारपाई जिस पर बैठा तकवाहा,
चूल्हा वहीं कहीं लगवाया जिसने चाहा,

(४) चेहरा पीला पड़ा।
रीढ़ झुकी। हाथ जोड़े।
आँख का अँधेरा बढ़ा।
सैकड़ों सदियाँ गुजरीं।

अन्त में निवेदन यह है कि आज के कलाकार जो मुक्त छन्दों को युग का फैशन बना रहे हैं उन्हें निराला की शक्ति तथा साधना की ओर ध्यान देना चाहिए। निराला में संगीत का ऐसा बोध तथा आविष्कार करनेवाली ऐसी प्रतिभा थी कि वे अव्यवस्था को भी व्यवस्था दे सकते थे, गरल को भी अमृत बना सकते थे, सूखी सरिता में भी स्रोत फोड़ सकते थे। उनके उपमान भी या तो परिचित थे या लोक-जीवन से एकत्र किये गये थे। उनका सम्बन्ध विलायती जीवन से नहीं था। जब बिच्छू का भी मंत्र सिद्ध नहीं तो साँप के बिल में हाथ डालना ठीक नहीं। साहित्य में लोकरस की यदि पकड़ न लाई

गई तो कीर्ति की कामना भी अधूरी रह जायगी। यह पकड़ बलिदान तथा बड़ी साधना से प्राप्त होती है। निराला ने अपना सम्पूर्ण जीवन तथा हृदय इसी साधना को समर्पित कर दिया था।

निराला जी ने छन्दों के विविध प्रयोग किये हैं। उनमें सममात्रिक-सान्त्यानुप्रास, विषम-मात्रिक सान्त्यानुप्रास और स्वच्छन्द-छन्द के प्रयोग हैं! गीतिका, आराधना तथा गीत-गुंज तो गीत-काव्य हैं। वेला में गीत और गजलें हैं। स्वच्छन्द-छन्दों का सर्वप्रथम प्रयोग अमेरिका के कवि वाल्ट ह्विटमेन ने सन् १८५५ में ही किया था जहाँ उसका घोर विरोध हुआ था। उसकी कविताओं को कोई प्रकाशक छापने तक के लिए तैयार न था। इस शैली का प्रभाव बंगाल के रवीन्द्र, विवेकानन्द तथा गिरीश घोष पर पड़ा। निराला ने तो मुक्त-छन्दों का सम्बन्ध वेदों से स्थापित किया है।

इनके पहले हरिऔध, गुप्त तथा प्रसाद जी ने अतुकान्त छन्दों का साहस दिखाया था किन्तु निराला ने और आगे बढ़कर छन्दों को मात्रा तथा वर्णों अथवा चरणों के बन्धन से भी मुक्त कर दिया। इस प्रकार निराला के मुक्त-छन्द अतुकान्त, चरण-विषम, मात्रा-वर्ण की रीतिबद्ध गणना से मुक्त तथा लय-युक्त होते हैं। वर्तमान अनेक कवि तो छन्दों को लय-मुक्त भी कर रहे हैं।

भाषा-शैली :—

निराला जी की रचनाओं में भाषा के भी विविध प्रयोग हैं। कठिन से कठिन संस्कृतनिष्ठ भाषा से लेकर बोलचाल तक की भाषा का उन्होंने प्रयोग किया है। प्रारम्भ में 'परिमल' से 'तुलसीदास' तक हम प्रायः संस्कृतनिष्ठ भाषा का रूप देखते हैं तथा द्वितीय अथवा अन्तिम चरण में भाषा की सरलता की प्रधानता दिखाई देती है।

निराला की भाषा में ब्रजभाषा तथा देहाती बोलियों के शब्द सुघराई, अरघान, सोहना, सीझना, माँझ, धाय, हेरें, सरसाई, मूरत, छाँह आदि के मुक्त प्रयोग पाये जाते हैं। अरबी-फारसी के शोले, जमीं, तूफाँ, गरीब, साज, सूरत- कतार, जरा, बहार, रफ्तार, वक्त, हरगिज, गैर तथा जमीन्दार आदि के प्रयोग हैं। संस्कृत के अक्षतपश्चय, विनिस्तन्द्र तथा कुज्झटिका जैसे प्रयोगों से लेकर अंग्रेजी के क्लाइमेक्स, पोइंट, ट्रैप तथा क्वाइट तक के प्रयोग भी हैं।

उनकी शब्दावली में लिंग-दोष तथा तोड़-मरोड़ भी हैं, जैसे सीख लो के स्थान पर सिख लो, चाहती हैं के स्थान पर चहती हैं। जो कुछ भी हो निराला ने अपनी भाषा में एक ओर साहित्य को सँवारने तथा दूसरी ओर लोकरस को पकड़ने का प्रयोग किया है।

उपसंहार :

निराला जी की भावनाओं तथा प्रयोगों की मार्मिकता को समझने के लिए निम्नांकित उद्धरण बहुत उपयोगी होंगे। वे कवि से कहते हैं :—

महाप्राण ! जीवों में देते हो
जीवन हो जीवन जोड़,
मोड़ निज सुख से सुख।
फूलते नहीं हैं फूल वैसे वसन्त में
जैसे तव कल्पना की डालों पर खिलते हैं।

सच पूछें तो महाप्राण निराला ही पर उपर्युक्त आदर्श घटित होता है। जीव में जीवन को वही जोड़ सकता है जो 'निज-सुख' को उधर ही 'मोड़' सके। निराला योगी, सन्त तथा महात्मा हैं। वे धन्य हैं। वे कविता से कहते हैं :—

(१) आज नहीं है मुझे और कुछ चाह
अर्धविकच इस हृदय-कमल में आ तू
प्रिये, छोड़कर बन्धनमय छन्दों की छोटी राह !
गजगामिनि, वह पथ तेरा संकीर्ण,
(२) सहज सहज पग धर आओ उतर,
देखें वे सभी तुम्हें पथ पर।
वह जो सिर बोझ लिए आ रहा,
वह जो बछड़े को नहला रहा,
वह जो इस-उससे बतला रहा,
देखूँ, वे तुम्हें देख जाते भी हैं ठहर ?

ऊपर की पंक्तियों में निराला की भावना, भावी कलाकारों के लिए प्रेरणा बने तो अच्छा हो। कविता को बन्धन-मुक्त इसलिए होना है ताकि उसका रूप तथा उसकी गति सहज तथा स्वाभाविक बन सके क्योंकि उसे भोले तथा पीड़ित सामान्य जनों को आकर्षित करना है। निराला का लक्ष्य कितना हृदयग्राही है ! ऊपर के तीन छन्दों में निराला तथा भावी युगों के सम्पूर्ण रहस्य छिपे हुए हैं। सहज रूप धारण करने के लिए कविता को जीवन के नित्य नवीन रूप धारण करने होंगे। इसमें कठोर साधना की आवश्यकता होगी।

———

पन्त जी का जीवन-वृत्त

पं० सुमित्रानन्द पन्त का जन्म अलमोड़ा से २५ मील उत्तर कौसानी नामक एक रमणीक तथा पर्वतीय ग्राम में सन् १९०० ई० में हुआ था। आपके पिता का नाम पं० गंगादत्त पन्त तथा माता का नाम श्रीमती सरस्वती देवी था। आपके पिता एक अच्छे जमींदार तथा वहाँ के राज्य के कोषाध्यक्ष थे। पन्त जी अपने चार भाइयों में सबसे छोटे हैं। गाँव की पाठशाला में चार-पाँच वर्ष पढ़ने के बाद आप अलमोड़ा के गवर्नमेण्ट हाईस्कूल में भरती किये गये। यहाँ से नवीं कक्षा तक पढ़ने के बाद वे काशी आ गये। काशी जयनारायण हाईस्कूल से स्कूल-लीविंग की परीक्षा पास करके वे प्रयाग के म्योर सेण्ट्रल कालेज में आ गये। यहाँ पर उनकी प्रतिभा का अच्छा विकास हुआ।

प्रयाग में पं० शिवाधार पाण्डेय से इनको बड़ी सहायता मिली। पाण्डेय जी स्वयं एक अच्छे लेखक तथा काव्य-मर्मज्ञ थे। पन्त जी की प्रतिभा से प्रभावित होकर उन्होंने अंग्रेजी तथा संस्कृत के कवियों के अध्ययन में उनकी बड़ी सहायता की। पन्त जी के भावी जीवन के लिए यह अध्ययन बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ। सन् १९२२ में पन्त जी घर चले आये। उन्होंने घर पर उपनिषद्, दर्शन, अंग्रेजी तथा बँगला साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया। शेली, रवीन्द्र तथा अरविन्द के आदर्शों का उनके ऊपर व्यापक प्रभाव पड़ा।

पन्त जी प्रारम्भ से ही एकान्त-प्रिय थे और आगे चलकर भी समाज के कोलाहल तथा संघर्षों से दूर ही रहे। इस एकान्त-प्रियता ने उन्हें चिन्तन-प्रिय बना दिया। दूसरी ओर प्रकृति के रम्य तथा व्यापक क्षेत्र ने उनके चिन्तन को विशाल आधार प्रदान किया। उनके प्रारम्भिक जीवन तथा उनकी प्रवृत्तियों को समझने के लिए उन्हीं के शब्द बड़े उपयोगी हैं :—

"मैं घण्टों एकान्त में बैठा प्राकृतिक दृश्यों को एक टक देखा करता था और कोई अज्ञात आकर्षण मेरे भीतर एक अव्यक्त सौन्दर्य का जाल बुन कर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था।"

पन्त जी के सम्पूर्ण जीवन में उनका प्रकृति-प्रेम विशेष महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। इसके साथ ही उनके एकान्त-जीवन तथा अध्ययन का भी समान ही महत्त्व है। उनके चिन्तन की धारा को समझने के लिए उपर्युक्त तीनों

तथ्यों को ध्यान में रखना चाहिए। सौन्दर्य तथा प्रेम ही उनके जीवन के मूल तत्त्व हैं। सम्भवतः यही दोनों उनकी चिन्तन-धारा के दो कूल हैं अथवा उनका जीवन, सौन्दर्य की सरिता है जिसमें प्रेम की तरंगे हैं।

पन्त के काव्य तथा बदलती प्रवृत्तियाँ

अंग्रेजी तथा बँगला साहित्य के प्रभाव से सन् १९१० के बाद जिस रोमाण्टिक साहित्य तथा शैली का वेग हिन्दी-साहित्य में आया उसके उन्नायकों में प्रसाद, निराला तथा महादेवी के समान ही पन्त जी का भी स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रसाद जी की वह धारा भारतीय दर्शन पर आधारित आनन्द-लोक की ओर उन्मुख हो गयी तथा निराला ने अपने अनवरत प्रयोगों का मोड़ देकर उसे जन-जीवन की धरती पर उतार दिया। उधर आधुनिक युग की मीरा, महादेवी ने उसे दिव्य-रूप प्रदान करके न केवल करुणा के जल से आप्लावित ही किया बल्कि एक रहस्यपूर्ण भक्ति-सागर के निकट भी पहुँचा दिया है और अब तो सरिता तथा सागर एकाकार हो गये हैं।

पन्त जी की काव्य-सरिता प्रकृति के अंचल से फूटी। वहाँ उसने निर्झर की गति, प्रवाह की अबोधता तथा स्वभाव की चंचलता है। उसके स्वरों में पन्त के हृदय की 'वीणा' के स्वर तथा संगीत हैं। 'वीणा' में सन् १९१८ तक की रचनाओं का संग्रह है। इसमें रहस्यात्मक, प्रार्थना-परक तथा प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाली कविताएँ हैं जिसमें छाया, अन्धकार, किरण, सरिता, चातक तथा माँ मुख्य हैं। 'वीणा' के सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र कहते हैं :—

"वीणा की कविताएँ अधिकांश में भाव-प्रधान हैं—किन्तु प्रायः सभी में भावों का बड़ा संयत दबा हुआ प्रस्फुटन हुआ है। कल्पना कभी पंख फड़फड़ा रही है—पर कहीं कहीं तो उसकी उड़ान बड़ी ऊँची है। सूक्ष्मदर्शिता कवि के अधिकतर चित्रणों में मिलेगी—फिर भी इन कविताओं में शैशवोचित चापल्य ही है—स्नायुमय शक्ति और विराट सौन्दर्य कम मिलेंगे। वीणा की इन शिशु-कृतियों में हमें पन्त जी की रंजित कला का आभास मात्र ही मिलता है।"

ग्रन्थि :—

इसकी रचना सम्भवतः सन् १९२० में हुई। आत्म-कथा के रूप में लिखी यह वियोग शृङ्गार की कविता है। कथा का नायक नाव में सैर कर रहा है। उसकी नाव ताल में डूब जाती है। बहुत देर के बाद आँख खुलने

पर वह देखता है कि उसका सिर एक बाला की जाँघ पर है। दोनों एक दूसरे की ओर आकृष्ट होते हैं किन्तु आगे चलकर उस बाला का विवाह किसी अन्य पुरुष से हो जाता है और नायक का संसार सूना हो जाता है।

इस काव्य में अनुभावों, सात्विकों तथा संचारियों की अच्छी योजना है। इसमें उपमाओं की झड़ी तथा अन्य अलंकारों के सफल प्रयोग हैं। पता नहीं इस काव्य की रोमाण्टिक अनुभूतियों का सम्बन्ध कवि के व्यक्तिगत जीवन से है अथवा इसमें अंग्रेजी प्रेम-कथाओं का अनुकरण किया गया है। जो कुछ भी हो इसके विषाद में प्रसाद के 'आँसू' का तीखापन है। इसमें संयोग तथा वियोग के रोमाण्टिक उत्तेजक चित्र भरे पड़े हैं।

पल्लव :—

इसके सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र लिखते हैं—"पल्लव में यौवन के गीत हैं—अतः स्वभावतः ही उसमें अनुभूति और भावोन्माद का संयम नहीं हो सका। इसी कारण पल्लव में पन्त जी की और कृतियों की अपेक्षा उद्गीतियाँ अधिक हैं और कला-रसिकों को यह कृति ही कदाचित सर्वोत्कृष्ट जँचती है।"

इसकी 'उच्छ्वास' नामक कविता में भी एक असफल लघु-प्रेम कथा ही है। इसमें तीव्र अनुभूतियों के साथ बाला के सौन्दर्य तथा प्रकृति के रोमाण्टिक चित्र हैं। 'आँसू' नामक कविता में हृदय की पीड़ा की अभिव्यक्ति है। यहाँ कवि प्रकृति की प्रत्येक सुन्दर वस्तु में अपनी प्रियतमा का दर्शन करता है। स्याही की बूँद, निर्झरी, नक्षत्र, निर्झरगान तथा वीचि-विलास आदि कल्पना-प्रधान तथा स्मृति, सोने का गान, मुस्कान, विसर्जन, मधुकरी, विनय, याचना और मोह आदि भाव-प्रधान कविताएँ हैं।

जिन कविताओं में कल्पना तथा भाव का संयोग है उनके सम्बन्ध में नगेन्द्र जी कहते हैं—"ये कविताएँ ही पल्लव का प्राण हैं। मैं तो इन्हें पन्त जी की समस्त काव्य-साधना का पुरस्कार कहूँगा। ये हैं मौन-निमंत्रण, बालापन, छाया, बादल, अनङ्ग, स्वप्न आदि।" इन रचनाओं में अलंकारों की छटा, भाषा का प्रवाह, भाव की प्रधानता तथा चिन्तन की प्रगाढ़ता है।

परिवर्तन :—

यह पन्त जी की अद्भुत रचना है। ऐसा ओज, ऐसी तीव्र अनुभूति तथा ऐसा आवेश उनकी अन्य किसी रचना में फिर कभी नहीं देखा गया। इसके सम्बन्ध में शान्तिप्रिय द्विवेदी कहते हैं—"उसमें परिवर्तनमय विश्व की करुण

अभिव्यक्ति इतनी वेदनाशील हो उठी है कि वह सहज ही सभी हृदयों को अपनी सहानुभूति के कृपासूत्र में बाँध लेना चाहती है।" नगेन्द्र जी कहते हैं—"इतना होने पर भी परिवर्तन पन्त के काव्याकाश में उस दूरवर्ती तारे के सदृश है जो सबसे पृथक रहकर अपनी ज्योति विकीर्ण करता है।" महाकवि निराला कहते हैं—"परिवर्तन किसी भी बड़े कवि की कविता से निस्संकोच मैत्री कर सकता है।"

'परिवर्तन' पल्लव की ही एक कविता है किन्तु इसके महत्त्व के कारण इसपर अलग विचार किया गया है। इसका विषय भी शाश्वत ही तथा अभिव्यक्ति भी महान है, अतः यह पन्त जी की अमर कृति है। यह कविता जीवन तथा सृष्टि के सत्यों का उद्घाटन करती है।

गुञ्जन :—

इसमें सन् १९२६ से ३२ तक की रचनाएँ हैं। इसमें पन्त की आत्मा का 'उन्मन-गुञ्जन' है। इसमें मनन तथा चिन्तन से लदे छोटे-छोटे गीत हैं। अब पन्त जी की प्रवृत्ति मानव की ओर उन्मुख हो गई है। मानव के सुख-दुख की चिन्ता भी वे करने लगे हैं। 'गुञ्जन' में बहुत से प्रणय-गीत भी हैं। नौका-विहार, एक तारा तथा अप्सरा जैसी कविताओं में हल्के तथा गहरे रंगीन चित्र भी हैं।

ज्योत्सना :—

सन् १९३४ में लिखी गई यह नाटिका जैसी एक रचना है। इसी के आसपास प्रसाद जी की 'कामायनी' की भी रचना हुई थी। 'कामायनी' में मनोभावों का मानवीकरण करके एक कथा की सृष्टि की गई है। पन्त जी ने प्रकृति के तत्वों का मानवीकरण करके एक ढीली-ढाली कथा की सृष्टि करके अपने आदर्शों को मूर्त-रूप दिया है। पृथ्वी के दुखों को देखकर इन्दु अपनी प्रेयसी ज्योत्स्ना को भेजता है ताकि वह जाकर पृथ्वी को स्वर्ग बना दे। वह पवन तथा सुरभि को स्वप्न तथा कल्पना में बदल देती है। इनकी सहायता से मानव स्वभावों में परिवर्तन हो जाता है और पृथ्वी स्वर्ग बन जाती है।

युगान्त, युगवाणी तथा ग्राम्या :—

युगान्त में सचमुच ही पन्त जी के एक युग का अन्त तथा भविष्य के प्रभात की आशा दिखाई देती है। वे मानव-जीवन के जीर्ण संसार में मंगल की आशा करते हुए दिखाई देते हैं। यहाँ मानव की दीन-दशा ने कवि को

सर्वांशतः आकृष्ट कर दिया है। अब प्रकृति के प्रत्येक अंग में पन्त जी को मानव जीवन की चेतना ही दिखाई देती है। 'युगान्त' के मानववादी पन्त आगे चलकर 'युगवाणी' में प्रगतिवादी बन जाते हैं। नगेन्द्र जी के शब्दों में 'युगवाणी' एक प्रकार से भारतीय साम्यवाद की वाणी है।

'युगवाणी' के पन्त का आदर्श, अहिंसा ही है किन्तु यह भी जानते हैं कि 'युग-विवर्त में जन-क्षय' होकर ही रहेगा। जिस युग का वे स्वप्न देख रहे हैं उसका विधाता सम्पूर्ण जन-समाज ही होगा। इसके लिऐ प्राचीन संस्कृति का उन्मूलन करके नवीन विश्व-संस्कृति का निर्माण करना होगा।

नगेन्द्र जी का कथन है कि 'युगवाणी' प्रगतिवादी पन्त का सिद्धान्त वाक्य था—ग्राम्या उसका प्रयोग। प्रगतिवाद का आलम्बन है जन-जीवन और भारत के जन-जीवन का केन्द्र है ग्राम। ग्राम्या में पन्त जी की बौद्धिक सहानुभूति तथा ग्राम-जीवन का निरीक्षण और आलोचन है। इस काव्य में ग्राम-जीवन के सुन्दर, आकर्षक, करुण तथा दीन आदि हर प्रकार के चित्र हैं। पन्त जी प्रारम्भ से ही समाज के तटस्थ द्रष्टा रहे हैं अतः ग्राम-जीवन के विश्लेषण में तो उनको बौद्धिक सफलता मिली है किन्तु हार्दिक-अनुभूतियाँ उनके काव्यों में नहीं हैं। ग्राम्या में वह बुड्ढा, ग्राम, भारत-माता, ग्राम-देवता तथा राष्ट्रगान अत्यन्त उत्कृष्ट रचनाएँ हैं।

स्वर्ण-धूलि, स्वर्ण-किरण तथा अन्य :—

इन अन्तिम रचनाओं में पन्त जी का दृष्टिकोण सन्तुलित हो गया है। वे एक भावी स्वर्ण-युग का स्वप्न देख रहे हैं।

'पश्चिम का जीवन-सौष्ठव हो विकसित विश्व-तंत्र में वितरित।
प्राची के नव आत्मोदय से स्वर्ण द्रवित भू तमस तिरोहित॥

सब कुछ होते हुए भी पन्त जी वर्तमान की विषमताओं से उतना संघर्ष नहीं करते जितना भावी युगों का चित्र उतारने में मन लगाते हैं। पन्त जी के स्वप्नों में व्यावहारिक पक्षों की अपेक्षा कल्पना-पक्ष अधिक प्रबल है। वे अपने चिन्तन से नवीन सृष्टि की रचना में व्यस्त हैं। उनका जीवन-दर्शन अरविन्द के समन्वयवादी दर्शन से प्रभावित है। वे बुद्धि तथा हृदय के समन्वय से एक नवीन चेतना उत्पन्न करना चाहते हैं। 'उत्तरा' की भूमिका में उन्होंने अपने विचारों की विशद व्याख्या की है।

इस प्रकार उनकी परिवर्तनशील प्रवृत्तियों का विकास प्रकृति से मानववाद, तत्पश्चात प्रगतिवाद और फिर समन्वयवाद से होता हुआ एक नव-युग के

स्वर्गलोक तक पहुँच चुका है। अब उस स्वर्गलोक के लिए व्यावहारिक धरातल प्रस्तुत करना शेष रह गया है किन्तु इसके लिए एक संघर्ष-क्षेत्र में प्रवेश करना पड़ेगा क्योंकि बिना उसके वह एक काल्पनिक तथ्य मात्र रह जाएगा।

पन्त का प्रकृति-चित्रण

जनसंख्या की वृद्धि, भौतिक स्वार्थों के लोभ तथा शोषक प्रवृत्तियों ने जीवन तथा समाज के ढाँचे को वीभत्स बना दिया है। सभ्यता की नजाकत में रक्त चूसनेवाली धृष्टता तथा उसकी चमक के भीतर सूखी हड्डियों की झलक है। विभिन्न युगों तथा विभिन्न देशों में इस मायाविनी सभ्यता ने अनेक रूप धारण किये परन्तु उसकी विश्वव्यापिनी आत्मा एक ही बनी रही। विश्व के शक्तिशाली शोषकों के स्वार्थों ने ही रंगीन परिधान में सभ्यता का मायावी रूप धारण किया तथा कभी आत्मा को छेदकर संस्कृति की जड़ों को हिलाया। उन्हीं के आदर्शों ने पीड़ित मानवता को हिंसा की शिक्षा देकर उसे भुलावे में रखा।

फलस्वरूप अजगर का मुख बढ़ता गया। धरती, गगन तथा समुद्र के सम्पूर्ण जीव ग्रास बनते गये। शरीर का आकार बढ़ता गया और हरी-भरी प्रकृति भी उसके उदर में विलीन होती गई। स्वार्थों की चमकीली सभ्यता ने ग्रामों के दूह तथा नगरों के टीले बनाये। आखेट के तरीके बदल गये। उन दूहों तथा टीलों में जीव-जन्तुओं को आखेट की सरलता के लिए बड़ी सरलता से पाला जाता है और मनुष्य भी एक पालतू जन्तु ही है जिसे विशेष मनुष्यों के लिए पाला जाता है। इन पालतू जन्तुओं का संगठन करके, अब तो 'वाद' तथा 'राष्ट्र' नाम के जन्तु भी खड़े हो रहे हैं जिनका धर्म, दुर्बल राष्ट्रों को पालना है। वर्तमान समय में माओ के चीनतंत्र, पाकिस्तान के इस्लामतंत्र, अंग्रेजों के प्राकृतिक कपटतंत्र तथा भारत के नेतातंत्र उन्हीं के विविध किन्तु समान रूप हैं। विज्ञान ने इन रूपों में चमत्कार भर दिया है।

इस प्रकार मानव जाति का जन्म प्रकृति की गोद में हुआ। वह गोद ही ग्रास बन गई। आज कृत्रिमता ही समाज की प्रकृति बन गई है। आर्य-जाति की सभ्यता तथा संस्कृति का उदय प्रकृति के अंचल में हुआ था। प्रकृति उसके जीवन का प्रधान अंग थी। प्राचीन संस्कृत-काव्यों में प्रकृति के दिव्य-चित्र मिलते हैं। प्राकृत तथा अपभ्रंश के काव्यों में उसका रंग फीका होने लगा। संस्कृत के दिव्य-काव्यों में प्रकृति को आलम्बन रूप में ग्रहण किया गया क्योंकि

वह जीवन का मुख्य अंग थी। दसवीं शताब्दी के बाद भ्रष्टाचारी आचरण ने परतंत्रता का आवाहन किया। तलवारें आई, बन्दूकें आई और अन्त में नेता-तंत्र का जाल फैल गया।

भारत का तलवार-काल निराशा, अनाचार तथा उत्पीड़न का भीषण-काल है। मानवता के उद्धारक सन्तों के सामने पीड़ित समाज था। उनको साहित्य में अब समाज को ही आलम्बन बनाना पड़ा। वहाँ अन्य तत्त्वों की भाँति प्रकृति को भी उद्दीपन के रूप में आना पड़ा। सूफी साहित्य में वह सन्देशों तथा संकेतों का बाहक बनी। रीतिकाल में जब भारतीय समाज का प्रायः दिवाला हो चुका था, प्रकृति को या तो विलास-कक्षों में घुसने की आज्ञा नहीं मिली अथवा उसे उपवनों में हाथ जोड़कर खड़ा रहना पड़ा।

साहित्य के भीतर आधुनिकता ने राष्ट्रीयता के साथ प्रवेश किया। भारतेन्दु, हरिऔध, गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी तथा अन्य बहुत से कलाकारों के साहित्य में प्रकृति को कहीं तो प्राचीन की स्मृति दिलानी पड़ी तथा कहीं मृतक ठूठों के इर्द गिर्द शोभा की क्षीण साँस लेनी पड़ी। कहीं कथा के प्रवाह में वातावरण की सृष्टि करनी पड़ी किन्तु इन तपस्वी साधकों को यह समझने अथवा ध्यान देने का अवसर ही नहीं मिला कि वह तो अजगर का ग्रास बन चुकी थी।

ऐसे ही संघर्ष के दारुण समय में छायावाद की रोमाण्टिक लहर आई। कुछ लोग सोचते होंगे कि इस लहरमें भौतिक स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह था। यह भी अनुमान करते होंगे कि व्यक्ति का सूक्ष्म, प्रकृति के विस्तृत अंचल में विचरण करने के लिए तड़प उठा किन्तु ऐसी कोई भी बात नहीं थी। चाहे जो कुछ भी हो छायावादी कलाकारों ने प्रकृति को नये रूप में ग्रहण किया। इन नवीन रूपों ने कहीं पर भारतीय रहस्यभावना को नया आधार प्रदान किया तथा कहीं व्यक्ति के सुख-दुख में हाँथ बँटाया। प्रसाद, निराला, पन्त तथा महादेवी इन रूपों के मुख्य कलाकार हैं।

यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि मानव-जीवन तथा प्रकृति की दूरी अब इस सीमा तक बढ़ गई है कि किसी भी कलाकार की कल्पना इसे यथार्थतः पाट नहीं सकती। यदि किसी ने असमय में साहस किया तो वह पलायनवादी समझा जायगा। सच पूछा जाय तो कला में ऐसे विस्फोट की आवश्यकता है जिससे विभिन्न भ्रष्ट तंत्रों की नस-नस उखड़ जाय। फिर तो वह दूरी स्वयं पट जाएगी कोई भी स्वर्ग, पृथ्वी पर उतरने के लिए बाध्य

होगा। उस समय कलाकार को शरण ढूँढ़ने के लिए पलायन नहीं करना पड़ेगा। इस भूमिका के बाद आगे हम मूल शीर्षक पर आते हैं।

पन्तजी को कविता करने की प्रेरणा प्रकृति के रम्य अंचल से ही मिली। वह उनकी व्यक्तिगत स्थिति थी। उनकी व्यक्तिगत प्रकृति, परिस्थिति तथा हिमालय की प्रकृतिमें कुछ विचित्र साम्य था। प्रकृति उनके मधुर भावों का आलम्बन थी तथा उनके भाव, प्रकृति के प्रतिरूप थे। यह सम्बन्ध नैसर्गिक था। 'वीणा' में उनके प्रारम्भिक गीतों के स्वर हैं। इन रचनाओं के भीतर पन्त जी अपने मनोवेगों को प्रकृति के व्यापक स्वरूप में मिला रहे हैं। सरिता का एक चित्र देखिए :—

> यह न कभी पीछे फिरती है—
> एक ग्रन्थि भी नहीं पड़ी है
> उसके तरल मृदुल उर में

झरने के स्वरूप में समाज की विषमता नहीं है :—

> भूरि भिन्नता में अभिन्नता
> छिपा स्वार्थ में सुखमय त्याग

मानव-मानव के वर्तमान सम्बन्धों की छाया में इन पंक्तियों को देखिए : —

> शशि किरणों से उतर उतर कर
> भू पर काम रूप नभचर
> चूम नवल कलियों का मृदु मुख
> सिखा रहे थे मुसकाना !

छायावादी कलाकारों ने प्रकृति के अंग-अंग को सजीव बनाकर नया जीवन प्रदान किया। ऐसा करके पन्त जी प्रकृति को सम्भवतः मानव जीवन के लिए चेतना तथा निश्च्छलता का प्रेरक स्रोत बनाना चाहते हैं। उस चेतना को वे नैसर्गिक बनाना चाहते हैं।

पन्त जी के प्रकृति-चित्रों में रूप, रंग, ध्वनि, स्पर्श, गति तथा गन्ध आदि की अनुभूतियों को जैसा मूर्त रूप दिया गया है, देखकर आश्चर्य होता है। पन्त जी ने अपने जीवन को प्रकृति के स्वरूप में मिलाकर ही उसका सूक्ष्म निरीक्षण किया है।

> मैं खग सा फिरता नीरव भाव गगन में
> उड़ मृदुल कल्पना पंखों में, निर्जन में
> चुगता हूँ गाने बिखरे तृन में, कन में

आगे चलकर 'ग्रन्थि' और 'गुंजन' में प्रकृति के रम्य क्षेत्र में पन्त जी के व्यक्तिगत सांसारिक प्रेम का पदार्पण हो जाता है। इस प्रेम का रूप रोमाण्टिक और विदेशी है। उसमें अंग्रेजी उछल-कूद तथा ऐन्द्रियता है। प्रकृति उस कृत्रिम तथा निरर्थक प्रेम के लिए एकान्त स्थल बन जाती है। एक ओर तो देश के लाल फाँसी के तख्तों पर झूल रहे थे दूसरी ओर 'ग्रन्थि' का (विद्रोही ?) नायक नाव के साथ ताल में इसलिए डूब गया क्योंकि उसे एक सुन्दर बाला की जाँघ पर सिर रखना था। 'ग्रन्थि' तथा 'गुंजन' की रचनाओं में प्रकृति का चित्रण दो दशाओं में किया है। प्रेम-प्रसंगों में वह उद्दीपन का काम करती है तथा अन्य शीर्षकों में उसका आलम्बन रूप ही है।

ज्योत्स्ना में प्रकृति का सफल मानवीकरण किया गया है। मानववादी, प्रगतिवादी तथा समन्वयवादी रचनाओं में भी प्रकृति ने पन्त जी का साथ नहीं छोड़ा है। शेली की भाँति पन्त जी जिस स्वर्ण-युग तथा स्वर्गलोक की कल्पना कर रहे हैं उसमें प्रकृति का मुख्य स्थान है। बदलती हुई प्रवृत्तियों के साथ उनके प्रकृति-सम्बन्धों में भी हेर फेर होते रहे हैं। एक समय था जब वे प्रकृति में ही वास्तविक सौन्दर्य का दर्शन कर थे किन्तु आगे चलकर यह अनुभव करने लगे कि मानव का सौन्दर्य उसकी अपेक्षा सजीव है :—

मधुर प्राकृतिक सुषमा यह
भरती विषाद है मन में,
मानव की सजीव सुन्दरता
नहीं प्रकृति दर्शन में।

पूर्ण हुई मानव अंगों में
सुन्दरता नैसर्गिक
शत ऊषा सन्ध्या से निर्मित
नारी प्रतिमा स्वर्गिक।—

(गंगा की साँझ)

श्री तारकनाथ बाली ने पन्त की रचनाओं में प्रयुक्त प्रकृति के अनेक प्रयोगों की छानबीन की है जो निम्नलिखित हैं :—

(१) आलम्बन रूप :—

पन्तजी की सैकड़ों रचनाओं में प्रकृति आलम्बन का काम करती है। वह कवि के व्यक्तिगत भावों का आधार बन गई है। पर्वत प्रदेश में पावस, झंझा में नीम तथा चाँदनी आदि उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

(१) दूर क्षितिज में चित्रित सी
उस तरु-माला के ऊपर,
उड़ती काली विहग-पाँति
रेखा सी लहरा सुन्दर

(२) झलक रहे जल के अंचल से
कंचु-जलद स्वर्ण-प्रभ
चूर्ण कुन्तलों सा लहरों पर
तिरता घन उर्मिल नभ ।— (गंगा की साँझ)

(२) उद्दीपन रूप :—

धधकती है जलदों से ज्वाल
वन गया नीलम व्योम प्रवाल

(३) अलंकार रूप :—

(अ) वाल रजनी-सी अलक थी डोलती
(आ) झाँझ को उड़ते शरद के जलद-से
(इ) कभी कुहरे-सी धूमिल घोर

(४) मानवीकरण :—

नीले नभ के शतदल पर
वह बैठी शारद्हासिनि,
मृदु करतल पर शशि-मुख धर
नीरव अनिमिष एकाकिनि,

(५) पृष्ठभूमि का रूप :—

आता मौन प्रभात अकेला सन्ध्या भरी उदासी
जहाँ घूमती दो पहरों में स्वप्नों की छाया-सी । —(ग्राम्या)

(६) रहस्यात्मक रूप :—

न जाने ढुलक ओस में कौन
खींच लेता मेरे दृग मौन ?

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि पन्त जी की रचनाओं में प्रकृति के कितने प्रकार के चित्र हैं । जहाँ पर वे मानव-जीवन के सौन्दर्य की ओर आकृष्ट हैं वहाँ भी प्रकृति का अंचल छूटने नहीं पाया है । सच पूछिये तो वे सामाजिक

जीवन में भी नैसर्गिक सौन्दर्य ही देखना चाहते हैं। चाहे परिवर्तन की पुकार हो अथवा प्रगतिवादी चेतना की प्रेरणा, सर्वत्र ही उनकी वाणी से प्रकृति की ध्वनि ही निकलती है। प्रकृति उनकी प्रकृति है तथा है उनका प्राण। प्रकृति से अलग करके उनके साहित्य का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता।

पन्त मानववादी हैं अथवा प्रगतिवादी ?

कवि कैसा भी भावुक हो, जब उसे यह याद आता है कि उसकी रचनाओं को पढ़नेवाले और लोग भी हैं तो वह कुछ सोचने के लिए विवश होता है। कुछ कलाकार तो अपनी रोमाण्टिक कृतियों द्वारा समाज के एक वर्ग का मनोरंजन करते हुए युग के प्रवाह के साथ बहते चलते हैं और कुछ जनता की कुरुचियों को ठोकर मारकर नये युग का मोड़ उपस्थित कर देते हैं। दूसरे प्रकार के कलाकारों को युग के भ्रष्टाचार के धक्के भी सहने पड़ते हैं। तीसरे प्रकार के वे कलाकार होते हैं जो जनता के हृदय में मीठे ढंग से प्रवेश करके बड़ी सरसता से अपने मधुर सन्देशों को ढाल कर कल्याण का मार्ग प्रशस्त करते हैं। चौथे वे हैं जो जनता की प्रशंसा करके अथवा महान् चरित्र-चित्रण की प्रेरणा से कल्याण की चेतना उत्पन्न करना चाहते हैं।

रीतिकाल की अधिकांश रचनाएँ, छायावादी प्रेम-परक कृतियाँ तथा वर्तमान ऐन्द्रिय-विलास की सामग्री, उस प्रथम प्रकार की निकृष्ट कोटि में आती हैं जिनसे दबी हुई मानवता पर कुठाराघात हुआ है। वे पतनोन्मुख मानवता को सुलाने के लिए मरफिया का काम करती हैं। भयंकर अपरिहार्य इन्द्रजाल का काम करती हैं। ऐसी कृतियों की वकालत करने वाले, काव्य के हृदय-पक्ष की दुहाई देते हैं तथा साथ ही हृदय के साथ कोमल-सौन्दर्य शाश्वत-सम्बन्ध जोड़कर, एक सत्य का तर्क प्रस्तुत करते हैं। वे मानव को सौन्दर्य का पुतला बताकर उसकी आँख में धूल झोंकते हैं। मानव की इस आत्म-श्लाघा तथा निद्रा को धिक्कार है।

दूसरे प्रकार के बलिदानियों में कबीर, भूषण तथा निराला जैसे महात्मा आते हैं जिन्होंने युग के काले मुख पर ठोकरें दीं। उनके अस्थि-पंजर धरती में समा गये किन्तु उनकी चिनगारियों को कोई भी युग बुझा न सकेगा। यह बात दूसरी है कि समाज का पत्थर-हृदय जहाँ का तहाँ है। तीसरे प्रकार के कलाकारों में सूर, जायसी, रसखान, रहीम, प्रसाद, हरिऔध तथा पन्त आदि आते हैं। चौथे प्रकार के साहित्यकारों में तुलसी, गुप्त, दिनकर तथा अन्य

आधुनिक देश-प्रेमी साधक आते हैं जिन्होंने मानवता को बार-बार जगाने का असफल प्रयत्न किया है। असफल इसलिए नहीं कि उनका साहित्य ही दुर्बल है बल्कि इसलिए कि भ्रष्टाचार तथा तन्द्रा की जड़ ही इतनी गहरी है कि सृष्टि का निर्माता भी उसे नहीं हिला सकता।

प्रकृति-प्रेमी पन्त ने जब मानव-जीवन में सजीव सौन्दर्य का रूप देखा तब वे जीवन तथा समाज की ओर आकृष्ट हुए। वे सौन्दर्य के धोखे में इधर आकृष्ट हुए थे क्योंकि सौन्दर्य-प्रेमी थे। उधर देश की सत्तर प्रतिशत जनता खण्डहरों में निवास कर रही थी किन्तु उन्होंने देखा :—

मरकत डिब्बे सा खुला ग्राम,
जिस पर नीलम नभ आच्छादन।

और उधर देखा था :—

शत ऊषा सन्ध्या से निर्मित
नारी प्रतिमा स्वर्गिक।

बस क्या था उन्होंने एक युग का अन्त करके दूसरे युग की ओर पग बढ़ा दिया। अध्ययन करने तथा कुछ निकट से देखने पर पता चला :—

(अ) ज्ञान नहीं है तर्क नहीं है कला न भाव विवेचन,
जन हैं, जग है क्षुधा, काम, इच्छाएँ जीवन-साधन।
(आ) रूढ़ि रीतियों के प्रचलित पथ, जाति, पाँति के बन्धन।
(इ) अर्ध जगत अवगुण्ठित, तमसावृत रे लोक असंख्यक।
अर्ध सभ्य, लव विप्र शेष, जो जाति-वर्ण के पोषक॥

दूसरी ओर देखा :—

(ई) द्रव्य मान पद के अर्जन में रत स्त्री-प्रिय नव शिक्षित।
(उ) बाहृर्चेतना जाग्रत में, अन्तर्मान निद्रित,
बाह्य परिस्थितियाँ जीवित अन्तर्जीवन मूर्छित मृत।

मानववादी पन्त चिन्तित हो उठे :—

खोई सी है मानवता, खोई वसुधा प्रतिबन्धित।
जाति पाँति हैं रूढ़ि रीति हैं देश प्रदेश विभाजित॥

क्योंकि :—

भौतिक वैभव औ, आत्मिक ऐश्वर्य नहीं संयोजित।
दर्शन औ' विज्ञान विश्व जीवन में नहीं समन्वित॥

किन्तु अब :—

(अ) ग्लानि पराभव मृत्यु अमंगल पर पाती शाश्वत जय।

(आ) हंस रहे जग में मयूर औ' वायस रहें परस्पर।

मानववादी पन्त ने महात्मा गाँधी की मूर्ति में मानवता का चरम उत्कर्ष देखा। उनका मानव-मस्तिष्क उस युग-मानव की जय-जयकार कर उठा :—

कोटि जनों के कंठ-गान बन
कोटि मनों के मर्म प्राण बन
जन-जीवन प्रांगण में लाये
तुम नव अरुणोदय हे !

उन्होंने कहा :—

आज राम कोदण्ड तुम्हारे कर में नव संधानित,
दीप्त अहिंसा तीरों से करता भू तमस पराजित।
यह संस्कृति का शस्त्र क्षेत्र में राजनीति के रोपित
भावी मानव जीवन गौरव उर में करता जागृत

बापू को देख कर पन्त जी आशा करते हैं :—

आत्मा की महिमा से मण्डित होगी नव मानता,
प्रेम शक्ति से चिर निरस्त्र हो जावेगी पाशवता।

उनका विश्वास है :—

भूतवाद उस स्वर्ग के लिए है केवल सोपान,
जहाँ आत्मदर्शन अनादि से समासीन अम्लान।
नहीं जानता युग विवर्त में होगा कितना जन-क्षय,
पर मनुष्य को सत्य अहिंसा इष्ट रहेंगे निश्चय।

मानवादी पन्त को मानव की मानवता में विश्वास है। उनके विचार से आत्मदर्शन ही लक्ष्य है किन्तु एक ओर तो वे 'केवल' शब्द का उच्चारण करते हैं किन्तु दबी जबान से दूसरी ओर भूतवाद को सोपान भी बतलाते हैं। वे यह जानने तक का साहस नहीं करते कि युग-विवर्त में कितना जन-क्षय होगा किन्तु बैठे बैठे विश्वास कर लेते हैं कि घूम फिरकर मनुष्य के लिए सत्य-अहिंसा ही इष्ट रहेंगे।

भावी दार्शनिक तथा कलाकार की इस मृग-मरीचिका का अब अन्त हो जाना चाहिए। अपने कोमल हृदय में इस वैज्ञानिक सत्य को आधार बना लेना चाहिए कि मानवता के ऊपर दानवी वर्गों का शोषण तथा कपट शाश्वत है। यह आत्मदर्शन उनके दिलों में कदापि नहीं बैठाया जा सकता, किसी भी मूल्य पर कभी भी नहीं। यदि बैठाया जा सकता है तो इस मूल्य पर कि वह उनके शस्त्रों का कार्य कर सके। इस कथन में न तो भावुकता का भ्रम होना चाहिए और न इस पर निराशावाद का प्रतिक्रियावादी कीचड़ ही उछालना चाहिए बल्कि इसमें दो टूक वैज्ञानिकता और घोर आशावाद है। इस आशावाद पर पर्दा डालना मानवता से छल करना है। शोषकों का शिव अलग है और मानवता का शिव अलग। दूसरे शिव को समाधि तथा विभूति की शिक्षा दी जाती है। मानवता को युग-युग में यही शिक्षा दी जाती है कि वह उस शिव, मोहक शिव का दर्शन करे किन्तु प्रथम शिव के छद्म वेश में जाग्रत दानव बैठा है और वह इन अर्थों में आशावादी है कि मानवता का शिव प्रकृति से भोला है।

वर्तमान भारत में प्रथम कोटि के शिवोपासकों में पाँच सहस्र दिग्विजयी मठाधीश हैं तथा उनके पीछे पाँच लाख भयंकर गणों की जमात है—'कोउ मुख हीन विपुल मुख काहू' अर्थात जिनके मुख नहीं हैं वह इसलिए कि उनके पेट, वहाँ तक विस्तृत हैं। उन विपुल मुखों की व्यवस्था के लिए परेशान मठाधीशों को योजनाएँ बनानी पड़ती हैं। प्रत्येक खण्डहर तथा टीले की गली-गली उनकी जागीरें हैं जिनके भीतर वे रात-दिन भयानक रूप में विचरते रहते हैं। प्रत्येक पाँच वर्ष पर राष्ट्र का श्मशान जगाया जाता है। बलियों का मूल्यांकन करके पुनः नयी शक्ति प्राप्त की जाती है। उधर भोले-शिव की करुण समाधि 'संवत सहस अठासी' में भी नहीं टूटने वाली है क्योंकि उनकी नूतन प्रतिज्ञा है—'यह तन सतिहिं (मानवता ?) भेंट अब नाहीं।'

पन्त जी पृथ्वी पर नये प्रभात का दर्शन करना चाहते हैं। प्रगतिवाद की कुछ मान्यताओं से वे इन्कार भी नहीं करना चाहते :—

बढ़ते अगणित पग जब मग पर,
उठते अगणित भुज जब ऊपर,
देते पथ मरु, पर्वत, सागर
आज धरा श्रम सकल एक हो
मात्र दासता के बन्धन खो

अग्नि-बीज नव-जीवन के बो
स्वर्ण-शस्य वन छाये !

यहाँ 'अग्नि-बीज' का 'अग्नि' शब्द विचारणीय है। वह शब्द शस्य में स्वर्ण का रंग भरने के लिए है अथवा क्रान्ति का द्योतक है ? पन्त जी निश्चित ही नव-जीवन चाहते हैं तथा इसके लिए वे धरा के सकल श्रम को एक करना चाहते हैं किन्तु यह कैसे मान लेते हैं कि प्रेम-शक्ति से चिर पाशवता निरस्त्र हो जाएगी ? उनका स्वप्न तो महान है :—

हमें विश्व संस्कृति रे भू पर करनी आज प्रतिष्ठित
मनुष्यत्व के नव द्रव्यों से मानव-उर कर निर्मित।

वे मनःस्वर्ग की किरणों से मानव-मुख को श्री से मण्डित करना चाहते हैं। जिस प्रकृति के अंचल में उन्होंने झरनों तथा पक्षियों का कलरव सुना था वहाँ विभिन्न तंत्रों के भेड़ियों की गुर्राहट तथा सिंहों की दहाड़ की ओर ध्यान नहीं दिया था। यह उनकी प्रकृति के विरुद्ध था।

अब तो ऐसे परुष व्यक्तित्वों की आवश्यकता है जो समाधि-मग्न शिव के तीसरे नयन को खोल सकें। क्या उससे उठी हुई लपटें, शीत-सन्तप्त-जड़ता के लिए सुखप्रद तथा सुन्दर नहीं होंगी ? किन्तु जड़ मानवता में उठकर तापने की शक्ति कहाँ है ? उसकी ठठरियों की गति भी तो छीन ली गई है ?

'ग्राम्या' का कलाकार उन ग्रामों में व्यवहारतः नहीं उतरना चाहता, जिनको युग-तंत्रों ने श्मशान बना दिया है। उसमें बिलखती मानवता का करुण-क्रन्दन सुनने की शक्ति नहीं है। यदि बौद्धिक सहानुभूति से उस क्रन्दन का तटस्थ विश्लेषण भी किया जाय तो उससे समाधान भी क्या होगा ? अब तो विज्ञानवाद ने इस आशा को भी समाप्त कर दिया है कि समाधान के लिए कोई दैवी-शक्ति फूटेगी। हलाँकि भूतकाल में दैवी शक्तियाँ भी अनेक बार असफल हो चुकी हैं। ईसा, बुद्ध मुहम्मद, कृष्ण तथा गुरु गोविन्द सिंह के आत्मदर्शन, दानवों के हाथ में अस्त्र बनकर शेष रह गये।

पन्त जी का मानववाद, गाँधीवाद तथा मार्क्सवाद के बीच की वस्तु है। इसका मूल स्रोत अरविन्द-दर्शन में है। उनका लक्ष्य महान तथा सर्वविदित है परन्तु स्पष्ट प्रश्न जो विश्व के सामने है वह यह है कि उसे प्राप्त कैसे किया जाय ? शाश्वत बाधाओं का विनाश कैसे होगा ? आज विधि तथा प्रयोग ही मूल समस्याएँ हैं तथा इन्हीं तथ्यों की ओर हृदयकी सारी अनुभूतियों को केन्द्रित करना है। दबी हुई मानवता के पास संघर्ष में उतरने की न तो शक्ति है न कल्पना

और यही विवशता भावी कलाकार के लिए सिरदर्द का काम करेगी। पन्त जी का समाधान देखिए:—

> सर्वाधिक रे जन-शिक्षा का प्रश्न महत् आवश्यक।
> शिक्षा ही बहिरन्तर जनमंगल की मात्र विधायक!
> वाग् यंत्र से वाक् चित्र से वाहित कर संचित मन,
> जनगण में भर सकते हम चेतना रुधिर का प्लावन।

पन्त जी की काव्य-कला

रस तथा साधारणीकरण:—

आज का विश्व एक बौद्धिक चेतना का अनुभव कर रहा है। समाज की भौतिक आवश्यकताएँ विज्ञान को जन्म देती हैं तथा आध्यात्मिक आवश्यकताएँ दर्शन को। इनके बीच में कला एक मानसिक अवस्था है। शरीर, हृदय तथा मस्तिष्क के योग से ही मनुष्य बना हुआ है। यदि हम गहराई से देखें तो मानसिक शान्ति के लिए ही वैज्ञानिक, कलागत और दार्शनिक प्रयोग होते हैं। शारीरिक, हार्दिक तथा बौद्धिक प्रयत्न उसी के लिए किये जाते हैं। शारीरिक आवश्यकताओं का प्रभुत्व विज्ञान पर है तथा विज्ञान का प्रभुत्व आज की बौद्धिक चेतना पर है। इस चेतना ने कला तथा दर्शन ही नहीं बल्कि जीवन के सभी पक्षों का पुनर्मूल्यांकन करना प्रारम्भ कर दिया है। इस चेतना ने अनेक नवीन वादों को भी जन्म दिया है।

विज्ञान का कार्य आविष्कार करना है अतः उसका रूप बड़ा ही तेजस्वी तथा सजीव होता है किन्तु दुर्भाग्य से उसकी जननी शारीरिक आवश्यकता है इसलिये उसके माध्यम से जीवन तथा समाज के सभी पक्षों पर भौतिकता का प्रभुत्व स्थापित हो जाता है। उधर चेतना एक ओर तो बौद्धिकता का दावा करती रहती है और दूसरी ओर भ्रष्टाचार के दलदल में फँसती जाती है। यह भ्रष्टाचार काया, हृदय तथा मस्तिष्क पर सर्वत्र ही छा जाता है। भ्रष्टाचार के उन्मूलन के लिए नहीं बल्कि उसके समान बँटवारे के लिए, वैज्ञानिकता का दम्भ भरने वाला एक मार्क्सवाद का प्रेत तक खड़ा हो गया है। उधर चेतना से उद्बुद्ध शक्तिशाली शोषक-वर्ग विश्व के सम्पूर्ण भ्रष्टाचार पर एकाधिकार जमाये रखना चाहता है। शोक की बात यह है कि धन-दौलत, शान-शौकत पाप-अत्याचार, निर्दयता तथा भीषण वासना ही नहीं, रोटी का एक-एक

टुकड़ा तथा अन्न का एक-एक दाना, यहाँ तक कि कानून और निरीह प्राणियों का प्राण भी उसी भ्रष्टाचार के चंगुल में फँसा हुआ है।

दार्शनिक भाषा में सम्पूर्ण जगत नश्वर तथा वैज्ञानिक भाषा में परिवर्तन शील और सब कुछ अचिर है। अब तो ईश्वर भी मर गया। संसार अपने लाखों वर्षों का इतिहास उठाकर देखे तो स्पष्ट हो जायगा कि आदि-पुरुष भ्रष्टाचार तथा उसकी प्रियतमा आदि-शक्ति हिंसा ही अजर, अमर तथा चिरन्तन हैं। इनकी उत्पत्ति पहले हुई तथा उन्हीं के संयोग से सृष्टि की रचना हुई। यह प्रत्यक्ष वैज्ञानिक सत्य है। इनकी विराट कथा महाकाव्यों तथा वैज्ञानिक अनुसन्धानों का विषय है।

आज साहित्य-शास्त्र में बुद्धिगत साधारणीकरण की चर्चा चल रही है। प्राचीन मान्यताएँ भावगत साधारणीकरण तक ही सीमित थीं। इस प्रकार काव्य की रसानुभूति वैसे ही 'आउट आफ डेट' होती जा रही थी अब बौद्धिक सहानुभूति ने उसे और पीछे ढकेल दिया है। इस नवीन सहानुभूति में वैज्ञानिक बौद्धिक दृष्टिकोण है अतः आज के लिए यही 'अप टुडेट' हो सकती है परन्तु अगली सहस्राब्दी में जब विज्ञान की प्रगति, शारीरिक सहानुभूति तक पहुँच जाएगी उस समय क्या होगा ? नम्र निवेदन है कि अनुभूति तो हृदय में होती है और बुद्धि में जो उत्पन्न होता है उसे विचार या ज्ञान कहते हैं। यदि कहना ही है तो बौद्धिक सहज्ञान कहिए परन्तु किस मोह से 'सह' शब्द को घसीटना चाहते हैं ? क्या इसलिए कि पीड़ित ग्रामीणों को उसकी आवश्यकता है ? अथवा इसलिए कि उसे काव्य का तत्त्व बनाना चाहते हैं ?

पन्त जी के काव्यों मे इसी नये तत्त्व की कल्पना की जा रही है। कहा जाता है इस युग के आलम्बन सूक्ष्म होने चाहिएँ। अब स्थूल के स्थानों पर सूक्ष्म सिद्धान्तों (यथा मार्क्सवाद, गाँधीवाद, मानववाद, जीवनवाद, विकास-वाद आदि) को ही आलम्बन बनना चाहिए। यह तो और विचित्र बात है। जिस प्रकार रसों के मूल में स्थायीभाव होते हैं उसी प्रकार बौद्धिक क्षेत्र में वे वाद यदि स्थायी-विचार का काम करते (खींचतान कर) तो कुछ बात थी परन्तु वादों को आलम्बन बनाना बौद्धिक चमत्कार नहीं तो और क्या है ? और यदि इन सूक्ष्म सिद्धान्तों को ही आलम्बन बनाना है तो उन विचारे प्राणियों को किस स्थान पर रखेंगे जिनके उद्धार के लिए उन वादों की सृष्टि हुई है ? संचारियों के स्थान पर या उद्दीपन के ?

फिर यह नया तत्त्व आया भी कहाँ से ? प्राचीन सन्तसाहित्य की ज्ञानवादी

चेतना की अपेक्षा इस आकस्मिक चेतना में क्या नवीनता है ? यह तो उस चेतना से निम्न कोटि की ही है क्योंकि वह बौद्धिक सहानुभूति तक ही सीमित नहीं है बल्कि पूर्ण अर्थों में सार्थक है । पन्त जी के पास उत्तम कोटि का कवि हृदय है । प्रकृति की भाँति ही उनमें कल्पनाओं का भाण्डार है तथा अद्भुत अभिव्यंजनाशक्ति है परन्तु युग-साधना पुस्तकीय है ! यही कारण है कि उनकी महान प्रतिभा उनके सम्पूर्ण विकसित साहित्य में जितना वादों तथा सिद्धान्तों के कल्पना-लोक में चक्कर लगाती है उतना वर्तमान जीवन के मर्म को स्पर्श नहीं करती । वे महान शक्ति रखते हैं और उनके भावी स्वप्न यदि युग के कुण्ठित अचेतन मन को केवल सन्तुष्टि ही प्रदान करते रह जाते हैं तो वास्तविक उद्धार कौन करेगा ? क्या पीड़ित मानवता उस महान साधक से यही आशा करेगी ? शोक की बात है कि वह योगी आज ६५ वर्ष का हो गया । हम उसके स्वप्नों का आदर भी करेंगे ।

प्रेम ही पन्त जी के व्यक्तित्व का सार तथा कला का मूल तत्त्व है । वही उनके जीवन का आदि तथा यात्रा का अन्त है । वह प्रेम तीन सीढ़ियों से गुजरा है । प्रारम्भ में प्रकृति के सौन्दर्य ने उस प्रेम में विस्तार, पवित्रता तथा प्राण भर दिया । 'ग्रन्थि' से 'गुंजन' तक वासनामय नश्वर आकर्षण-विकर्षण की ठोकरें खाता रहा । व्यक्तिगत ही सही, मानव-सौन्दर्य की ओर तो वह मुड़ ही गया था, 'युगान्त' से अब तक वह प्रेम, सम्पूर्ण विश्व के लिए एक नवीन प्रेम-लोक के निर्माण में लगा हुआ है । उसकी जड़ हृदय में है !

वीणा, ग्रन्थि, पल्लव तथा गुंजन शृङ्गार-रस की रचनाएँ हैं । ग्रन्थि तथा पल्लव में वियोग-शृङ्गार के मार्मिक चित्र हैं । नवीन अभिव्यंजना-कौशल की दृष्टि से उन चित्रों का साहित्यिक मूल्य है । उनमें हृदय की मर्मान्तक व्यथा है । जहाँ प्रकृति-चित्रणों में पन्त जी ने प्रकृति को ही आलम्बन बनाया है, सौन्दर्य की सजीव धारा बहती है । कम से कम यह धारा तो हिन्दी-साहित्य में बेजोड़ है और आधुनिक खड़ी बोली के लिए गौरव की वस्तु है ।

यदि हम बौद्धिक साधारणीकरण के निरर्थक चक्कर को छोड़कर पन्त जी के विकसित साहित्य का अध्ययन करें तो स्थान-स्थान पर रसों के अगणित स्रोत मिलेंगे । पन्त जी व्यर्थ ही हार्दिक तटस्थता का पोज करते हैं । उनके कोमल हृदय की करुणा पर पीड़ित मानवता का अच्छा अधिकार है । उनका कोमल हृदय यदि वर्तमान वीभत्सता से भिड़ जाने में झिझकता है तो बात ही क्या है ? लगता है वे अपने ही अन्तर्द्वन्द्वों से कुण्ठित हो रहे हैं । युगान्त से

ग्राम्या तक उनके मार्क्सवादी दर्शन के अतल में उनके हृदय की करुणा ही वह रही है जिसकी जानकारी से वे इन्कार तो कर देते हैं किन्तु यह नहीं सोचते कि यदि वह धारा न रहती तो उनकी रचनाएँ मार्क्सदर्शन की सूत्र-माला ही बन कर रह गई होतीं।

(अ) किस महारात्रि तम में निद्रित
वे प्रेत स्वप्नवत संचालित।
किस मोह मंत्र से रे कीलित,
वे दैव-दग्ध जग के पीड़ित।

(आ) अन्धकार की गुहा सरीखी उन आँखों से डरता है मन,

(इ) बैठ, टेक धरती पर माथ, वह सलाम करता है झुककर,

सच पूछिये तो पन्त जी का कोमल हृदय मानवता का करुण-क्रन्दन देर तक नहीं सुन सकता और यही कारण है कि व्यग्र होकर वह तुरन्त सूखे आँगन में स्वर्ग की मन्दाकिनी उतारने लगता है। पन्त जी के हृदय में विश्व-मानवता के प्रति प्रबल सहनुभूति है। 'परिवर्तन' नामक कविता के भीतर क्या बौद्धिक चीत्कार है ! वहाँ तो हृदय-सागर से उठती हुई विकराल फेनिल तरंगें आकाश और पाताल को निगल जाना चाहती हैं। वहाँ भयानक, वीभत्स तथा तथा करुणा की उन्मत्त लहरें कितनी डरावनी हैं ! उस सागर के दूसरे तट से कैसा अरुण प्रभात झाँक रहा है !

स्वर्ण-धूलि में क्या है ! वहाँ मंगल के कमल की जड़ें आत्मा के तल में जमी हुई हैं। हृदय में उसकी कली खिल रही है और उसके उड़ते हुए पराग (धूलि !) बौद्धिक वातायन से निकलकर लगातार बरस रहे हैं। बौद्धिक चेतना ने उनमें प्राण तथा स्वर्ण-रंग भर दिया है। वहाँ सौरभ का रस स्वर्गीय है। पन्त जी के समग्र साहित्य में आदि से अन्त तक विराट-सौन्दर्य की मन्दाकिनी बहती है। इस मन्दाकिनी की गति में कहीं भावुकता की तरलता और कहीं बौद्धिक अनुशासन है। नर तथा नारी उसके दो समानान्तर पुलिन हैं। वे देखने में तो दो हैं किन्तु नीचे से देखिए, एक ही धरती, दो छोरों पर दो तट बन गई है। पन्त की जटाओं से निकलने वाली वह गंगा धरती को सींचने वाली है।

अन्त में पन्त जी के साहित्य में दार्शनिक वादों को देखकर भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। उनका यह अनुमान भी ठीक ही है कि मानवता अपनी बौद्धिक चेतना से ही अपना उद्धार कर सकती है। उनका मनःस्वर्ग अपने मूल में

निश्चित ही मानसिक स्फूर्ति उत्पन्न करने वाला है। वह स्वर्ग इसलिए है कि उसमें हृदय का स्निग्ध रस है। प्राकृतिक सौन्दर्य तथा मानव-सौन्दर्य, संयुक्त होकर जिस शृङ्गार-रस की धारा बहाते हैं उनके लिए उद्धरण देने की आवश्यकता नहीं क्योंकि उनकी समूची रचनाएँ ही उद्धरण हैं।

अलङ्कार-योजना :—

पन्त जी स्वयं कहते हैं—"अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए ही नहीं वरन् भाव की अभिव्यक्ति के भी विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की पूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं; वाणी के आचार, व्यवहार, रीति-नीति हैं। पृथक स्थितियों के पृथक स्वरूप, भिन्न-अवस्थाओं के भिन्न-भिन्न चित्र हैं। वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न पुलक हाव-भाव हैं।"

पन्त जी की अलंकार-योजना पर पाश्चात्य अभिव्यंजनावाद का प्रभाव है। इससे एक नयी सजीवता आ गई है। उपमा तथा रूपक उनके प्रिय अलंकार हैं। नीचे छाया के एक चित्र में मालोपमा की छटा देखिए :—

तरुवर के छायानुवाद सी
उपमा सी भावुकता सी
अविदित भावाकुल भाषा, सी
कटी छँटी नव कविता सी।

प्रस्तुत मूर्त के लिए अप्रस्तुत अमूर्त का विधान करते हुए वे नवीन अनुभूतियाँ उत्पन्न कर देते हैं :—

धीरे-धीरे संशय-से उठ
बढ़ अपयश-से शीघ्र अछोर
नभ के उर में उमड़ मोह से

यहाँ भाव तथा 'स्मरण' अलंकार का संयोग देखने योग्य है :—

देखता हूँ जब पतला
इन्द्रधनुषी हलका
रेशमी घूँघट बादल का
खोलती है कुमुद-कला
तुम्हारे मुख का ही तो ध्यान
मुझे तब करता अन्तर्धान।

डा० नगेन्द्र ने पन्त जी द्वारा प्रयुक्त विशेषण-विपर्यय तथा मानवीकरण आदि पाश्चात्य अलंकारों के उद्धरणों पर संक्षेप में किन्तु सूक्ष्म विचार किया

है। उन्होंने लिखा है—"इनमें पहला भाषा की लक्षणाशक्ति का और दूसरा उसकी मूर्तिमत्ता का फल है। विशेषण-विपर्यय प्रयोजनवती लक्षणा पर आधृत है।" वे विशेषण-विपर्यय के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं :—

(अ) रे स्वप्नों के नीरव-चुम्बन !

(आ) मूक-व्यथा का मुखर-भुलाव

(इ) औ जिनकी अबोध-पावनता

पन्त जी के इन प्रयोगों से अभिव्यंजना में कितना प्राण आ गया है ! पन्त जी ने प्रकृति के तत्त्वों तथा मानव के सूक्ष्म भावों को प्राण देने अथवा मूर्त बनाने के लिए उनका अच्छा मानवीकरण किया है। उनकी मौलिकता आश्चर्यजनक है :—

(अ) पर नहीं तुम चपल हो, अज्ञान हो
हृदय है, मस्तिष्क रखते हो नहीं—(प्रेम)

(आ) शान्त स्निग्ध सन्ध्या सलज्ज मुख
देख रही जल तल में—(गंगा की साँझ)

छन्द-योजना:—

इसके सम्बन्ध में पन्त जी कहते हैं।—"कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छन्द हृत्कम्पन। कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होना है। वे निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल, सजल, कलरव भर उन्हें सजीव बना देते हैं।" उनकी रचनाएँ गेय हैं अतः उन्होंने मात्रिक छन्दों को ही ग्रहण किया है। एक स्थान पर नगेन्द्र जी कहते हैं—"जो कार्य भाव-जगत् में इनकी कल्पना करती है, वही शब्द-जगत् में राग। हिन्दी के प्रचलित छन्दों में पीयूषवर्षण, रूपमाला, सखी, रोला, पद्धटिका आदि ही कवि को अच्छे लगते हैं।"

निराला की भाँति पन्त जी ने कहीं-कहीं मुक्त छन्दों का भी प्रयोग किया है। कभी-कभी एक ही कविता में भावों के उतार-चढ़ाव के साथ स्वभावतः छोटे बड़े चरणों की रचना करते जाते हैं। 'परिवर्तन' में छन्द-योजना देखने योग्य है।

भाषा-शैली :—

हरिऔध जी ने काव्य-जगत् में खड़ीभाषा को आकार दिया, गुप्त जी ने उसमें रक्त दौड़ाया, प्रसाद जी ने हृदय तथा मस्तिष्क दिया, निराला जी ने

उसमें प्राण का संचार करके बल प्रदान किया तथा पन्त जी ने उसे नारी-सुलभ गुणों से विभूषित करके नवीनतम (आधुनिकतम) सौन्दर्य प्रदान किया। उन्होंने नाचना, गाना, रिझाना, मचलना, सोचना, समझना, झूमना और टहलना-फिरना आदि सब कुछ सिखा दिया। भाषा की यह देन उनकी सबसे बड़ी साहित्यिक देन है। मधुर व्यक्तित्व का संसर्ग पाकर उसमें नयी तमीज आ गई। अब तो बड़ी सरलता से उसे मंगलदायिनी रणचण्डी का रूप दिया जा सकता है।

भाषा के सम्बन्ध में पन्त जी ने लिखा है—"भाषा संसार का नादमय चित्र है, ध्वनिमय स्वरूप है—वह विश्व की हृत्तंत्री की झंकार है जिसके स्वर में वह अभिव्यक्ति पाता है।" पन्त जी की भाषा के सम्बन्ध में नगेन्द्र जी कहते हैं—"इनकी भाषा चित्रभाषा है, उनके शब्द भी चित्रमय और सस्वर हैं—सेब की तरह उनकी रस-मधुरिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर छलकी पड़ती है। उसके शब्द एक दूसरे के गले पड़कर, पगों से पग मिलाकर सेना-कार भी चलते हैं और बच्चों की तरह अपनी ही स्वच्छन्दता में थिरकते कूदते भी हैं।"

उनकी भाषा में संस्कृत से लिए गये रंगीन शब्दों की छटा निराली है। तद्भव, देशज शब्दों से लेकर अरबी, फारसी, अंग्रेजी तक के शब्दों को भी ग्रहण किया है। यद्यपि 'परिवर्तन' में हमको उनकी ओजपूर्ण भाषा का प्रबलतम रूप भी दिखाई पड़ा किन्तु पन्त जी की प्रकृति सुकुमार है और यही गुण उनकी भाषा में भी है। प्रसाद तथा माधुर्य गुण ही उनकी भाषा में समाये हुए हैं।

उनकी शब्द-योजना की लाक्षणिकता तथा सांकेतिकता ने भाषा को नवीन-भंगिमा तथा सजग-चेतना दी है। इनसे उनकी सनयन-कविता में नूतन कटाक्ष की कला आ गई है। पन्त जी की पदावलियों के भीतर वर्ण-योजना तो और अधिक कमाल करती है। उनमें विचित्र ध्वनन-शक्ति है। कहीं उग्र भावों की भीमता को ढोते समय फेनोच्छ्वसित स्फीत फुत्कार करने लगते हैं, कहीं नाचते हुए भावों के नूपुरों में रुन-झुन, छम-छम की ध्वनि भरते हैं, कहीं पर खिली हुई भाव-कली पर भौंर-भौंर मड़राने लगते हैं तथा कहीं सारे छल-छन्दों को छोड़कर भोली भाली ग्राम-बाला की तरल जवानी में घुलकर ढुलक-ढुलक पड़ते हैं।

———

महादेवी वर्मा का जीवन-वृत्त

आपका जन्म एक सुसंस्कृत तथा शिक्षित परिवार में सन १९०७ में फरुखाबाद में हुआ। आपके पिता श्री गोविन्द प्रसाद वर्मा एम० ए०, एल० एल० बी० भागलपुर के एक कालेज के प्रधानाध्यापक थे। आपकी माता श्रीमती हेमरानी देवी विदुषी, भक्त तथा कवयित्री थीं। आपके दोनों भाई तथा एक बहन भी उच्च शिक्षा-प्राप्त हैं। आपका विवाह अल्पायु में डाक्टर स्वरूपनारायण वर्मा से हुआ था। उस समय वे छठवीं कक्षा तक पढ़ चुकी थीं। कट्टरपन्थी श्वशुर के कारण उनकी शिक्षा बन्द हो गई परन्तु उनकी मृत्यु होते ही पुनः प्रारम्भ हो गई। इसमें केवल चार वर्ष का व्यवधान पड़ा। तेरह वर्ष की अवस्था में प्रयाग से मिडिल-परीक्षा में उन्हें प्रथम-श्रेणी मिली। उसी प्रकार चार वर्ष बाद हाई स्कूल-परीक्षा मे प्रथम श्रेणी मिली। दोनों बार वे उत्तर प्रदेश में प्रथम रहीं तथा उन्हें छात्र-वृत्ति मिली।

बी० ए० में उनका एक विषय दर्शन भी था। एम० ए० में उनका विषय संस्कृत था। परीक्षा-फलों से स्पष्ट है कि उनके पास उच्च-कोटि की प्रतिभा है। उनके संस्कारों में माता तथा ज्ञान में दर्शन-संस्कृत के अध्ययन की महिमा है। उनके जीवन-दर्शन में माता का करुण-वात्सल्य तथा प्रखर आत्म-ज्ञान है जिसका क्रमशः विकास हुआ है।

उनके व्यक्तित्व में उमड़ते हुए करुणा-सागर के सन्तुलन को देखकर आश्चर्य होता है। यह सन्तुलन भावी शोधकों के लिए एक रहस्य का विषय बना रहेगा। इस सन्तुलन की धरती तथा करुणा के गगन का क्षितिज कहाँ मिलता है, पकड़ से बाहर ही रहेगा। उनकी दिव्य-करुणा की तरंगों में कहीं भी प्रतिक्रिया के झटके नहीं हैं। उनका हृदय एक असीम दीप है जिसमें से भक्ति की उठती हुई दीपशिखा ब्रह्माण्डों को भेदती चली जा रही है और अनुभूति की बाती नीचे कहाँ तक है पता नहीं। उस दीप का स्नेह भी असीम है।

वर्मा जी के साहित्य का मूल्यांकन

विश्व बदल रहा है। जीवन की मान्यताएँ बदल रही हैं। इसीलिए साहित्य का स्वरूप भी बदल रहा है। अब ऐसा सोचा जा रहा है कि साहित्य

का मूल्यांकन भी नवीन कसौटियों के आधार पर किया जाय। प्राचीन श्रद्धा तथा विश्वासों के आधार टूट रहे हैं। जिन भौतिक आवश्यकताओं ने विज्ञान को जन्म दिया उनका भी वेग, विज्ञान की प्रगति के साथ ही बढ़ता चला जा रहा है। दोनों की होड़ कहाँ रुकेगी पता नहीं किन्तु इतना तो सर्वविदित है कि इस होड़ में विश्व की वह कामना पूरी नहीं होगी जिसके लिए विज्ञान इतनी साधना कर रहा है। ऐसा लगता है कि लेने के देने भी पड़ेंगे।

इधर बुद्धिवाद की प्रबल लहर चल रही है। यह लहर जीवन तथा समाज के हर क्षेत्र को हिला रही है। बड़े आश्चर्य की बात है कि विश्व की बढ़ती हुई बुद्धि, एक साधारण सी बात को भी समझने में असमर्थ है कि उसी के हाथों उसका पतन तथा विनाश भी होने जा रहा है क्योंकि :—

(१) उसका जन्म एकांगी शारीरिक आवश्यकताओं से हुआ है। शरीर के जिन अंगों अथवा इन्द्रियों के सुख के लिए उसने जन्म लिया है, एक ओर तो उन्हें जुटाती है दूसरी ओर उपयोग की चेतना भी बढ़ाती है। चरित्र के पतन को ढकने के लिए नयी सभ्यता के पर्दों का आविष्कार भी करती है। बेहयाई को सभ्यता का नया चमत्कार सिद्ध करने की, उसमें शक्ति है।

(२) इसके द्वारा आदि-पुरुष भ्रष्टाचार तथा आदि-शक्ति हिंसा को ही शक्ति मिलती है। विश्व-मानवता को दबोचनेवाली शक्तियों के ही हाथ में सारे अवसर तथा चमत्कार रहते हैं। इस बौद्धिक शक्ति पर भी उसी वर्ग का अधिकार हो जाता है। उसका चरित्र तो पहले से ही भ्रष्ट है और अब उसे नयी सुविधाएँ मिल जाती हैं।

(३) भ्रष्ट-वर्ग अपने संसर्ग से अपने आचरण को तो बाँटता फिरता है किन्तु उपलब्ध साधनों पर एकाधिकार रखता है। अब इससे जो वीभत्स-कुष्ट तथा विषमता फैलती है उसे बुद्धिवाद नहीं समझ सकता।

(४) बौद्धिक चेतना से जहाँ जनक्रान्तियाँ हो जाती हैं वहाँ राष्ट्र के भ्रष्टाचार का समान बँटवारा होता है परन्तु वहाँ का बुद्धिवाद अब राष्ट्र के बाहर की ओर जीभ फैलाने लगता है कि कुछ और मिल जाय।

उधर संसार के जिन भागों में बहुमत, अपने हृदय का धनी और धर्मात्मा है (जैसे अरब, पाकिस्तान तथा नेपाल आदि) वहाँ के शासक इस भयानक बुद्धिवाद को समाज में घुसने नहीं देते। जहाँ थोड़ी आहट मिली कि धार्मिक उन्माद का इंजेक्शन चढ़ा दिया जाता है। बस भेड़ें ठीक। संसार की बहुत सी

जातियों में आदि-शक्ति हिंसा ही धर्म है। जहाँ हिंसा की पूजा नहीं होती वहाँ विज्ञान की कृपा से फैशन के रूप में उस देवी का पदार्पण होता है। किसी-किसी भाग में जेहाद (मानव का शिकार) ही स्वर्ग की सीढ़ी है।

कुछ जातियाँ स्वभाव से कपटी हैं। उनके रक्त को नहीं बदला जा सकता। उदाहरण के लिए अँग्रेज-जाति के कपट को समझना खेल नहीं। साठ करोड़ मूर्ख आर्य दो सौ वर्षों की दासता के बाद भी उस कपटी रक्त को न पहचान सके और दो भागों में बँट गये। इतनी ठोकर खाने पर भी भारतीय, उन आततायियों की दासता छोड़ने को तैयार नहीं। उधर नागा-लैंड में कभी का ब्रिटेन बन चुका है इधर पतित देशवासी अँग्रेजी को अपनी माता बनाकर राष्ट्र के कलेजे पर बैठाये हुए हैं। उधर अँग्रेज, विश्व का शिकार खेल रहे हैं। जो देश सहस्र वर्षों से हया गवाँ चुका है और अपने चरित्र को भ्रष्ट कर चुका है उसके भीतरी सड़े हुए ढाँचे का चित्रण तो सैकड़ों महाकाव्यों का विषय है।

अनेक जातियाँ (अँग्रेजों की भाँति ही) ऐसी हैं जो अब तक अनेक देशों पर शासन कर रही हैं। उन दास देशों (जैसे दक्षिणी अफ्रीका, तिब्बत, दक्षिणी रोडेशिया आदि) की पीड़ा की तुलना किसी भी नरक से नहीं की जा सकती। इस प्रकार संश्लिष्ट रूप से यदि हम विश्व की ओर देखें तो ऐसा लगता है कि इसके रोम-रोम में इतनी सड़न आ गई है कि आदि-पुरुष तथा आदि-शक्ति भी ऊबकर कहीं पलायन न कर जायँ किन्तु उनकी शक्ति पर हमें विश्वास है।

पलायनवादी समझते होंगे कि उपर्युक्त कथन या तो अप्रासंगिक है या पलायनवादी है किन्तु वे धैर्य रखें। उनके लक्ष्यों की हानि नहीं होगी। विश्व में व्याप्त उपर्युक्त भ्रष्ट-जातीयता, कपट, हिंसा, जेहाद, वासना, उत्पीड़न, शोषण, नेता-तंत्र की करालता, असत्य, दानवता आदि ने संयुक्त होकर भीषण ज्वाला का रूप धारण कर लिया है, जिसकी आँच से मानवता का आसूँ ऊपर बादल बनकर छा गया है। सृष्टि के आदि से उसका घनत्व बढ़ता ही गया है। मानवता की आहों के गर्जन तथा उसके उच्छ्वासों के अन्धड़ वर्णनातीत हैं। युग-युग में सन्तों, दार्शनिकों तथा कलाकारों ने बिजली की चमक से क्षण भर के लिए उजाला करके भयंकर दृश्य को सुझाया है।

अद्भुत बात तो यह है कि एक ओर तो मानवता के हृदय से चीत्कार निकल रही है दूसरी ओर वह अपने भ्रष्ट-कुष्ट की खाज के रस से चिपकी हुई है। ऊपर

से कभी-कभी सन्तों की करुणा की शीतलता को पाकर यदि मेघों से कुछ जल गिरता है तो पृथ्वी के मजबूत पौधे इस वेग से बढ़ते हैं कि दुर्बल पौधे और भी दब जाते हैं तथा सड़ने भी लगते हैं। वृद्धावस्था तथा मृत्यु तो अभी बैठी ही हैं। समस्याओं का अन्त नहीं।

पन्त जी के अध्ययन में हम बुद्धिगत साधारणीकरण की असारता पर विचार कर चुके हैं। काव्य के साधारणीकरण की दुर्दशा करने से कोई लाभ नहीं। यदि साधारणीकरण का केवल इतना ही अर्थ हो कि ऐसा समन्वित सिद्धान्त जिससे किसी का विरोध न हो तो उसे समन्वयवाद ही नाम देना ठीक होगा और बुद्धिसंगत भी। साधारणीकरण के लिए भाव तथा हृदय के धरातल पर आना ही होगा किन्तु यह भी आवश्यक है कि कलाकार को हृदय के दुरुपयोग की इजाजत नहीं दी जा सकती। यदि समाज भ्रष्ट हो तथा वासनाओं में सड़ रहा हो तो उसे अपने हृदय से ऐसी धारा नहीं बहानी चाहिए कि वह और नीचे गिर जाय। उसे अपनी काम-मूलक गाथाओं तथा व्यक्तिगत आँसुओं को नरक में भेज देना चाहिए।

छायावादी कविताओं से भाषा में नयी जान तो आई परन्तु उनके प्रारम्भिक प्रेम-गीतों से पीड़ित समाज के अचेतन मन का कितना हित हुआ, सोचा जा सकता है। अच्छा हुआ कि हमारे सभी समर्थ कलाकार तुरन्त मंगल-पथ की ओर बढ़ गये। प्रायः देखा जाता है कि महान् सन्त तथा कलाकार, जिनके हृदय में सच्ची प्रेरणा होती है, सब के सब लोक-मंगल को ही अपना लक्ष्य बनाते हैं। यह लोक-मंगल उनके साहित्य के विषय को तो महान् बनाता ही है, लोकानुभूति की व्यापकता को बढ़ाता हुआ प्रेषणीय पक्ष को भी प्रबल बना देता है।

समाज के पास बुद्धि, हृदय तथा आत्मा तीन शक्तियाँ हैं। आज बुद्धि, और हृदय के समन्वय पर बल दिया जा रहा है। बुद्धिवाद का इतना आतंक फैल गया है कि सारा समाज भेड़ की तरह उसकी सत्ता का स्वीकार करने में ही बुद्धिमानी समझता है। यह तो उसी तरह है जैसा कि मुशायरों में, कुछ नहीं समझते हुए भी, क्या खूब, क्या खूब कहना जरूरी हुआ करता है। इतना याद रखना चाहिए कि बुद्धि तो हृदय को भी धोखा दे सकती है। केवल बुद्धि तथा हृदय का सामञ्जस्य घातक होगा। अन्तरात्मा को कोई धोखा नहीं दे सकता। तीनों का सामञ्जस्य खेल नहीं है। जड़ प्रगतिवादी इसे समझ नहीं सकते क्योंकि उन असुरों के पास साधना कहाँ? अन्धे हृदयवादी

भी नहीं समझ सकते क्योंकि उनमें बुद्धि कहाँ ? भगोड़े आत्मवादी इसका मर्म क्या जानें क्योंकि उनमें करुणा कहाँ ?

कवि का कार्य ब्रह्मा के कार्य से भी जटिल है। ब्रह्मा ने आदि-पुरुष तथा आदि-शक्ति की रचना करके छुट्टी ली। अब साधक तथा सन्त-कवि लाखों-करोड़ों वर्षों से माथापच्ची कर रहे हैं। मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की। यदि कलाकार को साधना करनी ही हो तो उसे अपनी आत्मा की आज्ञा, हृदय की प्रेरणा तथा बुद्धि की शक्ति को संगठित करके सबसे पहला प्रहार भ्रष्ट-जनरुचि पर करना होगा। इसके बाद मानवता को आत्मबोध कराना होगा ताकि उसकी तीनों शक्तियाँ जग उठें, जिससे वह अपना उद्धार करने के लिए कटिबद्ध हो जाय। उसकी पहली मुक्ति तो भ्रष्टाचार तथा हिंसा से होनी चाहिए, तत्पश्चात् जन्म-मरण आदि बन्धनों से, किन्तु प्रथम कोटि के शत्रुओं से उस समय भी सावधान रहना होगा।

जैसा कि इस पुस्तक में हम कई बार निवेदन कर चुके हैं, यह कार्य असम्भव है परन्तु उन प्रयत्नों से कुछ तो राहत मिल सकती है ! भारत के कलाकारों का परम कर्त्तव्य है कि पहले इस देश को मुक्त करें ताकि यह देश विश्व का कल्याण कर सके। संक्षेप में भारत के विगत सहस्र वर्षों के इतिहास को चार कालों में बाँट सकते हैं--शासन की दृष्टि से वीभत्स वासनामय राजपूती धनुष-काल, पशुओं को लज्जित करनेवाला इस्लामी तलवार-काल, आत्म प्रवंचक पतित अँग्रेजी बन्दूक-काल, भ्रष्ट नेता-तंत्रीय इन्द्रजाल-काल तथा जनता की दृष्टि से जड़ताजन्य निराशा-काल, दानवताजन्य दिवाला-काल, प्रवंचनाजन्य दुराशा-काल, भ्रष्टताजन्य कुष्टता-काल एवं अन्य जीवों की दृष्टि से शिकार-काल, जबह-काल, हत्या-काल तथा विनाश-काल। इस प्रकार चारों कालों पर उन्मत्त, दानव, मायावी तथा भ्रष्ट-तंत्र का आधिपत्य रहा है।

पिछले तीन कालों में मानवता के उद्धार के लिए सन्तों तथा साधक कलाकारों ने अवर्णनीय पवित्र साधना की। प्रत्येक काल में कारण-कार्य का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। एक काल की करनी का फल दूसरे में मिला। वर्तमान भ्रष्टाचार का फल भावी सहस्राब्दी को मिलेगा। आज के साधकों को देशी अजगरों तथा विदेशी दानवों से सीधे ही निबटना है। इस महायज्ञ में त्यागी-तपस्वी साधकों की आवश्यकता है।

राजनीतिक वादों, दार्शनिक सिद्धान्तों, वैज्ञानिक चमत्कारों, सन्तों की वाणियों तथा कलाकारों की साधना का एक ही लक्ष्य है, लोक-मंगल। सभी साधनाओं तथा मतों का पहला धर्म यह है कि अहंकार तथा मूर्खता के

कारण, आपस में ही लड़कर, अपनी तपस्या का क्षय न करें बल्कि एक दूसरे की सहायता करें। यदि सन्त, शरीर से अलग रहें, वैज्ञानिक आत्मा की उपेक्षा करें तथा राजनीतिज्ञ के पास आचरण न रहे तो लोक-मंगल कैसा ? सब का सार है आचरण तथा उसका लक्ष्य है मंगल।

उसी मंगल के लिए गुप्त ने भारती को जगाना चाहा, हरिऔध ने आचरण देना चाहा, प्रसाद ने धरती तथा गगन का मिलन कराना चाहा, निराला ने विस्फोट करना चाहा, पन्त ने सबको हृदय मन्दिर में समेटना चाहा तथा अन्य राष्ट्रवादियों ने देश को उठाना चाहा। पीछे पन्त जी के प्रकरण में हम देख चुके हैं कि मानवता को मंगल-पथ पर अग्रसर करने के लिए किस प्रकार किसी ने रूप, किसी ने रक्त, किसी ने हृदय, किसी ने प्राण तथा किसी ने मस्तिष्क दिया।

माता महादेवी ने मानवता देवी के हृदय में करुण मातृत्व, स्तनों में पोषक दुग्ध, नयनों में छलकते वात्सल्य तथा आत्मा में ममता का उपक्रम किया है। वे मानवता की ममतामयी जननी हैं। वे यह कैसे चाहेंगी कि उद्दण्ड तथा उन्मत्त बनकर मानवता बुद्धिवाद का इन्द्रजाल बुनती फिरे। जिनके हृदय में ममता नहीं और आचरण में साधना नहीं वे आलोचक उन्हें पलायनवादी कह सकते हैं। माता की ममता को भला आज की वासना कैसे समझ सकती है ? उनकी करुणा के पीछे उनकी लछमा और बिन्दा के चित्रों की ओर तो झाँकिए। इस युग के 'चिर-सजग' बुद्धिवादी, जरा अपनी 'उनींदी-आँखों' को खोलकर देखें कि उस करुणा के पीछे 'तितलियों के पर' अथवा 'मोम के बन्धन' हैं कि हिमालय तथा व्योम को हिलानेवाली बिजली है ? वे आधुनिक युग की मीरा ही नहीं, करुणामयी जननी हैं।

आधुनिक युग की मीरा अथवा करुणामयी जननी ?

वर्तमान युग तो किसी को माता, पिता, गुरु, देवी अथवा साधक मानने के लिए उतना तैयार नहीं है जितना अपने भौतिक स्वार्थों को महत्त्व दे सकता है। आदि-पुरुष तथ आदि-शक्ति का पुजारी बुद्धिवाद आज संस्कृति तथा सभ्यता के तत्त्वों का फिर से मूल्यांकन करना चाहता है। भौतिक परमाणुओं के विकास-चक्र पर चलनेवाले जीवन का विश्लेषण तथा संचालन वह वैज्ञानिक यंत्रों से करना चाहता है। आज वह हृदय तथा आत्मा के बन्धनों को स्वीकार करके मूर्ख या बुर्जुआ नहीं बनना चाहता।

इस भौतिकवादी जीवन-दर्शन का एक शुक्ल-पक्ष भी है। उसने नेत्र-हीन हृदयवाद तथा पलायनवादी आत्मवाद को कड़ी चेतावनी दी है कि शोषक-वर्ग के भ्रष्टाचार के कारण उनका अस्तित्व तक मिटने जा रहा है। भावी कलाकार को अब धोखे में नहीं पड़ना है। उसे शोषणवाद को ध्वस्त तथा भौतिकवाद को परिष्कृत करना होगा। शोषणवाद को मिटाने के लिए भौतिकवादी अस्त्र ही उठाना पड़ेगा किन्तु उसके बाद दूसरा कार्य भी करना पड़ेगा। काँटे को काँटे से निकाला जाता है बल्कि उससे भी दृढ़ लोहे का काँटा बना लेना चाहिए और उसे सदा सुरक्षित रखना चाहिए किन्तु उससे शय्या का काम लेना पागलपन होगा।

बुद्धिवाद से चकत्कृत मानवता किसी को मीरा अथवा माता के रूप में कब सम्मान दे सकती है? आज तो यह कल्पना ही बहुत पीछे पड़ गई है। वर्तमान प्रगति में उन जीवों को बाधक समझा जाता है। प्राचीन मान्यताओं के आधार पर महादेवी वर्मा को आधुनिक युग की मीरा कहा जाता है। हमको यहाँ यही देखना है कि मीरा तथा वर्मा की साधना, वेदना तथा अनुभूतियों में कहाँ तक समानता है। यद्यपि यह भी विचार करना चाहिए कि इस युग में ऐसी मीरा का क्या स्थान है।

मीरा ने अन्य कवियों की भाँति अन्य पात्रों की वेदना का प्रकाशन नहीं किया। प्रत्येक देश में ऐसे समर्थ कलाकार हुए हैं जिन्होंने अन्य पात्रों के साथ अपने हृदय को मिलाकर उनकी अनुभूतियों को सच्ची अभिव्यक्ति दी परन्तु मीरा से बढ़कर वियोगिनी भी कहाँ मिलेगी? मीरा ने अपनी ही तड़पती व्यथा को जब गीतों के अश्रुकणों में बहा दिया तब उसकी मार्मिकता के सम्बन्ध में तर्क ही क्या करना है?

अपने दिल से जानिये पराये दिल का हाल। वेदना सच्ची है अथवा केवल कल्पित, इसका निर्णय तो पाठक अपनी अनुभूतियों से ही कर सकते हैं। उस पीड़ा के साधारणीकरण में जब पाठक या श्रोता की आँखों में आँसू छलछला आये तब सच्चाई के लिए अन्य कसौटी की क्या आवश्यकता है?

वर्मा जी के हृदय में वेदना का शाश्वत सागर है। वह उतना ही शाश्वत है जितना ब्रह्म तथा जीव का वियोग। वेदना को प्रबल शक्ति साधना से ही मिलती है। मीरा के कृष्ण तथा वर्मा के प्रियतम में कोई तात्त्विक भेद नहीं। इस रहस्य को जेहादवादी अथवा कपटी जातियाँ नहीं समझ सकतीं। दोनों की वेदना समान रूप से हृदय को हिला देनेवली हैं। दोनों की पीा के नीचे

साधना की कड़ी चट्टान है। दोनों में समान रूप से प्रतीक्षा की भयंकर व्याकुलता है।

मधुर-मधुर मेरे दीपक जल।
युग-युग प्रति दिन प्रति क्षण प्रति पल
प्रियतम का पथ आलोकित कर।

मीरा की इस आशा में कितनी वेदना छिपी है ?—

'आधी रात प्रभु दरसन देहैं प्रेम नदी के तीरा।

वर्मा जी को भी कम आशा नहीं है :—

सजल रोमों में बिछे हैं पाँवड़े मधु स्नात से,
आज जीवन के निमिष भी दूत हैं अज्ञात से।

उधर मीरा का शरीर गलता जा रहा है और इधर :—

ज्योति होती जाती है क्षीण
मौन होता जाता संगीत।

उधर मीरा अपने गिरिधर की चाकरी करेंगी तथा इधर :—

मेरी श्वासें करती रहतीं नित प्रियका अभिनन्दन रे।
पदरज को धोने उमड़े आते लोचन में जल-कण रे॥

मीरा कहती हैं :—

हरि विनु जिवड़ो यूँ जले रे ज्यों दीपक सँग बाती।

यहाँ भी वही बात है :—

स्नेह भरा जलता है झिलमिल मेरा यह दीपक मन रे।

यहाँ दोनों की पीड़ा सहृदय को विचलित कर देनेवाली है :—

मीरा :— काढ़ि कलेजो मैं धरूँ रे कौवा तू ले जाय।
ज्यों देसा म्हारा पीव बसै वे देखे तू खाय॥

वर्माजी :— हो रहे झर-कर दृगों से
अग्नि कण भी क्षार शीतल
पिघलते उर में निकल
निश्वास बनते धूम श्यामल
एक ज्वाला के बिना मैं राख का घर हूँ।

प्रिय की स्मृति जगाये रखनेवाली वेदना से वर्मा जी अब प्यार करती है :—

(अ) विरह की घड़ियाँ हुईं अलि अधुर मधु की यामिनी सी।

(आ) ताज है जलती शिखा
चिनगारियाँ शृङ्गारमाला
ज्वाल अक्षय कोष सी
अङ्गार मेरी रंग शाला;
नाश में जीवित किसी की साध सुन्दर हूँ।

अब हम यह विचार करेंगे कि वर्तमान युग में इस साधना का क्या स्थान है। भौतिक साम्यवाद का चरम लक्ष्य जीवन ही है। पहले तो उसने व्यक्ति को शोषण से मुक्त करने के लिए समाज का संगठन किया किन्तु निरा भौतिकवादी होने के कारण वह संगठन ही व्यक्ति के लिए शाप बन गया। अब वह केन्द्रित-शक्ति अन्दर तो आत्मा तक का शोषक बन गई तथा अपने बाहर आक्रामक बन गई। उसके पास ऐसा जड़ बुद्धिवाद है जो वर्तमान से इधर-उधर सोचने की शक्ति ही नहीं रखता और न व्यक्ति को ही उसकी जीवन-यात्रा के सम्बन्ध में सोचने का अवसर देता है। इस सत्य से वह अपरिचित है :—

दीप जलता होने को मन्द,
यहाँ किसका अनन्त यौवन?
अरे अस्थिर छोटे जीवन!

उसके विचार से इस जीव की उत्पत्ति विद्युत की भाँति भौतिक संघातों से हुई है। इसके अतिरिक्त उसका विज्ञान तह में जाने की फुर्सत नहीं रखता क्योंकि उसे हाइड्रोजन बम बनाने हैं। साधना एक ऐसी क्रिया है जिसके मर्म को समझाना कठिन है। वर्मा जी की व्यक्तिगत साधना का क्षेत्र असीम है। उस साधना में व्यष्टि तथा समष्टि का भेद मिट चुका है। उनकी अन्तरात्मा की साधना सम्पूर्ण जगत् के हृदय-समुद्र को उद्वेलित करके गगन से मिला देना चाहती है।

वर्मा जी के मातृ-हृदय की करुणा को समझना कठिन है। यद्यपि आज की मानवता कुछ सुनने को तैयार नहीं है किन्तु वे उस उन्मत्त रमणी को मातृ-हृदय की करुणा देना चाहती हैं। उसकी आँखों में वात्सल्य का मोती भरना चाहती हैं। उनका हृदय अन्धा नहीं है। युग के भ्रष्टाचार का अनुभव करके उनका हृदय व्यथित है। उनके 'रेखा-चित्र' की व्यथा की उत्पत्ति समाज के यथार्थ से ही हुई है। समाज में करोड़ों ऐसे लोग हैं जो दाने-दाने को

मर रहे हैं, तिरस्कृत हैं और तड़प रहे हैं। मातृ-विहीन बालिका 'बिन्दा' को जो नारकीय यातना उसकी नयी अम्मा से मिलती है। वह जेहाद से टक्कर लेती है।

महादेवी अपनी अनुभूतियों को समाज के हृदय में उतारना चाहती हैं। उसका मनोवैज्ञानिक पहलू है। इस पहलू का मातृ-हृदय से मेल खाता है। वे जानती हैं कि ध्वंस पर ही नूतन का निर्माण होता है किन्तु ध्वंसकर्ता के हृदय में करुणाजन्य आत्म-बलिदान की भावना होनी चाहिए। यहीं पर वर्मा जी के जीवन-दर्शन की कुंजी है। यह बलिदान ही आत्मा, हृदय तथा मस्तिष्क अथवा दर्शन, काव्य एवं विज्ञान या चेतना, अनुभूति और विचार को एक धरातल पर ला देता है। उस धरातल पर जहाँ से लक्ष्य एक दम निकट ही है। कैसा विश्वास है ?

शून्य से बन जाओ गम्भीर
त्याग की हो जाओ झंकार
इसी छोटे प्याले में आज
डुबा डालो संसार।

सत्य के प्रकाशन से घबराकर पलायन का दर्शन करना ठीक नहीं :—

मूँदती नयन मृत्यु की रात
खोलती नव-जीवन की प्रात

अपने स्वार्थ के लिए दूसरों का गला घोंट देनेवाला यह युग क्या निम्नांकित बीज बनने के लिए तैयार है ? अब उसका वह पलायनवाद कहाँ गया ? क्या उसके भ्रष्टाचार में ?—

शिशिर की सर्वप्रलयकर वात
बीज बोती अज्ञात
म्लान कुसुमों की मृदु मुस्कान
फलों में फलती फिर अम्लान
महत् है, अरे, आत्म बलिदान।

है साहस, ऐसा बीज बनने का ? ऐ तलवार चमकानेवाले नरक के कीड़ों ! ऐ मानवता को ठगनेवाले दूषित-रक्त वालों ! ऐ क्रान्ति के रक्त को चाटनेवाले चीनियों ! ऐ गाँधी के मुँह में कलंक लगाने वाले भ्रष्ट

मक्कारों ! यदि है साहस तो क्रान्ति के ऐसे बीज बनो ? साधकों की करुणा के मेघ बरस रहे हैं। यदि है साहस तो देखो !

महादेवी का रहस्यवाद

हमारा विचार है कि अन्तर्जगत में जो प्रत्यक्ष है वाह्य जगत् के लिए वही रहस्य है। दूसरे शब्दों में जब आन्तरिक सत्यानुभूति वाह्य-जगत् में उतरना चाहती है तो वहाँ माध्यम की अक्षमर्थताके कारण रहस्यानभूति बन जाती है। अभिप्राय यह कि शाश्वत सत्य सूक्ष्म है तथा वाह्य-जगत् के लिए रहस्य के समान है। वास्तव में वह रहस्य है नहीं। है तो वह प्रत्यक्ष किन्तु जिस यंत्र के द्वारा हम उसका दर्शन करना चाहते हैं उसके लिए वह है ही नहीं। जैसे ध्वनी कान से सुनी जाती है, नाक से नहीं और रूप आँख से देखा जाता है जीभ से नहीं। इस प्रकार भूत-जगत् का दर्शन करने के लिए विभिन्न इन्द्रियों से काम लिया जाता है। परन्तु ऐसी कोई इन्द्रिय नहीं जिसके द्वारा उस सत्य का प्रत्यक्ष दर्शन हो सके।

अभिव्यक्ति के स्थूल साधन उसे मूर्त रूप नहीं दे सकते। यह अशक्तता ही उसे रहस्य बना देती है। साधक अपनी अनुभूतियों को वाणी से व्यक्त करना चाहता है किन्तु कैसे करे ? वे अनुभूतियाँ साधक के लिए तो सत्य हैं क्योंकि उसने वाह्य तथा अन्तर्जगतका भेद मिटाकर प्रत्यक्ष दर्शन कर लिया है परन्तु इन्द्रिय-लिप्त साधनाहीन प्राणी के लिए रहस्यानुभूति से बढ़कर और कुछ नहीं है। यहाँ हम दृढ़ता के साथ निवेदन करना चाहते हैं कि साधक के लिए वह प्रत्यक्षानुभूति है और रहस्यानुभूति तो सहृदय पाठक या श्रोता के लिए है।

दूसरी बात यह है कि अभिव्यञ्जना की अस्पष्टता को देखकर यह नहीं समझना चाहिए की साधक की कल्पना अथवा वाणी में ही कोई त्रुटी है। वास्तव में ऐसा कोई प्रत्यक्ष उपमान है ही नहीं जिसके द्वारा अनुभवहीन प्राणी को समझाया जा सके। साक्षात्कार का सम्बन्ध तो साधना के साथ है। मोटा उदाहरण लीजिए। यान से निकल कर आकाश में तैरनेवाले वैज्ञानिक की अनुभूतियाँ सर्वसाधारण के लिए प्रथम चरण में रहस्यानुभूति से कम नहीं हैं। यह उदाहरण तो साधारण साधना से सम्बन्धित है। उस साधना की कठोरता को तो साधक ही समझ सकता है।

इन्द्रियों को अपनी जननी समझनेवाले भौतिकवादी आलोचक आज उस सत्यानुभूति को रहस्यानुभूति भी मानने के लिए तैयार नहीं हैं; उसे

ढोंग कहते हैं। उनमें जो उदार हैं उनकी आज्ञा यह है कि वह चीज अनुपयोगी तथा Out of Date है। हम भी उनके मत से सहमत हैं क्योंकि यह उचित नहीं है कि एक ओर भौतिकवादी अजगर सारी मानवता को निगल रहा हो और दूसरी ओर हमारे साधक करुणा की साधना में समय नष्ट करें। इससे तो उनकी साधना का अस्तित्व भी खतरे में है।

सुनते हैं प्राचीन काल में ऋषियों के आश्रमों के निकट हिंसक वन्य-जीव भी 'सहज वैर बिसराकर' प्रेम से रहा करते थे। परन्तु भोले साधकों को प्राणि-विज्ञान का पूर्ण ज्ञान कहाँ है? वे बिचारे यह नहीं जानते कि मानव, उन वन्य-जीवों की भाँति गया गुजरा नहीं है कि प्रकृति का दास बनकर रह सके। आज सत्यदर्शी साधकों की करुणा से नम्र निवेदन है कि विश्व-करुणा के उद्धार के लिए वह उन अस्त्रों से भी शक्तिशाली महास्त्रों का आवाहन करे जिनका घोर प्रहार उस पर युग-युग से होता आ रहा है। आज विश्व-करुणा स्वयं भी भ्रष्टाचार के ज्वर से पीड़ित है।

श्री तारकनाथ बाली कहते हैं—"जब निर्गुण भक्ति में माधुर्य भावना का समावेश होता है तब रहस्यानुभूति का जन्म होता है।" हमारे विचार से इस कथन में तात्त्विक चिन्तन उतना नहीं जितना ऐतिहासिक प्रकाशन है परन्तु अपने स्थान पर सार्थक है। कारण यह है कि 'रहस्य' के साथ 'वाद' शब्द को आधुनिक आलोचकों ने अपनी सुविधा के लिए जोड़ा है। दूसरी बात यह कि इन आलोचकों ने सरस-काव्यों में प्रिया-प्रियतम सम्बन्ध से आकृष्ट होकर अपने पूरे रहस्यवाद को उसी 'सम्बन्ध' में बाँध दिया। परन्तु यह याद रखना चाहिए कि जगत् का पूरा 'सत्य' ही रहस्य है। काव्य में भी उस पूर्ण-सत्य की अभिव्यक्ति कई रूपों में हुई है। यह बात दूसरी है कि लोक-ग्राह्यता के लिए सन्तों ने कृपा करके विशेष महत्त्व दे दिया हो अथवा व्यक्तिगत रुचि से उपर्युक्त 'सम्बन्ध' में विशेष रस लिया हो। साकार प्रतीकों की उपासना करनेवाले सन्तों का 'सत्य' भी रहस्य ही है।

चाहे निर्गुणोपासक हों या सगुणोपासक, जब कहते हैं कि 'तुम्हीं हो माता, पिता तुम्हीं हो' तो क्या इसमें कम रहस्य है? क्या इन सम्बन्धों का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण है? बात यह है कि सबका 'सत्य' एक है। जब साधक उसी निराकार को अवतार का प्रतीक देकर अभिव्यक्ति देता है तो पाठक ऐसी कल्पना करता है मानो स्पष्ट समझ रहा हो और जब साधक वैसा प्रतीक न देकर आराध्य को विश्व-रूप में अभिव्यक्ति देता है तो पाठक मानो रहस्य में उलझने लगता है।

सच पूछिये तो पाठक की स्थिति एक सी रहती है। पहली दशा में वह स्वयं रहस्य बन जाता है और दूसरी स्थिति में वह अपनी साधना की शून्यता को पहचान लेता है। तुलसी ने तो सगुण को निर्गुण से भी कठिन (रहस्यमय ?) कहा था।

अब हम आलोचकों के 'प्रिय रहस्यवाद' की ओर आते हैं। भावुकता वश कवि तथा वक्ता यह भी कह देते हैं कि जीव-ब्रह्म के सम्बन्धों में जब प्रिया-प्रियतम-सम्बन्ध की स्थापना की जाती है तो प्राकृतिक लज्जा के कारण गोपनीय रहस्य की उत्पत्ति होती है। सुन्दर कल्पना है। अब हम वर्मा जी की अनुभूतियों की ओर चलते हैं। उनकी जिन अनुभूतियों में पाठक रहस्य का अनुभव करते हैं उनमें स्पष्टतः मीरा की भक्ति है। रहस्य तो उस भक्ति का ऊपरी धरातल है जो पाठक के पक्ष का द्योतक है। नम्र निवेदन है कि यदि वर्मा जी की सत्यानुभूति की समीक्षा करनी हो तो पाठक-पक्ष के रहस्य को विशेष महत्त्व देना ठीक नहीं।

साधक जहाँ रहस्यात्मक आँख-मिचौनी का 'पोज' करता है अधिकांशतः जान-अनजान में पाठक-पक्ष की विवशताओं का ही ध्यान रखता है। अपने प्रत्यक्ष-सत्य के साथ वह छिप-छिपाकर आँख-मिचौनी तथा रहस्यपूर्ण आनन्द-क्रीड़ा करने के लिए स्वतंत्र है। इस प्रकार वहाँ पर रहस्य, तत्त्व नहीं, बल्कि एक शैली है।

तात्त्विक दृष्टि से यह शंका भी कोई विशेष अर्थ नहीं रखती कि जब साधक प्रत्यक्षदर्शी होता है तो विरह में तड़पता क्यों है। कारण यह है कि वह ससीम, पूर्व संस्कारों को तोड़कर, असीम में विलीन हो जाने के लिए स्वतंत्र नहीं है। बीच की सीमा को असीम ही तोड़ सकता है। बीच की सीमा ही विवशता है। यही विवशता पीड़ा की जननी है। साधक तथा साध्य के बीच काया की सीमा या बाधा है। यही कारण था कि कबीर ने बन्धन टूटते समय दुलहिन को गाने तथा सखियों को माँग सँवारने के लिए कहा था। जायसी ने कहा था :—

आजु कया पींजर बँदि टूटा।
आजुहिं प्रान-परेवा छूटा॥
जाकर जीउ परै पर बसा।
सूरो देखि सो कस नहिं हँसा ?

अब यहाँ जीव-ब्रह्म के द्वैत तथा अद्वैत सम्बन्धों का दार्शनिक प्रश्न आ जाता है। तुलसी बार-बार जन्म लेकर रामत्व के विशिष्ट-ऐश्वर्य की भक्ति

करना चाहते थे। उन्हें दासत्व में मुक्ति की अपेक्षा विशेष आनन्द का अनुभव हुआ। उन्होंने स्पष्ट कहा—'गति न चहौं निर्वान।' रत्नाकर की गोपिकाओं ने कहा :—

(अ) जैहै बनि बिगरि न बारिधिता बारिधि की,
बूँदता बिलैहै बूँद बिबस बिचारी की।

(आ) मुक्ति-मुकता को मोल माल ही कहा है जब,
मोहन लला पै मन मानिक ही वारि चुकी।

वेदना को प्यार करनेवाली वर्मा जी कहती हैं :—

(अ) क्या अमरों का लोक मिलेगा
तेरी करुणा का उपहार ?
रहने दो हे देव! अरे
यह मेरा मिटने का अधिकार।

(आ) चपल पग धर
आ अचल उर
वार देते मुक्ति, खो
निर्वाण का सन्देश देते।

अर्थात् उनके प्रियतम ने यदि वियोग दिया है तो वे वेदना को अवश्य प्यार करेंगी परन्तु इच्छा यही है कि उनके हृदय में आकर प्रियतम को कम से कम मुआइना तो कर लेना चाहिए। अब वह कैसा निष्ठुर होगा जो उनकी भक्ति तथा वेदना से पसीज न उठेगा? यहाँ वर्मा जी को तुलसी के विशिष्टाद्वैत की भक्ति ही रुचिकर हो उठी है। इस रुचि में आराध्य की महिमा तथा भक्ति की दृढ़ता ही ध्यान देने योग्य है। यह रुचि अद्वैत-सत्य को जानती है परन्तु उसका लोकमंगलकारी आनन्द विशेष महत्त्व रखता है। व्यष्टि अपनी करुणा से लौकिक धरातल पर भी समष्टि को समेट कर चलना चाहती है।

अन्धे के हाथ में पड़े हाथी के पैर की तरह, एक दो मार्मिक पंक्तियों को लेकर, केवल उन्हीं के आधार पर, साधक के सम्पूर्ण जीवन-दर्शन का मूल्यांकन करना ठीक नहीं। ऐसा लोग कहने लगते हैं कि वेदना ही वर्मा जी का लक्ष्य है। विरह से व्याकुल होकर जब उनका दग्ध-हृदय वेदना से लिपट कर ठंढा होना चाहता है तो उस वेदना के पीछे छिपी हुई (जिसे काव्य-शास्त्र लक्षणा

भी नहीं, व्यंजना कहता है किन्तु यहाँ वह काव्य-कल्पना की पकड़ से भी बाहर है और दर्शन भी 'अ' उपसर्ग लगाकर किनारा कस लेता है फिर जड़ विज्ञान-वाद को कौन पूछता है। अतल से झाँकनेवाली करुण-भावना की ओर साहस से देखना चाहिए :—

मेरे जीवन की जागृति !
देखो फिर भूल न जाना,
जो वे सपना बन आवें
तुम चिर निद्रा बन जाना !

कभी अनुभव करती हैं:—

हो गई आराध्यमय मैं विरह की आराधना ले।

क्या पाठक के लिए यह सब रहस्य नहीं है ? वह अपनी लौकिक शक्तियों के द्वारा वर्मा जी के रुदन का अनुभव करके द्रवित तो हो ही जाएगा परन्तु उनकी तात्त्विक स्थिति तो उसके लिए रहस्य ही रहेगी। अब आप ही सोचिए कि अपने रहस्य को उनके सत्य पर क्यों थोपा जाय ?

थोड़ा परम्परा-पालन के लिए लगे हाथों प्रकृति को भी देख लेना चाहिए। सूफी साधकों के साहित्य में प्रकृति का मुख्य स्थान है। वह प्राप्य के रूप, रंग, सौन्दर्य, गति तथा प्रसार को व्यक्त करने के लिए माध्यम का काम करती है। वहाँ प्रकृति ही उस प्राप्य का तत्त्वतः व्यक्त स्वरूप भी है। इसके अतिरिक्त वह आध्यात्मिक संकेतों के लिए साधन का काम भी करती है।

वर्मा जी को इस जीवन में (अभी इस जन्म का ही पता है) प्रियतम की झाँकी, प्रकृति के अंचल में ही मिली थी:—

झटक जाता था पागल वात
धूलि में तुहिन कणों का हार ;
सिखाने जीवन का संगीत
तभी तुम आए थे इस पार।

और वेदना का अनुभव भी वहीं से हुआ:—

गई वह अधरों की मुस्कान
मुझे मधुमय पीड़ा में बोर।

अब तो प्रकृति ही मुख्य रंगस्थली बन गई। प्रकृति केवल असीम को ही व्यक्त नहीं करती बल्कि ससीम भी उसी के द्वारा व्यक्त होता है:—

(अ) ओढ़े मेरी छाँह
रात देती उजियाला,
रज-कण मृदु पद चूम
हुए मुकुलों की माला।

(आ) फैलते हैं सान्ध्य नभ में भाव ही मेरे रँगीले
तिमिर की दीपावली हैं रोम मेरे पुलक गीले;
बन्दिनी बन कर हुई
मैं बन्धनों की स्वामिनी सी।

और यहाँ देखिए:—

(अ) मुस्काता संकेत भरा नभ
अलि क्या प्रिय आने वाले हैं?

(आ) उषा के छू आरक्त कपोल
किलक पड़ता तेरा उन्माद।

अन्त में वर्मा जी की इस भक्ति-साधना की सामाजिक उपयोगिता पर भी विचार कर लेना चाहिए। कुछ तरंगों के आधार पर पूर्ण महासागर का कहाँ तक मूल्यांकन किया जा सकता है? उनका हृदय करुणा का सागर है। उनकी एक ही महाकरुणा के तीन धरातल मिलते हैं। एक धरातल पर्वतीय है जहाँ निर्झर का बौद्धिक झर-झर है—"चिर-सजग आँखें उनीदी आज तुझको दूर जाना।" दूसरा धरातल मैदानी है जहाँ हार्दिक वेग उमड़ता है—"रेखा-चित्र में समाज के सड़े हुए भ्रष्ट ढाँचे में तड़पते हुए प्राणी की जहाँ वाणी भी काट ली गई है और जिसके सामने पतित नरक भी शर्मिन्दा हो रहा है।"

तीसरे धरातल पर सरिता और सागर का करुण मिलन हो रहा है नीचे आत्मा का धरातल है। इस महासागर की करुणा उठकर आकाश में छा जाने के लिये व्याकुल है। इस मृतक समाज की धरती पर बरस कर बीजों को अंकुरित करना चाहती है। यहाँ बुद्धि, हृदय और आत्मा में बहनेवाली महाकरुणा की धारा एक है। वे तीनों भी एक ही जीवन की तीन शक्तियाँ हैं। क्या यह युग समझने का साहस करेगा कि तीनों का केन्द्र एक ही जीवन है? भीषण आक्रमण का सामना करनेवाली एक सेना के विभिन्न कोरों के सामने

अपनी-अपनी श्रेष्ठता का झगड़ा प्रधान है अथवा रक्षा का प्रश्न ! जब रक्षक सेना भी भ्रष्टाचार-रत है तो अब क्या होगा !

वर्मा जी की काव्य-कला

रस तथा अनुभूतियाँ :—

प्रत्येक महा-कलाकार का एक ही लक्ष्य है—सन्तप्त मानवता को मुक्त करके मंगल-पथ की ओर अग्रसर करना। यह क्रिया दो भागों में विभक्त है—मुक्ति तथा प्रगति। बिना प्रगति के मुक्ति नहीं तथा बिना मुक्ति के प्रगति भी असम्भव है। कलाकार की साधना बहुत कठिन है। भविष्य का कलाकार मुक्ति की उपेक्षा करके, दूर-स्थित मंगल को केवल कल्पना-जगत् में उतार कर, अधिक दिनों तक मानवता को भुलावा न दे सकेगा। आज मुक्ति का प्रश्न ही सर्वोपरि है। करोड़ों बन्धनों का पिता है आदि-पुरुष भ्रष्टचार तथा जननी है आदि-शक्ति हिंसा, जिनसे मुक्ति पाना सरल नहीं। असंख्य साधकों के प्रयास विफल रहे हैं।

निराला ने मानवता के हृदय में बड़वानल का वेग दिया। पन्त जी ने व्यापक प्रसार दिया। प्रसाद जी ने सर्वजनीन करुणा दी। एक ने विस्फोटक शक्ति दी, दूसरे ने चेतना दी और तीसरे ने रस दिया। एक ने ठोकर देकर होश में किया, दूसरे ने विवेक दिया और तीसरे ने कल्पना-शक्ति दी। वर्मा जीने मानवता के उस हृदय को, करुणा तथा वात्सल्य-रस से सिक्त मातृत्व देना चाहा। ऐसा मातृत्व जो दानवी विषमता तथा पैशाचिक भ्रष्टाचार के प्रति जागरूक है। उनकी करुणा में चेतना की ज्वाला, वात्सल्य-रस के सावन, जीवन की आँधी, अनुभूतियों की चीत्कार करती हुई लहरें तथा ममता का सजग विस्फोट है।

वर्मा जी की रचनाओं में मूल रस एक ही है और वह है करुण। उसकी धारा कभी ऊँची-नीची बौद्धिक पहाड़ियों से प्रपात बनकर टूटती है तथा कभी आत्मा के धरातल को गगन से मिलाती हुई प्रलय में विलीन कर देना चाहती है। एक ही रस की दो अनुभूतियाँ हैं। उनमें जो द्वैत है वह जगत् की भौतिक तथा आध्यात्मिक द्विविधा के कारण ही है। मूलतः वह एक ही रस है। उनकी रचनाओं में जहाँ मिलन की आकांक्षा, वेदना से प्यार तथा वियोग की नाना अनुभूतियाँ हैं, वहाँ काव्य-रस के रसिक वियोग-शृङ्गार का आनन्द लेते हैं। परन्तु वे अपने को धोखे में डालते हैं। शृङ्गार-रस लौकिक-रस है।

लौकिकता की सीमा में शृङ्गार बँधा हुआ है। ऐसे रस को भावुकतावश ब्रह्मानन्द-सहोदर कहने का कोई तुक नहीं है। इन्द्रिय-ग्रस्त लौकिक रुचि स्वभाव से शृङ्गार की ओर आकृष्ट होती है। शृङ्गार-रस में जबतक आनन्द लेती है तब तक वह सूक्ष्म इन्द्रिय-रस का ही आनन्द लेती है। वास्तविक रस तो लौकिक धरातल के उस पार है। अपनी सीमा के कारण हम उसको अलौकिक कहते हैं परन्तु है वह इसी लोक में। संसारी जीवों को आकृष्ट करने का यह एक ढंग है।

वर्मा जी की करुणा तो शान्त में विलीन हो जाने के लिए व्याकुल है। सहृदय पाठक को इस व्याकुलताजन्य करुणा का ही आस्वादन करना चाहिए क्योंकि वह शान्त की ओर ढकेलनेवाला है। इतना ही कहकर हम प्रिया-प्रियतम के प्रपंच को छोड़ना चाहते हैं। शान्त ने ही करुणा को जन्म दिया है। करुणा सान्त है। परन्तु हो गई अनन्त। शान्त अनन्त है परन्तु वियोग देकर है शान्त। यहां तो निष्ठुरता है। शान्त ने ही वह करुणा (वेदना) दी है अतः वर्मा जी उसी में अनन्त का रस लेती हैं। वह अनन्त है भी। इस वेदना तथा व्याकुलता के बहुत से उद्धरण पीछे दिये गये हैं।

महादेवी के रेखा-चित्र को भी गद्य-काव्य ही समझना चाहिए। वहाँ उनकी करुणा, लौकिक धरातल पर भी करुणा ही है। समाज के पीड़ित जीवों के चित्र हृदय को मसल देते हैं। पाठक किसी भी रचना की कोई भी पंक्ति उठाकर देख सकते हैं। एक-एक शब्द तड़पता हुआ मिलेगा। कुछ स्थल ऐसे भी मिलेंगे जहाँ साहस टूट जाएगा। इस समाज में कितने भीषण चित्र भरे हुए हैं ! दम तोड़ती हुई मानवता में सिसकने की भी शक्ति नहीं। वह अवाक् भी नहीं क्योंकि उसे कुछ पता ही नहीं। वह इसलिए नहीं सिसकती क्योंकि इजाजत नहीं। उसके पास आँखें हैं किन्तु आँसू नहीं। उसके पास पेट है किन्तु भूख नहीं। उसके पास हृदय है किन्तु तड़पने का अधिकार नहीं। आदि-पुरुष तथा आदि-शक्ति की महिमा अपार है।

वर्मा जी की सम्पूर्ण रचनाओं में करुण-रस की धारा बहती है। आत्मा का पाताल, हृदय की धरती तथा बुद्धि का आकाश उसी से सराबोर है। उसकी धारा में बहते हुए तीनों लोक एकाकार हो गये हैं। अपने मूल में आकाश शून्य है, हृदय गलकर आत्मा का रस बन जाता है। बस केवल रस ही रस और वह भी, यह रस नहीं, केवल वह। वह, जो शान्त है। वर्मा जी इस पृथ्वी पर विराट् की ज्योति हैं,। मानवता की करुण पुकार हैं, साधना की

देवी हैं, अनन्त की सीमा हैं, वर्तमान का पतवार तथा भविष्य की करुण-आशा हैं।

छन्द विधान :—(गीति-काव्य)

एक स्थान पर वर्मा जी स्वयं कहती हैं—"वास्तव में गीत के कवि को, आर्तक्रन्दन के पीछे छिपे हुए भावातिरेक को, दीर्घ निश्वास में छिपे हुए संयम से बाँधना होगा तभी उसका गीत दूसरे के हृदय में उसी भाव का उद्रेक करने में सफल हो सकेगा।" वर्मा जी की सम्पूर्ण कविताएँ गेय तथा रस से सिक्त हैं। उनके गीत प्राचीन पदों की शैली में नहीं लिखे गये हैं। उनकी शैली नवीन तथा सरल है। कोई भी प्राणी उन्हें सरलता से गा सकता है। लय ढूँढने में कोई कठिनाई नहीं होती।

उनके गीतों में संगीत का नैसर्गिक प्रवाह है। यह नैसर्गिकता उनकी अनुभूति की सत्यता से उत्पन्न है। उनके गीतों में आत्मा का स्वर, हृदय के के राग, वेदना की तान, विश्वास का सम, आशाओं की मात्रा, साधना का आरोह, ममता का अवरोह तथा करुण का रस है। यदि विश्व का मस्तिष्क, समाज के सुख-दुख के बोल से, ठेकों की संगति कर सके तो सौभाग्य की बात होगी।

दूसरे स्थान पर वर्मा जी ने लिखा है—"सफल गायक वही है, जिसके गीत में सामान्यता हो, अर्थात् जिसकी भाव-तीव्रता में दूसरों को अपने सुख-दुख की प्रतिध्वनि सुन पड़े।" गीतकार के हृदय में जब सुख-दुख के भाव अत्यन्त तीव्र हो जाते हैं तब गीतों में फूट पड़ते हैं। महान् कलाकारों का हृदय विशाल होता है। वहाँ स्व और पर का भेद नहीं होता है। उनके हृदय में लोक-मंगल का उल्लास तथा लोक-पीड़ा की वेदना होती है समर्थ कलाकार, लोक-वेदना को नई शक्ति देकर मंगल-लोक की ओर मोड़ना चाहते हैं सम्पूर्ण विश्व-समाज को उस लक्ष्य की ओर बढ़ाना चाहते हैं।

प्रसंगवश हम यहाँ पर काव्य के भेदों पर विचार कर लें। हमारे विचार से प्रबन्ध तथा मुक्तक दो भेद हैं। प्रबन्ध-काव्य के दो भेद होने चाहिएँ—अखण्ड-काव्य तथा खण्ड-काव्य। उसी प्रकार मुक्तक के दो भेद होंगे—गीति-काव्य तथा स्फुट-काव्य। महाकाव्य की प्राचीन, मान्यताएँ एकदम निरर्थक हैं। 'महा-काव्य' में निहित शब्द 'महा' पर ध्यान दीजिए। काव्य में रस तथा अनुभूतियाँ ही प्राण हैं। इन तत्त्वों की महाभिव्यक्ति अथवा महा-योजना जिस काव्य में हो वही महा-काव्य है—चाहे वह 'मानस' हो या 'सूर-सागर'। उनका

रचयिता भी महा-कवि है। जब बिहारी महाकवि हैं तो उनकी 'सतसई' क्यों महा-काव्य नहीं है? महा-काव्य शब्द ठीक है किन्तु प्राचीन मानदण्ड एकदम भ्रामक हैं। सच पूछिये तो विद्यार्थी-समाज के बोझ हैं जो उन्हें ठीक से सोचने नहीं देते। आश्चर्य की बात है कि विशाल-सरिता में महा-सागर उमड़ता है किन्तु विशाल-उदधि में नहीं।

महादेवी का हृदय विशाल समुद्र है। उसमें करोड़ों ब्रह्माण्ड तरंगों पर डोल रहे हैं। धरती के कीड़ों की कौन कहे नरक के कीटाणु भी उसके करुण-जल में मज्जित होकर काया बदल सकते हैं। वही प्रलय-समुद्र उनके गीतों से फूटकर बह रहा है। क्या उनका गीति-सागर महा-काव्य नहीं है?

अब लौकिक तथा अलौकिक शब्द भी विचारणीय हैं। संक्षेप में हमारा लौकिक-पक्ष, साधक के लिये अलौकिक पक्ष है। जिस प्रकार उसका लौकिक-पक्ष हमारे लिए अलौकिक है। साधक का लोक ही मंगल का सत्य लोक है। साधक हमारी अनुभूतियों को उस लोक से जोड़कर हमारे लोक को ही उस मंगल-लोक में बदल देने के लिए व्याकुल रहता है। उसी व्याकुलता की अभिव्यक्ति वर्मा जी के गीतों में है। तुलसी के कथा-काव्य में भी रामत्व की वही व्याकुलता है। कबीर के साहित्य में उसी रामत्व की व्याकुलता है। सूर के सागर में उसी प्रेमत्व की व्याकुल तरंगें हैं। निराला के प्रयोगों में उसी महा-शिवत्व के विस्फोट हैं। पन्त के गीतों में करुणा-सागर की लहरों पर वही महा-शिव लहरा रहा है। कुछ तरंगों की झाँकी मात्र देकर हम इस प्रसंग को समाप्त करेंगे। पाठक स्वयं गाकर अनुभव करें :—

> चिर-सजग आँखें उनींदी आज कैसा व्यस्त बाना।
> जाग तुझको दूर जाना।
> आज पी आलोक को डोले तिमिर की घोर छाया,
> जाग या विद्युत-शिखाओं में निठुर तूफान बोले!
> पर तुझे है नाश-पथ पर चिह्न अपने छोड़ जाना॥
>
> सो गई आँधी मलय की बात का उपधान ले क्या?
> विश्व का अभिशाप क्या चिर नींद बनकर पास आया?
> अमरता सुत चाहता क्यों मृत्यु को उर में बसाना?

उपर्युक्त गीत में टूटती हुई लौकिक-अलौकिक-सीमा का अनुभव कीजिए। बिना जगे कैसे कर सकते हैं? वर्माजी के गीतों की बहुत सी पंक्तियाँ पिछले प्रकरणों में दी जा चुकी हैं। पन्त जी के गीति-काव्य में भी वही सागर लहरा

रहा है। बुद्धिगत साधारणीकरण के लिए व्यग्र समाज से मेरा निवेदन है कि वे कृपा करके उनके गीतों को गाकर अनुभव करें। वहाँ मानवता आलम्बन है तथा गायक स्वयं आश्रय। करुणा की अजस्र-धारा है :—

हमें विश्व-संस्कृति रे भूपर करनी आज प्रतिष्ठित,
मनुष्यत्व के नव द्रव्यों से मानव उर कर निर्मित,
वहिर्चेतना जाग्रत जग में अन्तर्मानव निद्रित,
बाह्य परिस्थितियाँ जीवित अन्तर्जीवन मूर्छित मृत।— (पन्त)

वर्मा जी के इस गीत को भी थोड़ी ईमानदारी से गाइये :—

पन्थ रहने दो अपरिचित
प्राण रहने दो अकेला।
और होंगे चरण हारे,
अन्य हैं जो लौटते दे
शूल को संकल्प सारे,
हुलसती निर्माण-उन्मद
यह अमरता नापते पद
बाँध देंगे अंक संसृति
से तिमिर में स्वर्ण बेला।
प्राण रहने दो अकेला॥

अलङ्कार-योजना :—

महादेवी जी स्वयं कविता हैं। वे ऐसी अलंकृत कविता हैं जिनका समर्पण ही लक्ष्य है। वे समर्पण के लिए ही अपने हृदय को सजाती हैं। उस अलंकरण में उनके जीवन, उनके हृदय के भाव तथा उनकी आत्मा के बीच कोई भेद ही नहीं। उनकी कविता में सभी प्रसून बनकर समर्पित हो रहे हैं। अब अलंकारों का पृथक अस्तित्व ही कहाँ रह जाता है! विचित्र एकरसता है। उदाहरणार्थ सांगरूपक की ढाल पर उनकी जीवन-सन्ध्या को देखिए :—

प्रिय! सांध्य गगन
मेरा जीवन।
यह क्षितिज बना धुँधला विराग,
नव अरुण-अरुण मेरा सुहाग,
छाया सी काया वीतराग,
सुधि भीने स्वप्न, रँगीले घन।

अर्थ-सौन्दर्य से अनुप्राणित विरोध-चमत्कारमें उनके जलते हुए हृदय, गलते हुए जीवन तथा दहकती हुई आत्मा का चमत्कार देखिए :—

शलभ मैं शापमय वर हूँ।
किसी का दीप निष्ठुर हूँ।
ताज है जलती शिखा
चिनगारियाँ श्रृङ्गार माला
ज्वाल अक्षय कोष सी
अङ्गार मेरी रंगशाला;
नाश में जीवित किसी की साध सुन्दर हूँ।

यहाँ विरोध अलंकार, किसी की साध तथा वर्मा जी के जीवन में क्या अन्तर अथवा विरोध रह गया है !

विशेष्य के साथ विशेषण को न लगाकर, विशेष्य से सम्बन्धित किसी भाव या दृश्य से, जहाँ लगा दिया जाता है वहाँ अंग्रेजी का विशेषण-विपर्यय अलंकार होता है।

(अ) जिनमें बेसुध पीड़ा सोती।
(आ) पुलकित स्वप्नों की रोमावलि,

वर्मा जी की रचनाओं में अन्योक्तियों की लड़ियों के साथ प्रतीकों की झड़ी लग जाया करती है। उनकी कविता में दृष्टान्त अलंकार के अनगिनत प्रयोग मिलते हैं।

विकसते मुरझाने को फूल,
उदय होता छिपने को चन्द,
शून्य होने को भरते मेघ
दीप जलता होने को मन्द,
यहाँ किसका अनन्त यौवन

यहाँ दृष्टान्तों की झड़ी के भीतर जीवन की एक ही कड़ी है। महादेवी जी ने जहाँ प्राचीन उपमानों का प्रयोग किया है उनकी योजना नवीन है। नवीन उपमानों की भी कमी नहीं है। उनके उपमान भी उनके विराट-स्वरूप से बाहर नहीं हैं। कला और जीवन की ऐसी व्यापक एकरसता, विश्व-साहित्य में दुर्लभ हैं। उनकी कला में अलङ्कार भी साधना में लीन हैं।

भाषा-शैली :—

छायावाद के आगमन से खड़ीबोली का बड़ा उपकार हुआ। उसे नयी शक्ति, नयी भंगिमा तथा नया प्राण मिला। इन पचीस वर्षों की साधना में ही

उसको दो सौ वर्षों के तप का फल मिल गया। इसका श्रेय उस वाद को नहीं, उन योगियों को मिलना चाहिए। उनमें प्रसाद, निराला, पन्त तथा महादेवी की तपस्या चिरस्मरणीय रहेगी।

हमारी वाणी देवी का जो शृङ्गार तथा संस्कार इस अल्प-काल में हुआ उसका ऐतिहासिक महत्त्व है। यह बात दूसरी है कि सड़ा हुआ समाज उसका साथ न पकड़ सका किन्तु सन् १९३५ के बाद, जब इस सशक्त भाषा ने समाज के धरातल को स्पर्श किया, तब उसमें नवीन चेतना देने की शक्ति थी। समाज की वीभत्स मन्थर-गति और वाणी की यह व्याकुलता सीमा का उल्लंघन कर चुकी है। विगत सहस्र वर्षों की सामाजिक सड़न का भार, यह कोमल-साधना कैसे वहन करेगी, यही आज की मुख्य समस्या है? भावी कलाकार अपनी साधना के विस्फोटक तेज से ही इसका समाधान कर सकेंगे।

पीछे हम कह चुके हैं कि प्रसाद ने वाणी देवी को हृदय दिया, निराला ने विस्फोटक शक्ति दी, पन्त जी ने कामिनी का शृङ्गार तथा उद्बुद्ध विवेक दिया और स्नेह तथा ममतामयी महादेवी ने कामिनी के सौन्दर्य में माता की गरिमा, हृदय तथा आँखों में वात्सल्य का छलकता जल दिया। इस प्रकार इन चारों साधकों ने वाणी के रूप तथा जीवन को दिव्य बना दिया।

वर्मा जी की वाणी लाक्षणिकता, सांकेतिकता, चित्रमयता, ध्वननशीलता और सजीवता आदि सभी नवीन गुणों से सम्पन्न है। उनकी साधना से वाणी के इन गुणों में महिमा तथा गरिमा का संचार हुआ। उनकी भाषा प्रवाहयुक्त, सरल, संगीतमय, मधुर तथा भावानुकूल है। कहीं-कहीं प्रतीकों के विविध प्रयोगों के कारण उनकी भाषा में क्लिष्टता दिखाई देती है परन्तु भावों की गहराई अथवा सूक्ष्मता के कारण ही ऐसा हुआ है। भावों की गम्भीरतम गहराई में जिस तल तक उनकी अनुभूतियाँ पहुँच जाती हैं, उन्हीं के शब्द हैं जो उन्हें यथासाध्य साकार कर पाते हैं अन्यथा उनके भावों का मर्म-स्थल साधारण नहीं है। इसी स्तर के कारण उनकी अभिव्यंजना यत्र-तत्र दुरूह तथा भाषा, लोक-भाषा से दूर और क्लिष्ट सी हो गई है।

महाकवि दिनकर का जीवन-वृत्त

आपका जन्म मुंगेर जिले के सिमरिया ग्राम में सन् १९०८ में हुआ था। आप एक साधारण गृहस्थ-परिवार में उत्पन्न हुए थे। गाँव से मिडिल परीक्षा उत्तीर्ण होने के बाद मोकामा हाईस्कूल में गये जो वहाँ से चार मिल की दूरी पर था। धूप और बाढ़ के दिनों में उन्हें मार्ग में बड़ी कठिनाइयाँ उठानी पड़ती थीं। इस सन्दर्भ में एक स्थान पर श्री आनन्द नारायण शर्मा लिखते हैं—'तपती हुई बालू से अपने पैरों के बचाव के लिए वह अपने साथ अक्सर थोड़ी झाऊ की पत्तियाँ रख लेता था और जब जलन असह्य हो जाती तो वह उन्हीं पत्तियों को पैरों के नीचे रख कर आत्मरक्षा का प्रयास करता।' हमारा विश्वास है कि इन प्रारम्भिक कष्टों का प्रभाव बालक 'दिनकर' के संस्कारों पर अवश्य पड़ा होगा। पूरा नाम रामधारी सिंह 'दिनकर' है।

दिनकर जी को हाईस्कूल परीक्षा में अपने सम्पूर्ण जिले के परीक्षार्थियों की तुलना में हिन्दी में सर्वोत्तम अंक प्राप्त हुए। उन्हें पुरस्कार भी मिला। बाईस वर्ष की आयु में इतिहास के साथ उन्होंने बी० ए० की परीक्षा पास की। आर्थिक कष्टों से वे आगे न पढ़ सके। उन्हें विवश होकर नौकरी करनी पड़ी उनके हृदय पर इन कष्टों का भी प्रभाव पड़ा होगा। पहले वे एक हाईस्कूल के अध्यापक हुए फिर क्रमशः कोआपरेटिव के सब-रजिस्ट्रार, प्रदेश के जन-सम्पर्क विभाग के निर्देशक, कालेज में स्नातकोत्तर हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष, राज्य सभा के सदस्य तथा भागलपुर विश्वविद्यालय के उप कुलपति हुए।

दिनकर ने लिखा है कि कविता करने की प्रारम्भिक प्रेरणा उन्हें रामलीला तथा नाटकों के गीतों से मिली थी। आगे चलकर जयद्रथ-वध, भारत-भारती, किसान तथा पथिक जैसे काव्यों ने उनका मार्ग दर्शन किया। दिनकर जी के संस्कारों तथा व्यक्तित्व के पीछे उनका प्रारम्भिक कष्ट, इतिहास का गम्भीर अध्ययन, देश तथा समाज की दुर्दशा तथा युग का चिन्तन छिपा हुआ है। उनके व्यक्तित्व में युग तथा राष्ट्र का वास्तविक विस्फोट हुआ है।

दिनकर जी की काव्य-कृतियाँ :—

कहा जाता है कि दिनकर जी युग के चारण हैं किन्तु इस कथन में न्याय नहीं किया गया है। वास्तव में वे युग की छाती में धधकनेवाले ज्वालामुखी हैं। वे ऐसे जीवित ज्वालामुखी हैं जिनके भीतर दहकती ज्वाला, नीचे मंगलकारी

भूकम्प तथा ऊपर शिव का विस्फोट है। वे चारण नहीं, युग की करुण पुकार हैं और हैं हमारी संस्कृति के शाश्वत श्रृङ्गार। वे उस संस्कृति के श्रृङ्गार हैं जो सजधजकर रणचण्डी के वेश में युग के सीने को रौंदती हुई अदृश्य-भविष्य से टकराने के लिए व्याकुल है।

दिनकर जी की प्रारम्भिक रचनाओं में रेणुका (सन् १९३५), हुंकार (सन् १९३८), रसवन्ती (१९३९) और द्वन्द्व-गीत (१९४०) हैं। इस प्रथम की रचनाओं में कल्पना का वेग, अनुभूतियों की तीव्रता तथा आशा-निराशा के भीषण संघर्ष हैं। यहाँ हम दिनकर जी की प्रबल कवित्व-शक्ति का दर्शन करते हैं। 'रेणुका' की युगजन्य निराशा के साथ, दिनकर जी 'हुंकार' करते हुए 'द्वन्द्व-गीत' में प्रबल-शक्ति से भिड़ जाते हैं।

इसके बाद कुरुक्षेत्र (१९४६) की विराट समरभूमि आ जाती है। इस भूमि में चिन्तन का भीषण संग्राम है। यह एक प्रबन्ध-काव्य है। एक प्रकार से 'कामायनी' के बाद यह 'कुरुक्षेत्र' दूसरा उपहार है जो हिन्दी-साहित्य को महानता प्रदान करता है। इसकी समस्या विश्व-समस्या है। इस प्रकार यह विश्व-काव्य है। इसी द्वितीय चरण में सामधेनी, धूप और धुआँ तथा बापू (१९४७) की रचना हुई।

तृतीय चरण में रश्मिरथी (१९५२), सीपी, उर्वशी, परशुराम की प्रतीक्षा, कोयला और कवित्व तथा अन्य रचनाएँ लिखी गईं। प्रथम चरण में युग के बीभत्स दृश्य तथा समाज के भ्रष्ट स्वरूप को देखकर कवि का कोमल हृदय पहले तो अवाक् हो गया परन्तु शीघ्र ही संघर्षों से भिड़ गया। यहाँ पर कवि की अनुभूतियों तथा कल्पनाओं का वेग देखने योग्य है। दूसरे चरण में यथार्थ की धरती पर अनुभूतियों तथा विचारों का भीषण-संग्राम है। तीसरे चरण में युग का रथ भविष्य की ओर बढ़ना चाहता है।

सन्तप्त देश और राष्ट्र-कवि दिनकर

दिनकर जी महान् देश-प्रेमी, एक राष्ट्रीय कवि हैं। उनमें भूषण की प्रहारक शक्ति, गुप्त का संस्कृति-प्रेम, निराला की ज्वाला, पन्त का चिन्तन तथा महादेवी की करुणा है। वे सभी तत्त्व मिलकर एक बड़वानल का रूप धारण कर लेते हैं। उस बड़वानल के भीतर गगन को भेदनेवाली करुण-चीत्कार है। उसके नीचे भूकम्प की शक्ति है। परन्तु वह भीमनाद भी देश की नींद को न तोड़ सका। वह भयंकर ज्वाला और यह कुष्ट-शैय्या ! वह करुण-पुकार

और यह जड़-पत्थर की तन्द्रा ! वह प्रबल वेग और यह हिमालय की दृढ़ता ! भेदों को ध्वस्त करनेवाला वह प्रहार तथा इधर भेदों के काले नाग ! वह मंगल की वर्षा और यह ऊसर ! क्या ध्यान-मग्न समाज सुन सकता है ?—

कितनी मणियाँ लुट गईं ? मिटा
कितना मेरा वैभव अशेष ?
तू ध्यान-मग्न हो रहा, इधर
वीरान हुआ प्यारा स्वदेश !

क्या कपटी अंग्रेजी-परस्त इस 'वैभव-अशेष' का अर्थ समझ सकते हैं ? क्या वे देश के गले से अपनी अंग्रेजी का फन्दा हटा लेंगे ताकि वह विश्व में बिखरे हुए अपने 'वैभव' से पुनः सम्पर्क स्थापित कर सके ? देश की मानवता ध्यान-मग्न है, उधर एक ओर शोषक-शासक तथा आक्रमणकारी दानव सजग हैं। शोषकों ने देश को वीरान तो बना ही दिया है, अब यह वीरान भी संकटग्रस्त है।

किन द्रौपदियों के बाल खुले ?
किन-किन कलियों का अन्त हुआ ?
कह हृदय खोल चित्तौर ! यहाँ
कितने दिन ज्वाल-वसन्त हुआ ?

यह अच्छा हुआ कि कवि जौहर करनेवाली कलियों का समाचार चित्तौड़ से पूछा। यदि वह देश की गली-गली में तड़पनेवाली विधवाओं, दहेज-पीड़ित परिवार में आत्महत्या करनेवाली कुमारियों, समाज से थककर वेश्या-वृत्ति अपनानेवाली ललनाओं तथा दुग्ध-रिक्त भूखी माताओं का समाचार, इस भ्रष्ट-समाज से पूछ बैठता तो उसे कोई उत्तर नहीं मिलता क्योंकि समाज के पास समय कहाँ है ? यहाँ तो दिन दहाड़े बच्चों और स्त्रियों का गला घोंट दिया जाता है क्योंकि लोकतंत्र है।

री कपिलवस्तु ! कह बुद्धदेव-
के वे मंगल उपदेश कहाँ ?
तिब्बत, इरान, जापान, चीन
तक गये हुए सन्देश कहाँ ?

किन्तु दिनकर जी को क्या पता कि वह 'मंगल-उपदेश' आउट आफ डेट

हो गया। अब यहाँ ब्रिटेन के अप टु डेट धर्म का प्रसार हो गया है। उपदेशों के लिए अप टु डेट अंग्रेजी भाषा भी अपना ली गई है। उस समय भारतीय संस्कृति तथा साहित्य का प्रसार बीस पच्चीस देशों से अधिक न रहा होगा किन्तु भारतीय अंग्रेजों की सत्कृपा से भारत का स्तर अन्तर्राष्ट्रीय होने जा रहा है। अब कपिलवस्तु से क्या पूछना है जबकि ब्रिटेन जैसा उन्नत स्थान मिल गया है? निकट से पूछना होगा तो देश ही में हमने अनेक ब्रिटेन बना लिए हैं! उन्हीं से पूछ लेंगे?

रे रोक युधिष्ठिर को न यहाँ
जाने दे उनको स्वर्ग धीर।
पर फिरा हमे गाण्डीव, गदा
लौटा दे अर्जुन, भीम, वीर।

ठीक भी है। यहाँ युधिष्ठिर की आवश्यकता इस समय नहीं है। अगर वे आये तो कृष्ण, ईसा, गाँधी, लिंकन तथा केनेडी की तरह मारे जाएँगे। यहाँ अर्जुन, भीम के समान सौदागर, हमीद तथा कीलर जैसे लालों की आवश्यकता है। यदि वे नहीं रहेंगे तो यह उजड़ता हुआ वीरान भी नहीं बच जाएगा। दिनकर जी की 'हिमालय' कविता का शाश्वत मूल्य बना रहेगा। वे मानवता के हृदय में एक विस्फोट करना चाहते हैं। उसी से देश की शाश्वत-भ्रष्टता तथा सन्तप्त विश्व-मानवता की करुण-दशा का अन्त हो सकता है:—

(अ) कह दे शंकर से आज करें
वे प्रलय नृत्य फिर एकबार।
(आ) तू शैलराट ! हुंकार भरे
फट जाय कुहा! भागे प्रमाद।

खेद है कि इस कुहा और प्रमाद का रूप शाश्वत है। पन्त जी भी इसी करुणा से पीड़ित हैं—'जनता के उर अन्धकार की करूण कथा मर्मान्तक।' उसी मानवता को प्रलय-नृत्य करना है जिसके हृदय तथा मस्तिष्क में कुहा तथा प्रमाद का साम्राज्य है। फिर यह कैसे सम्भव है?

नव-युग-शंख-ध्वनि जगा रही
तू जाग, जाग, मेरे विशाल।

इसके जो अंग लम्बी नींद के बाद जगते भी हैं तो सामने रावणों को देखकर अपने को कुम्भकर्ण समझ कर भ्रष्टाचार में लीन हो जाते हैं। दिनकर जी हिन्दी के गौरव तथा राष्ट्र के प्रकाश हैं।

दिनकर जी की 'पाटलि-पुत्र की गंगा' में विषाद की एक गम्भीर धारा बह रही है। उसमें पापों को धोनेवाले आर्यों पर उस विषाद का कोई प्रभाव नहीं पड़नेवाला है।

(अ) गूँज रहे तेरे इस तट पर
गंगे! गौतम के उपदेश,
(आ) कितनी बार समुद्रगुप्त ने
धोई है तुझमें तलवार

अब भारतीय जनता से निवेदन है जिसमें अनेक ब्रिटेन तथा पाकिस्तान बसते हैं तथा अंग्रेजी परस्तों से प्रार्थना है कि थोड़ा साहस से मनन करें:—

जगती पर छाया करती थी
कभी हमारी भुजा विशाल
बार-बार झुकते थे पद पर
ग्रीक, यवन के उन्नत भाल।

किन्तु दिनकर जी के इस कथन को हम कभी नहीं स्वीकार कर सकते:—

नियति नटी ने खेल-कूद में
किया नष्ट सारा शृंगार,

क्योंकि 'सारे शृंगार' को भारतीयों ने नष्ट किया है। प्रार्थना है कि पूज्य दिनकर जी इस तथ्य का बार-बार भण्डाफोड़ करें। आज जो सर्वनाश किया जा रहा है उस पर अनवरत गति से सीधा प्रहार करें।

जिस दिन जली चिता गौरव की
जय-भेरी जब मूक हुई
जमकर पत्थर हुई न क्यों
यदि टूट नहीं, दो टूक हुई?

दिनकर जी का इतना कथन पर्याप्त नहीं है:—

'सम्प्रति जिसकी दरिद्रता का
करते हो तुम सब उपहास
वहीं कभी मैंने देखा है
मौर्य-वंश का विभव-विलास।'

अन्य बहुत सी रचनाओं में देश के सन्तप्त वर्ग का करुण चित्र भी खींचा गया है। दिनकर जी का हृदय देश की करुण-दशा से व्यथित है। दिनकर

जी की वाणी में भूतकाल की सारी साधनाओं का संयुक्त विस्फोट है। उसमें से मानवता के लिए आशा की लपटें फूट रही हैं। अभी हम आशा करते हैं कि दिनकर जी की वाणी सीमा के रक्षकों को युग-युग तक संबल पहुँचाती रहेगी और देश में व्याप्त शाश्वत-भ्रष्टाचार पर सीधा प्रहार करेगी।

काव्य-कला

दिनकर जी सच्चे अर्थों में राष्ट्र-कवि हैं। राष्ट्र-कवि का ऐसा सशक्त रूप अब तक हमारे सामने नहीं आया था। उनकी रचनाओं में राष्ट्र के प्रबल तेज की विस्फोटक अभिव्यक्ति हुई है। दिनकर जी के हृदय में राष्ट्र की विपन्न दशा का अनुभव करके विषाद की एक गम्भीर धारा बह रही है। जब वे इतिहास की ओर आँख उठाते हैं तो उनका हृदय स्वाभिमान से भर जाता है किन्तु दूसरे ही क्षण क्षत-विक्षत, नष्ट-भ्रष्ट तथा संकटापन्न भारत का चित्र जब आँखों के आगे आता है तो उनके भीतर करुणा का सागर उमड़ने लगता है। उनके सम्पूर्ण साहित्य में इसी व्याकुलता की अभिव्यक्ति हुई है।

उस करुणा के सागर के भीतर बड़वानल की तेज ज्वाला है जिसकी लपटें इतिहास को मोड़ देना चाहती हैं। वे लपटें सोई हुई मानवता की नस-नस में समा जाना चाहती हैं। दानवता के अशिव तत्त्वों को वे जला देना चाहती हैं। उसकी भयानक लहरें कभी उछड़ कर इतिहास की चोटी पर गरजने लगती हैं तो कभी वर्तमान की धरती को धक्का देकर भूकम्प उत्पन्न कर देना चाहती हैं। उनमें, दिनकर जी के व्यक्तित्व की शक्ति, हृदय का वेग, पौरुष की ज्वाला, आशाओं का साहस, उत्साह की प्रहारकता तथा आत्मा की चेतना है।

उनके करुणा-सागर में इतिहास के चिन्तन तथा युग के अनुभव-पक्षों द्वारा नवीन मन्थन चल रहा है। उसमें विश्वास का मन्दर तथा कामना का रज्जु है। उस मन्थन से निकलती हुई ममता की मंगल-लक्ष्मी, आशा के चन्द्रमा, विनाश की वारुणी (शोषक दानवों के लिए), क्रान्ति के शिव को वरण करनेवाले रोष के विष, बल के ऐरावत तथा चेतना के अमृत (मानवता के लिए) के प्रत्यक्ष दर्शन हो रहे हैं। दिनकर जी का चरम-लक्ष्य लोक-मंगल ही है। उनका लक्ष्य मार्क्सवादी नहीं शुद्ध भारतीय है। उस मंगल की स्थापना के लिए हिंसा, क्रान्ति तथा युद्ध अनिवार्य है।

कुछ लोग आक्षेप करते हैं कि दिनकर जीने 'युद्ध की ज्वरभीति' का निदान नहीं बताया। यह तो ठीक है, परन्तु हमारा विश्वास है कि कभी भी युद्ध की

पूर्ण समाप्ति (सदा के लिए) नहीं हो सकती। इसकी समाप्ति को स्वीकार करने का अर्थ मानवता को धोखा देना अथवा भ्रष्टाचार को प्रोत्साहित करना है। इसके कई कारण हैं। पहला तो यह कि शोषण तथा हिंसा का रूप शाश्वत है। मानव-समाज का बहुमत अभी वन्य-जीवों के स्तर तक नहीं पहुँच सका है। उसकी सभ्यता में कपट का पर्दा तथा हिंसा की चमक है। संसार के उन संस्कृति-हीन देशों की चर्चा को छोड़िये जहाँ मानव-शरीर में हिंसक-जन्तु बसते हैं और जिनके वीभत्स-अंगों में निरीह जीवों के रक्त की लाली तड़प रही है। इस राष्ट्र को देखिए जो शिवि, दधीचि, हरिश्चन्द्र, बुद्ध तथा गाँधी का दम भरता है। यहाँ भी लाखों जीवों का नित्य वध होता है। सेवा करते-करते जो जीव थककर निकम्मे हो जाते हैं उन्हें हमारे नेता लोग चिकित्सालय (वधालय) में भेज देते हैं किन्तु इस निर्मम देश में थके हुए शोषकों के लिए क्या व्यवस्था है? वन पृथ्वी तथा जल के सम्पूर्ण जीवों को खाने के बाद भी इस हिंसक मानव का नरकोदर नहीं भरा उनकी पूर्ति वह मानव-रक्त के शोषण से कर रहा है, आज से नहीं अनन्त काल से।

दूसरा कारण यह है कि भारतीय समाज स्वभाव से भ्रष्टाचारी तथा जाति-उपजाति के सहस्रों भेदों में विभाजित है। फलस्वरूप सैकड़ों ब्रिटेन तथा पाकिस्तान के टुकड़ों का निर्माण करनेवाला यह समाज किसी भी मूल्य पर संगठित होकर अपने सनातन भ्रष्टाचार से बाज नहीं आ सकता। ऐसी दशा में कैसे यह आशा की जा सकती है कि विश्व की वन्य-सभ्यता का अन्त करके यह मानवता का प्रसार कर सकेगा? बिना क्रान्ति के मानवता का उद्धार कदापि नहीं हो सकता :—

> कौन केवल आत्मबल से जूझकर
> जीत सकता देह का संग्राम है?
> पाशविकता खड्ग जब लेती उठा,
> आत्मबल का एक वश चलता नहीं।

पृथ्वी के युद्ध समाप्त नहीं होंगे परन्तु इनकी संख्या को कुछ घटाने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि एक ही रक्त के साठ करोड़ बन्धुओं को एक-रस तथा एक सूत्र में संगठित किया जाय। परन्तु आर्यों की तन्द्रा तथा अँग्रेजों की कूटनीति के कारण यह असम्भव है। दिनकर जी का बड़वानल इस असम्भवता की चट्टान पर लगातार टक्कर मार रहा है। भावी कलाकार प्रत्येक दिशा से उसी शिला पर आक्रमण करें। यह सर्वविदित है कि विगत

सहस्र वर्षों में राष्ट्र का जो सर्वनाश हुआ है उसका सहस्र गुना विनाश, देशवासियों ने केवल इन अठारह वर्षों में किया है।

रस-योजना :—

दिनकर जी की कविता में रस की धारा तथा अनुभूतियों की अजस्र लहरियाँ हैं। राष्ट्र की विपन्नता की ठोकर से उनका हृदय फूट पड़ा है। उनका हृदय वह गंगोत्री है जहाँ से करुणा की गंगा कभी रुकती नहीं। उस गंगोत्री के ऊपर ही दिनकर जी के त्रिनेत्र भी खड़े हैं। दिनकर जी की रचनाओं में निष्क्रिय करुणा का क्रन्दन नहीं है। उस क्रन्दन के स्वरों में रणचण्डी के नूपुरों की झंकार है। भीतर से उठती हुई भयंकर चीत्कार में ताण्डवकारी त्रिनेत्र के डमरू की ललकार है :—

(अ) डिम डिम डमरू बजा निज कर में
नाच तीसरी आँख तरेरे
ओर छोर तक सृष्टि भस्म हो
चिता भूमि बन जाय अरेरे।

(आ) कह दे शंकर से आज करें
वे प्रलय नृत्य फिर एक बार।
सारे भारत में गूँज उठे
हर-हर बम का फिर महोच्चार

दिनकर जी के करुण-सागर से क्रान्ति के बड़वानल की धारा फूटती रहती है। उनकी आत्मा के ध्रुव-प्रदेश से मंगल की शीतल-धारा तथा हृदय के मध्य-प्रदेश से चेतना की उष्ण-धारा चलती है। जहाँ दोनों का मिलन होता है वहाँ क्रान्ति का कुहरा छा जाता है। दोनों धाराएँ एक दूसरी की पूरक तथा रक्षक हैं। नीचे उपर्युक्त नूपुरों तथा पांचजन्य का समवेत स्वर सुनिए :—

(अ) तू मौन त्याग, कर सिंहनाद
रे तपी आज तप का न काल।
नवयुग-शङ्खध्वनि जगा रही
तू जाग, जाग, मेरे विशाल।

(आ) कितनी मणियाँ लुट गईं, मिटा
कितना मेरा वैभव अशेष!

दिनकर जी की करुण-धारा में रौद्र की प्रज्वलित लहरियाँ हैं:—

(अ) किन द्रौपदियों के बाल खुले ?
किन-किन कलियों का अन्त हुआ ?
कह हृदय खोल चित्तौर ! यहाँ
कितने दिन ज्वाल-वसन्त हुआ ?

(आ) विद्युत की इस चकाचौंध में, देख दीप की लौ रोती है।
अरी हृदय को थाम महल के लिए झोंपड़ी वलि होती है॥

(इ) हटो पंथ से मेघ, तुम्हारा स्वर्ग लूटने हम जाते हैं।
वत्स-वत्स ओ वत्स तुम्हारा दूध खोजने हम जाते हैं॥

तड़पते हुए करोड़ों शिशुओं की भूखी माताओं के स्तनों में दूध नहीं है। बेशर्म लोकतंत्र के जटिल-मेघ हटनेवाले नहीं हैं। वे अपने आँगन में लटकने वाले हैं। भाप बनाकर, जब दूध और रक्त को खींच लेते हैं तो हड्डियों को जला-जला कर राख कर देते हैं। उनमें कलेजा तोड़ देनेवाली बिजली कड़कती रहती है। थोड़े साहस के साथ चीत्कार सुनिए :—

उफ है कोई भूखे मुर्दों को जरा मना दे।
फिर दूध अरे क्या याद दूध की खो न सकोगे ?
मर कर भी क्या तुम विना दूध के सो न सकोगे ?

भूखों मरनेवाले शिशु अपनी कब्रों में शान्ति से कैसे सो सकते हैं ! उसी धरातल पर मेघों की योजना-बद्ध गड़गड़ाहट सोने भी तो नहीं देती ! दिनकर जी अपनी कविता से कहते हैं :—

आडम्बर में आग लगा दे
पतन, पाप, पाखण्ड जले,
जग में ऐसी ज्वाला सुलगा दे॥

दिनकर जी की इस ज्वाला में मंगल की लपटें हैं। असंख्य साधकों के तप की ज्वाला देश के 'आडम्बर' को हिलाने में असफल रही। समाज को 'पतन' में झूले का आनन्द मिलता है। बुद्धिवादी युग में 'पाप' ने युग-धर्म बनकर वैधानिक धारा का रूप धारण कर लिया है। मानव-शरीर में निरीह जीवों के रक्त का सौन्दर्य मचल रहा है। विश्व में हमारा समाज 'पाखण्ड' का शिरोमणि है। दिनकर के 'कुरुक्षेत्र' तथा 'उर्वशी' श्रेष्ठ महाकाव्य हैं। उनकी सम्पूर्ण रचनाओं में रसों की धारा बहती है। वे रस-सिद्ध कलाकार हैं।

दिनकर जी सच्चे अर्थों में मानव-इतिहास की नब्ज पहचाननेवाले हैं। वे आदि-पुरुष भ्रष्टाचार तथा आदि-शक्ति हिंसा के शाश्वत रूपों के जागरूक द्रष्टा हैं। यदि भावी साधकों ने इस कठोर सत्य की उपेक्षा की तो न केवल वे कलंक के भागी होंगे अपितु अपना भी सर्वनाश करेंगे।

पातकी न होता है प्रबुद्ध दलितों का खड्ग,
पातकी बताना उसे, दर्शन की भ्रान्ति है।
शोषण की श्रृङ्खला के हेतु बनती जो शान्ति,
युद्ध है यथार्थ में व 'भीषण-अशान्ति' है॥

वर्तमान नेता-तंत्र में नीचे से ऊपर तक कैसी अँग्रेजी 'शोषण की श्रृङ्खला' है ! राष्ट्र की वर्तमान शान्ति कितनी भयानक है ! इस 'शान्ति' में शोषण के आतंक की चुप्पी है ! योजनाओं में कैसा 'भीषण' चकमा है ! मानवता के ज्योति-स्तम्भ, भारत के उज्ज्वल-भविष्य, दानवता के महाकाल, दलितों-पतितों तथा शोषितों के उद्‌बुद्ध-त्रिनेत्र, चिर-जड़ता के भयंकर-भूकम्प तथा अनिवार्य क्रान्ति के अग्रदूत, पूज्य दिनकर जी एक युग-प्रवर्तक साधक हैं।

अलङ्कार-योजना :—

दिनकर जी की रचनाओं में करुणा का अपार सागर है जिसमें वीर-रस की उछलती, भयानक-रस की गरजती तथा रौद्र-रस की चपेट करनेवाली धाराएँ फूटती रहती हैं। उनमें आनेवाले अलङ्कार नैसर्गिक वेग प्रदान करने लगते हैं। उन्होंने नवीन तथा प्राचीन सभी प्रकार के अलङ्कारों का प्रयोग किया है। वे न तो अलङ्कारवादी हैं न रसवादी बल्कि शुद्ध राष्ट्रवादी हैं। उनके राष्ट्र-वाद में विशुद्ध मानवीय प्रेरणा है।

विशेषण-विपर्यय :—

(अ) रानी सब दिन गीली रही कथा है।
(आ) मीठे सपने मँडराते हैं

प्रतीक-विधान : —

(अ) हँसों के नीड़ लगे जलने—(शिशुओं के लिए)
(आ) किन-किन कलियों का अन्त हुआ ?—(सुकुमारियों के लिए)
(इ) जय हो भारत के नये खंग—(जयप्रकाश के लिए)

भाषा-शैली :—

दिनकर जी एक स्थान पर कहते हैं—"मैं सौन्दर्य से अधिक सुस्पष्टता का प्रेमी हूँ। कविताओं में अनुभूतियों की बारीकियाँ या ऊँचे-ऊँचे भाव मुझे तभी जँचते हैं, जब वे अनुरूप शैली में स्वच्छता से व्यक्त किये गये हों।" दिनकर जी की भाषा भावों के वेग के अनुसार ही चलती है। कोमल भावों को कोमल ध्वनि से व्यक्त करती है तथा उग्र भावों के लिए भयंकर रूप धारण कर लेती है। अपनी लाक्षणिक-शक्ति के बल से उनकी भाषा, भावों में अद्भुत वेग उत्पन्न कर देती है। अवसर के अनुसार रस की धारा में कभी लहरों के साथ उछलने लगती है और कहीं ढाल पर धारा को तीखी कर देती है। उसके विविध रूप देखिए :—

(अ) धधक उठा तेरे मरघट में
जिस दिन सोने का संसार

(आ) पाताल, तलातल, अतल, वितल को फोड़ महीतल पर सरसो

(इ) तू शैलराट ! हुंकार भरे,
फट जाय कुहा भागे प्रमाद

दिनकर जी के लाक्षणिक प्रयोगों में कहीं भी दुरूहता नहीं है। यत्र-तत्र लोकोक्तियों तथा मुहावरों के प्रयोग भी उनकी रचनाओं में किये गये हैं।

(अ) पानी में आग लगाते हैं।

(आ) किन्तु बुद्धि नित खड़ी ताक में रहती घात लगाए।

कुछ भयंकर प्रश्न और दिनकर जी

इस पुस्तक में हम अपनी मान्यता को स्पष्ट कर चुके हैं कि आदि-पुरुष अत्याचार तथा आदि-माया हिंसा की सत्ता शाश्वत तथा अजेय है। यह बात एकदम झूठी है कि किसी युग में इनका अस्तित्व नहीं था। संसार में भारत ही एक महान् देश है जहाँ ऐसे-ऐसे त्यागी और बलिदानी ऋषि, महात्मा तथा साधक हुए जिन्होंने उपर्युक्त भयानक तत्त्वों से मानवता की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व लुटा दिया किन्तु यह बात दूसरी है कि मानवता का संकट ज्यों का त्यों बना हुआ है। पृथ्वी के दुर्बल मानवों, पशुओं, पक्षियों तथा अन्य जीवों का रक्त पीते-पीते यहाँ के दानव-शोषकों की प्यास बढ़ती ही गई है। इस पृथ्वी पर मानव के समान अन्य कोई जीव नहीं है।

दिनकर जी ने कुरुक्षेत्र की रक्तरंजित भूमि में कुछ ढूँढ़ने का प्रयास किया है। कुरुक्षेत्र की घटनाओं का विश्लेषण, महाकवि व्यास ने 'महाभारत' में किया है। व्यास जी ने युद्ध को अनिवार्य-धर्म घोषित करके मानवता का बड़ा उपकार किया है। दिनकर जी ने 'कुरुक्षेत्र' में सामज एवं युद्ध के प्रसंगों पर गम्भीर चिन्तन किया है। वहाँ भीष्म ने वैराग्य की असारता पर प्रकाश डालते हुए जीवन तथा कर्म के महत्त्व का प्रतिपादन किया है। आज समाज की समस्याएँ भिन्न हैं, विरक्ति का कोई प्रश्न ही नहीं, समाज में लाखों दुर्योधनों की अनुरक्ति का आतंक छाया हुआ है किन्तु मानवता में अर्जुन के मोह तथा युधिष्ठिर की ग्लानि की समस्याएँ नहीं हैं। मानवता की विचित्र मनोदशा है। एक ओर तो वह बिलखती और तड़पती है और दूसरी ओर हृदय से उसी भ्रष्टाचार एवं हिंसा की आराधना भी करती है। वह मुक्ति के लिए व्याकुल नहीं बल्कि पूर्वाराधना में व्यस्त है। आज कृष्ण तथा भीष्म को वाणी बदलनी होगी। उनके अब तक के उपदेश भी निष्फल हो चुके हैं।

इस प्रकार दिनकर जी की साधना वर्तमान से सीधी टक्कर नहीं ले रही है फिर भी अनेक स्थलों पर मुठभेड़ हो जाती है।

> युद्ध को तुम निन्द्य कहते हो, मगर
> जब तलक हैं उठ रहीं चिनगारियाँ
> भिन्न स्वार्थों के कुलिश-संघर्ष की,
> युद्ध तब तक विश्व में अनिवार्य है।

दिनकर जी की यह मान्यता सर्वथा ठीक है कि समाज का शोषक-वर्ग, शान्ति को अपना अस्त्र बना लेता है। अनीति तथा शोषण का रक्षण करने वाली वह शान्ति बड़ी भीषण होती है। दिनकर जी को सीधा प्रहार करना चाहिए था कि भूतकाल की भाँति आज का नेता-तंत्र अपने भ्रष्टाचार को छिपाने के लिए शान्ति (गाँधीवाद !) को कवच बना रहा है :—

> सुख-समृद्धि का विपुल कोष
> संचित कर कल, बल, छल से,
> किसी क्षुधित का ग्रास छीन,
> धन लूट किसी निर्बल से;

सारा राष्ट्र देख रहा है कि योजनाएँ बनाकर किस 'कल-बल-छल से, पचास से लेकर सौ प्रतिशत तक (योजनाओं का धन) अरबों रुपया लूट लिया

जाता है किन्तु देश के जड़-समाज को धिक्कार है जो पूर्वाराधना में लीन है। आगे की योजना देखिए :—

सब समेट प्रहरी बिठला कर
कहती 'कुछ मत बोलो,
शान्ति सुधा बह रही, न इसमें
गरल क्रान्ति का घोलो।

शान्ति की रक्षा करनेवाले प्रहरी लालों को समाज ने एक ओर तो सीमा पर अग्नि तथा हिम के अंक में भेज दिया है दूसरी ओर भीतर ही भीतर वह अरबों रुपये का सिमेन्ट, अन्न तथा पेट्रोल चीन तथा पाकिस्तान को भेजता है। इस तंत्र तथा इसके निर्माता समाज को धन्यवाद है। देशी अंग्रेजों, पूँजीपतियों तथा नेताओं की करामात देखिए :—

हिलो डुलो मत, हृदय-रक्त
अपना मुझको पीने दो,
अचल रहे साम्राज्य शान्ति का,
जियो और जीने दो।

इस सड़े हुए समाज की मनोवृत्तियों का कैसा यथार्थ चित्र है!—

सच है, सत्ता सिमट-सिमट
जिनके हाथों में आई,
शान्तिभक्त वे साधु पुरुष
क्यों चाहें कभी लड़ाई?

किन्तु दिनकर जी के निम्नांकित विचारों से हम पूर्णतया सहमत नहीं हैं :—

सहते सहते अनय जहाँ
मर रहा मनुज का मन हो;
समझ कापुरुष अपने को
धिक्कार रहा जन-जन हो।

क्योंकि मनुज का मन मर तो रहा है किन्तु समाज का जन-जन अपने को कापुरुष समझ कर धिक्कार कहाँ रहा है? वह तो पूर्वाराधना में या तो लीन है अथवा किंकर्तव्य विमूढ़ है। वह बेहोश है। आगे देखिए :—

शान्ति नहीं तबतक जबतक
सुख भाग न नर का सम हो,

नहीं किसी को बहुत अधिक हो,
नहीं किसी को कम हो।

किन्तु यह सम्भव कहाँ है ? राज-तंत्र गया तो नेता-तंत्र छा गया। लूट की होड़ लग गई। साम्य-तंत्र मे भ्रष्टाचार का समान बँटवारा तो हो जाता है परन्तु शान्ति कहाँ रहती है ? तब तो अन्य राष्ट्रों को हड़पने की लिप्सा जगती है ! दिनकर जी का यह कथन सर्वथा सत्य है :—

स्वत्व मागने से न मिलें
संघात पाप हो जाये,
बोलो धर्मराज, शोषित वे
जियें या कि मिट जायें ?

दिनकर जी ने पतित शोषकों की नब्ज को ठीक से पकड़ा है :—

न्यायोचित अधिकार माँगने
से न मिले तो लड़ के,
तेजस्वी छीनते समर को
जीत या कि खुद मर के।

किन्तु यहाँ तो विचित्र दशा है ! शोषक वर्ग अमेरिका से लाखों टन अन्न मँगाता है इधर समाज ने करोड़ों टन दबा रखा है। उधर ब्रिटेन के साथ अमेरिका ने पाकिस्तान को खड़ा कर दिया है इधर भारतीय समाज भीतर से चीन-पाकिस्तान को अपार माल भेजता है। इस विभाजित राष्ट्र को धिक्कार है। दिनकर जी के निम्नांकित कथन को यह समाज कैसे समझ सकता है जबकि भुजंग बनकर वह स्वयं अपने अण्डों को निगल जाता है !—

क्षमा शोभती उस भुजंग को
जिसके पास गरल हो,
उसको क्या, जो दन्तहीन,
विषरहित, विनीत, सरल हो ?

दिनकर जी ने इस भ्रष्ट-विश्व के कठोर सत्य का प्रश्न भी उठाया है :—

(अ) भूल रहे हो धर्मराज, तुम,
अभी हिंस्र भूतल है,
(आ) मैं भी हूँ सोचता जगत से
कैसे उठे जिघांसा,

किस प्रकार फैले पृथिवी पर
करुणा, प्रेम, अहिंसा।

किन्तु उनका यह कथन तो किसी अंश में सही नहीं है :—

किन्तु हाय, आधे पथ तक ही
पहुँच सका यह जग है,
अभी शान्ति का स्वप्न दूर
नभ में करता जगमग है।

क्या शान्ति के आधे-पथ तक समाज पहुँच गया है ? उस पथ पर तो इस समाज ने यात्रा ही नहीं की है। दिनकर जी ने यह ठीक कहा है :—

शान्ति ! सुशीतल शान्ति ! कहाँ
वह समता देनेवाली ?
देखो, आज विषमता की ही
यह करती रखवाली।

समाज में कैसी चिरन्तन विषमता है ? सृष्टि के समग्र साधनों पर पूँजीपतियों का प्रभुत्व है। आज तो राष्ट्र के भावी शिशुओं का भाग्य भी उन्हीं शोषकों के हाथ में पड़ गया है। बड़े लोगों के लड़के उच्चकोटि के विद्यालयों में पढ़ते हैं। अन्य बच्चे मारे-मारे फिर रहे हैं। वहाँ शिशु-मन्दिरों पर नेता-तंत्र का प्रभुत्व है। प्रारम्भिक विद्यालयों के सीने पर चेयरमैन बैठा दिये गये हैं। सहस्रों अध्यापक ऐसे हैं जो विद्यालय छोड़कर नेतागीरी करते हैं और लाखों बच्चों को कोई पूछनेवाला नहीं। आयोग के अंग्रेजीदाँ सदस्य शिक्षा के स्तर का पता लगा रहे हैं। यहाँ की अद्भुत परीक्षा-प्रणाली ने राष्ट्र की प्रतिभा को नष्ट कर दिया। माध्यमिक विद्यालयों का भाग्य उन नेताओं के हाथ में सौंपा गया है जो विद्या के घोर शत्रु हैं। वे विद्यालय वोट तथा आय के साधन हैं। बुद्धिमान नेता-तंत्र से उनकी मुक्ति नहीं हो सकती।

राष्ट्र के नब्बे प्रतिशत प्रतिभाशाली छात्र अल्पकाल में ही पेट के चक्कर में पड़ जाते हैं। उच्च वर्ग के अयोग्य लाड़ले मनोरंजन के लिए विदेशों में जाते हैं। इस प्रकार समाज ने वर्तमान को नष्ट किया ही था, भविष्य को भी भस्म कर दिया। इस ज्ञानी देश में इन्सान भी अछूत हैं और समुद्र पार से दयालु अंग्रेज आकर उनकी खोज खबर लेते रहते हैं क्योंकि यहाँ लोकतंत्र है। हमने हिसाब लगाया है कि इस राष्ट्र ने विगत नौ सौ वर्षों में जितना गँवाया था

उसका सौगुना विनाश वर्तमान अठारहवर्षों में हुआ है। भावी कलाकार इस नेता-तंत्र का गुण गाते रहेंगे। क्या शोषित समाज के पत्थर मस्तिष्क में दिनकर जी का यह कथन प्रवेश कर सकता है?—

पापी कौन? मनुज से उसका
न्याय चुराने वाला?
याकि न्याय खोजते विघ्न का
शीश उड़ाने वाला?

यहाँ तो आक्रमण होने पर कण्ठ के ऊपरी भाग से जोरदार हल्ला किया जाता है तथा तह में पूर्वाराधना ज्यों की त्यों चलती रहती है। देश बड़ा कौतुकी है। यहाँ तो बचना कठिन है:—

बचो युधिष्ठिर! इस नागिन का
विष से भरा दशन है।

दिनकर जी के इस कथन की क्या चिन्ता है? दया भी नहीं, हया भी नहीं:—

थूकेंगी हम पर अवश्य
सन्ततियाँ आनेवाली।

दिनकर जी यह अच्छी तरह जानते हैं कि राष्ट्र की मुक्ति अथवा रक्षा के लिए सूरों की आवश्यकता होती है। भ्रष्टाचार में लीन समाज को चाहिए कि कभी-कभी सीमा के उन लालों की भी याद करें जिसके पीछे ललनाओं का सिन्दूर दहक रहा है:—

आग हथेली पर सुलगाकर
सिर का हविष् चढ़ाना,
शूरधर्म है जग को अनुपम
बलि का पाठ पढ़ाना।

दिनकर जी ने आज के दानवपन्थी बुद्धिवाद का वैज्ञानिक विश्लेषण किया है:—

किन्तु बुद्धि नित खड़ी ताक में
रहती घात लगाये,
कब जीवन का ज्वार शिथिल हो,
कब वह उसे दबाये।

दिनकर जी ने 'कुरुक्षेत्र' में जीवन तथा समाज के जटिलतम प्रश्नों को भी स्पर्श किया है :—

न था मुझे विश्वास, कर्म से
स्नेह श्रेष्ठ, सुन्दर है,
कोमलता की लौ व्रत के
आलोकों से बढ़कर है।

जहाँ हृदय की कोमल वृत्तियों की प्रेरणा अथवा मर्यादा नहीं है वहाँ व्रत तथा कर्म के शुष्क सिद्धान्त असार हैं। सच पूछिए तो आज का समाज दिनकर जी के बुद्धिवाद से उतना पीड़ित नहीं है जितना वीभत्स स्वार्थवाद से है। अतः मूलतः हृदय की दानवी वृत्तियों की पीड़ा है न कि बुद्धि के चमत्कारों की ? हमारे विचार से विश्व-समाज की बुद्धि उसके पतित-हृदय की दासता में लीन है :—

बुद्धि शासिका थी जीवन की,
अनुचर मात्र हृदय था,

आज तो गाँव-गाँव और गली-गली में भीषण-तंत्र का आतंक छाया हुआ है। आज तड़पनेवाली बिजलियाँ भी बादलों से डरती हैं। कहनेवाले साहस से कुछ कहते भी हैं तो सुननेवाला कौन है ?—

मुझसे कुछ खुलकर कहने में
लगता उसको भय था।

कैसी दयनीय स्थिति है ?—

कह न सका वह कभी, भीष्म
तुम कहाँ बहे जाते हो ?
न्याय-दण्ड-धर होकर भी
अन्याय सहे जाते हो ?

हमारे विचार से हृदय की दुर्वृत्तियों से मस्तक की मुक्ति होनी चाहिए :—

कर पाता यदि मुक्त हृदय को
मस्तक के शासन से,
उतर पकड़ता बाँह दलित की
मंत्री के आसन से,

हृदय की मुक्ति होनी चाहिए तो केवल उसी की पतित वृत्तियों से, न कि

मस्तक से ? परन्तु उसकी मुक्ति तो असम्भव है क्योंकि समाज का हृदय मूलतः अभेद्य पत्थर है । दिनकर जी की करुण अनुभूतियाँ ध्यान देने योग्य हैं :—

(अ) शारदे ! विकल संक्रान्ति-काल का नर मैं,
(आ) आशा में था इतिहास लोक तक आया।
(इ) पर, हाय, यहाँ भी धधक रहा अम्बर है।

सच पूछिए तो विगत सहस्राब्दी ने जो कुछ किया उसका फल वर्तमान भोग रहा है और आज की करनी का फल भावी सहस्राब्दियाँ तड़प-तड़प कर भोगेंगी। दिनकर जी ने वर्तमान का अच्छा मूल्यांकन किया है :—

मात्र वाचिक ही उन्हें देता हुआ सम्मान,
दग्ध कर पर को, स्वयं भी भोगता दुख-दाह,
जा रहा मानव चला अब भी पुरानी राह।

दिनकर जी ने षष्ठ-सर्ग में वर्तमान का बड़ा ही मार्मिक चित्र खींचा है :—

(अ) अपहरण शोषण वही कुत्सित वही अभियान,
(आ) द्रोह से अब भी वही अनुराग
(इ) नर मनाता नित्य नूतन बुद्धि का त्योहार
(ई) हाय रे मानव नियति का दास!
हाय रे मनुपुत्र अपना आपही उपहास!
(उ) घुट रही नर-बुद्धि की है साँस

दिनकर जी ने दोटूक सही कहा है :—

वह अभी पशु है, निरा पशु हिंस्र, रक्त-पिपासु,

हमारी तो मान्यता यह है कि सृष्टि के समस्त प्राणियों में मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जिसका विश्वास नहीं किया जा सकता। पशुओं से तुलना करके पशुजाति का अपमान करना अन्यायपूर्ण है। इस तथ्य को छिपाना मानवता को धोखा देना है। बहुत ठीक :—

जय हो, अघ के गहन गर्त में गिरे हुए मानव की।

उस समाज की तो और बड़ी जय होनी चाहिए जो अपने हाथों से 'अघ का गहन गर्त, खोदकर, वर्तमान की कौन कहे, सम्पूर्ण भविष्य को निर्ममता से ढकेल चुका है।

धर्मराज यह भूमि किसी की
नहीं क्रीत है दासी,
हैं जन्मना समान पर स्पर
इसके सभी निवासी।

किन्तु गिरा हुआ समाज भला देशी अंग्रेजों, दिन-दहाड़े छूरा मार देनेवाले आतंकवादियों, बड़े-बड़े पूँजीपतियों तथा कर्णधारों के साथ किस हस्ती से बराबरी कर सकता है? कोरा भ्रम है। संघर्षों का अन्त नहीं हो सकता क्योंकि समाज, हिमालय से भी दृढ़ है :—

जब तक मनुज-मनुज का यह
सुख-भाग नहीं सम होगा,
शमित न होगा कोलाहल
संघर्ष नहीं कम होगा।

दिनकर जी की प्रस्तुत पंक्तियाँ क्या पत्थर समाज को जगा सकतीं हैं?—

भाग्यवाद आवरण पाप का
और शस्त्र शोषण का,
जिससे रखता दबा एक जन
भाग दूसरे जन का

इस पतित समाज की विषमता और वर्तमान-तंत्र का कैसा नग्न चित्र है?

एक मनुज संचित करता है
अर्थ पाप के बल से,
और भोगता उसे दूसरा
भाग्यवाद के छल से।

दिनकर जी ने 'कुरुक्षेत्र' के अन्तिम सर्ग में मानव-वृत्तियों का संक्षिप्त इतिहास चित्रित किया है। इस सर्ग में दिनकर की लेखनी से निकलकर उनकी भावधारा बड़े वेग से बह रही है। वे सन्तप्त मानवता के पथ पर आशा की ज्योति बिखेर कर आगे बढ़ाने के लिए व्याकुल हैं। वे स्नेह तथा बलिदान से इस इस धरती को स्वर्ग बनाने की प्रेरणा देते हैं। इस जड़-समाज के सामने ऐसे महान् साधकों की तड़पती साधना को देखकर बड़ी पीड़ा होती है। यह पीड़ा सृष्टि की सारी पीड़ाओं से भयंकर है।

उपसंहार

मानव जाति अनन्त काल से चरम सुख प्राप्त करने लिए प्रयत्नशील है। उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उसके हृदय की व्याकुलता तथा बौद्धिक योजनाओं का इतिहास बड़ा ही विचित्र एवं भयानक है। जहाँ पहुँचने की कल्पना थी वह अभी मृग-मरीचिका ही बना हुआ है तथा आगे भी बना रहेगा। इस ग्रन्थ में बहुत कुछ स्पष्ट किया जा चुका है। अपनी सुरक्षा तथा व्यवस्था के लिए तो मानव विभिन्न समूहों में संगठित होता गया है दूसरी ओर अन्य जीवों का संहार भी करता गया है। लक्ष्य की प्राप्ति के लिए धर्मों, सम्प्रदायों, मतों और वादों के संगठन बनाकर असंख्य सामूहिक प्रयाण भी किये गये परन्तु सब कुछ व्यर्थ। व्यर्थ ही क्यों अनेक यात्राएँ तो सृष्टि के लिए अभिशाप भी सिद्ध हो चुकी हैं।

थोड़े दिनों की बात है। अरब की मरुभूमि में लुटेरों के विभिन्न समूह न केवल आपस में लड़ा करते थे बल्कि समग्र प्राणियों के लिए घातक थे। उद्धार के लिये कुरान की करुणा फूट पड़ी। उसकी अभिव्यक्ति कितनी सरल तथा बुद्धि में धँसने योग्य थी! परन्तु परिणाम क्या हुआ! उस करुण-अभिव्यक्ति के नाम पर बिखरे हुए लुटेरों के दल, इस प्रकार संगठित हो गये कि उनकी हिंसा ने बर्बरता को लज्जित कर दिया। उस करुणा को विकसित करने तथा महाकरुणा के उच्च धरातल तक ले जाने की कल्पना तो दूर रही, उस संगठन ने अपनी मूल-संस्कृति की तलवारों से सृष्टि की करुणा का सिर ही उड़ा दिया। सम्पूर्ण मध्य-एशिया की कमर टूट गयी। प्रेमी भारत में करोड़ों प्राणियों का बार-बार वध हुआ। उनके बाल बच्चों को इस निर्ममता से दास बनाया गया कि आज उनमें इतनी भी शक्ति नहीं कि अपने रक्त तथा पूर्वजों तक को याद कर सकें। इस प्रकार करुणा का वह अमृत ऐसा गरल सिद्ध हुआ कि इस उपमहाद्वीप के एक ही रक्त और दूध के साठ करोड़ बन्धु आज आत्म-ज्ञान खोकर आत्म-हत्या पर तुल गये हैं। साधकों तथा कलाकारों के सामने कितनी भीषण समस्या है!

उसी प्रकार मक्कार तथा हिंसक समाज के उद्धार के लिए क्राइस्ट की करुणा का विस्फोट हुआ। यह घटना भी अभी हाल की है। बाइबिल जैसी सरल अभिव्यक्ति भी उस समाज की समझ में न आ सकी। हुआ यह कि उस समाज ने उसका कल्पित झण्डा हाथ में लेकर सारी सृष्टि को अपनी मूल-

संस्कृति का शिकार बनाना प्रारम्भ कर दिया। संयोग से उस आखेट का विशिष्ट लीला-वन भी हमारा प्रेमी देश ही है। उदार भारतीय समाज ने अपने को लाखों पतित जाति-भेदों में विभाजित करके इस आखेट-वन को बड़ा ही रम्य तथा आकर्षक बना दिया है। प्रभु तो चले गये, दासों को कहाँ ले जाते? आज यहाँ नवचिन्तनवादी साहित्य का उदय हो रहा है। हाँ, तो सुकरात और मंसूर की भाँति क्राइस्ट के जीवन की क्या गति हुई?

इस प्रकार मानव जाति का एक समूह मानवता की हत्या एवं मानव-सृष्टि के विरुद्ध जेहाद करता है तो दूसरा उसे दास बनाकर पशुओं के भाव पर क्रय-विक्रय करता आ रहा है। इधर चीत्कार करती हुई सन्तप्त आर्य-जाति के उद्धार के लिए सिक्ख-समूह की करुणा का विस्फोट हुआ। इस समूह की करुणा के दो लाल जीवित ही दीवार में चुन दिये गये। इतिहास के कलेजे में धँसी दोनो मणियाँ भारतमाता की आँखों के दो तारे हैं। राष्ट्र के गौरव, देश के प्राण, जन्मभूमि की लाज तथा आर्य-जाति के मुकुट वही सिक्ख आज किधर जा रहे हैं। विश्व को यह भली-भाँति ज्ञात है कि भारत में मानवता की करोड़ों वर्षों की श्रेष्ठतम साधना को समूल नष्ट करने के लिए दो-दो जड़-संस्कृतियों ने सहस्रों वर्षों तक जीतोड़ परिश्रम किया और इस प्रेमी देश में उन्हें निन्यानवे प्रतिशत तक सफलता भी मिली। कला, विज्ञान तथा दर्शन का जो सर्वनाश हुआ वह विश्व के इतिहास में बेजोड़ है। कितनी विकट समस्या है!

इस लघु पृथ्वी का सौभाग्य है कि इसके ऊपर अनन्त आकाश है। यदि इस आकाश का पेट छोटा होता तो कभी का वह फट गया होता या यहाँ के निवासियों को कान बन्द करके रहना पड़ता। कारण यह कि ध्वनि में तरंगे होती हैं जो आकाश में चलती रहती हैं। अरबों वर्षों के बीच इस पृथ्वी पर जितनी भी ध्वनि उठी है उसमें हर्ष तथा उल्लास का स्वर कम है। हाहाकार एवं चीत्कार का शब्द ही अधिक है। रोग, भय, मृत्यु, हत्या जौहर और क्या-क्या! नित्य अरबों जीवों का वध तथा उनकी भीषण चीत्कार। उन संस्कृतियों की क्या चर्चा की जाय जिनके अंगों में असहाय जीवों के रक्त की लाली तड़प रही है। आज शिवि, दधीचि और हरिश्चन्द्र के उदार देश में भी नित्य करोड़ों जीवों का वध होता है। इस उपमहाद्वीप में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष पग-पग पर मनुष्यों का भी शिकार होता है। हमारे साधक-कलाकार कैसे आत्म-ज्ञान उत्पन्न कर सकते हैं!

आज के नये विश्व में दो तंत्र विशेष प्रसिद्ध हैं जो मानव जाति को चरम

लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए होड़ लगा रहे हैं। लोकतंत्र में व्यक्ति की स्वतंत्रता के नाम पर शाश्वत-जमात को शोषण की छूट दे दी गयी है। जमात की व्यवस्था में जादू का ऐसा इंजेक्शन है जो निम्नवर्ग के रक्त के मोटे शरीरों में आश्चर्यजनक रीति से पहुँचा देता है। लाखों बच्चे हड्डियों को हिला देनेवाली पागल सर्दी में नंगे घूमते हैं मानों उन्हें कोई तमीज ही नहीं है। सम्भवतः इसी बदतमीजी के कारण उस जमात ने उनके पास चिथड़ा तक नहीं रहने दिया है। माताएँ इसलिए नहीं मजदूरी ढूँढ़ती कि उन्हें बहुत भूख लगती है बल्कि इसलिए कि उनके दुष्ट-शिशु स्तनों में दूध ढूँढ़ने लगते हैं। इधर बेचारी जमात को अरबों रुपयों की योजना इसलिए नहीं बनानी पड़ती कि कोई दबाव है बल्कि इसलिए कि बिना किसी हीला के रकम को मार बैठना विश्वासघात तथा असभ्यता है।

दूसरा है साम्यतंत्र। तड़पती हुई मानवता का उद्धार करने के लिए व्याकुल साम्यवादी दर्शन का जन्म हुआ। उस दर्शन के मूल में करुणा की व्यग्र चेतना है। लक्ष्य की प्राप्ति के लिए लेनिन ने जिस सशस्त्र-क्रान्ति का ऐतिहासिक प्रयोग किया वह विश्व के लिए मूलतः नवीन नहीं है। सच पूछिये तो वह क्रान्ति, भारतीय प्राचीन प्रयोगों का नवीन संस्करण है। राम ने उसी करुणा से प्रेरित होकर उत्तरी-दक्षिणी भारत से लेकर लंका तक वही सशस्त्र-क्रान्ति की थी। उनके बन्दर-भालु प्रायः सर्वहारावर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। परन्तु दोनों में कुछ अन्तर भी है। एक की चेतना आकस्मिक तथा सीमित है तथा दूसरे का चिरन्तन-साधना से युक्त एवं व्यापक है। भारतीय जीवन-दर्शन के पीछे करोड़ों वर्षों की साधना छिपी हुई है। भारतीय क्रान्ति की करुणा उर्ध्वमुखी एवं महाकरुणा की ओर बढ़नेवाली है। सर्व-जीव-कल्याण मूलक महाकरुणा के पथ में बुद्ध, महावीरस्वामी, जनक, रघु तथा हरिश्चन्द्र आदि के महान् प्रयोगों में हम साधना के स्वरूपों का दर्शन कर सकते हैं।

जिस दिव्यतम आत्म-चेतना के धरातल पर गीता की सशस्त्र-क्रान्ति हुई वहाँ विश्व-मानवता की चरम उपलब्धि है। उस धरातल की प्राप्ति के लिए भारतीय महर्षियों को करोड़ों वर्षों तक पवित्र साधना करनी पड़ी है। साम्यवादी दर्शन की व्याकुलता अपनी अनवरत साधना के बाद यदि उस धरातल पर पहुँच जाती है तो विश्व में निश्चित ही एक ऐसी महान् संयुक्त-शक्ति का उदय हो सकेगा जिसके द्वारा सन्तप्त मानवता के उद्धार का मार्ग तो प्रशस्त हो ही जयेगा, साथ ही जीवन के प्रति एक नवीन विश्वास का प्रादुर्भाव होगा। इस साधना के लिए भी मुक्त तथा पवित्र वातावरण की आवश्यकता है।

भारतीय जीवन तथा साहित्य में करोड़ों वर्षों से प्रगति के पथ पर अग्रसर करुणा की कल्पना दुर्गा के रूप में की गयी है जिनके पवित्र करों में उद्धार करनेवाले प्रत्यक्ष शस्त्र हैं। यह आत्मघाती आराधक जड़समाज उन उद्धारक शस्त्रों द्वारा निरीह जीवों का वध करता है। जहाँ दुर्गा को शिव की शक्ति कहा जाता है वहाँ मानवता के साधन तथा साध्य का ही संकेत किया जाता है। साधन को खोकर साध्य की ओर दौड़ना भी उतना ही भयंकर है जितना साधन (शक्ति) को दबोचकर अशिव की रक्षा करना। क्या जड़-समाज शिव के त्रिशूल के मर्म को भी समझता है ? तीनों तापों को हरनेवाला, तीनों लोकों के मंगल की रक्षा करनेवाला एवं सृष्टि-पालन-लय के विश्वासों का प्रतीक वह त्रिशूल किस क्रान्ति का अस्त्र है ? शिव के तीन नेत्र भी ध्यान देने योग्य हैं।

भावी कला से उठते हुए शिव के तीनों नेत्र खुले होने चाहिएँ। दो करुण नेत्र सन्तप्त मानवता की ओर तथा तीसरा नेत्र शाश्वत-जमात की ओर होना चाहिए। ध्यान में रखना चाहिए कि वे जल्द ही समाधि-मग्न भी हुआ करते हैं तथा अशिव सदा जागरूक रहता है। शिव को प्रसन्न करने के लिए पार्वती को कठोर तप करना पड़ता है परन्तु आशुतोष अशिव तो आदि-माया हिंसा देवी से सदा प्रसन्न रहता है। इस सत्य की उपेक्षा करना आत्म-हत्या करने के समान है। मानस के प्रारम्भ में तुलसी ने एक ही साथ वाणी तथा विनायक की जो बन्दना की है उसमें यही रहस्य है। उन्हें यह भी पता था कि बार-बार जन्म लेकर यह बन्दना करनी पड़ेगी।

पश्चिमी कपटवादी अथवा रक्तवादी तथा उत्तरी जड़वादी अथवा विस्तार-वादी अर्थात् समस्त रूढ़िवादी मित्रों के सन्तोष तथा हित के लिए यह निवेदन करना आवश्यक समझता हूँ कि अनन्त काल से (जिस समय पृथ्वी पर उनका कोई अस्तित्व ही नहीं था) भारतीय साधना का चरम लक्ष्य महाकरुणा ही रही है। उसके रक्षक शस्त्रों का दुरुपयोग करनेवाले भारतीय एक सहस्र वर्षों से आत्म-हत्या करते चले आ रहे हैं। उसी महाकरुणा को ब्रह्म, उसी को शक्ति तथा उसी को अवतार का रूप देकर नाना विधियों से जड़-'समाज को आकृष्ट करने तथा विश्व का कल्याण करने के लिए यहाँ करोड़ों वर्षों से साधना होती आयी है। इस पावन लक्ष्य ने यहाँ के जीवन-दर्शन को आकाश का विस्तार, पाताल की गहराई, जीवन की गति, चेतना का विश्वास तथा अनुभूतियों की तरलता प्रदान करके भीषण जड़ता से मानवता की रक्षा का आश्वासन दिया है।

इधर महान् यूगोस्लाव-सोवियत जनता जिस शान्ति के पथ पर अग्रसर

है उसकी व्यापकता तथा प्रगतिवादिता का निर्णय तो भविष्य ही करेगा। वहाँ की क्रान्ति को जिस करुणा से प्रेरणा मिली, यदि वह उर्ध्वमुखी होगी। तो निश्चित ही कुछ ही सहस्र वर्षों की साधना के बाद उस विन्दु पर पहुँच जायेगी जहाँ से होकर भारतीय साधना गुजर चुकी है। भौतिक समानता की उपलब्धि के बाद उस महान् समाज को ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो गया है जहाँ से आगे वह इस पवित्र पथ पर प्रगति कर सकता है। यदि वह शान्ति अमेरिका-ब्रिटेन की चिरन्तन कपटतंत्रीय कूटनीति के समान होगी तब हम उसे उपर्युक्त समूहों की नीतियों की भाँति रूढ़िवादी ही कहेंगे। रूढ़िवादी चीनी अजगर के जबड़े से झाँकते हुए मार्क्सवाद के मूल में तो कोई त्रुटि नहीं है ? क्योंकि भारतीय जीवन-दर्शन से प्रेरित कोई भी सामूहिक यात्रा कभी सृष्टि के लिए घातक नहीं हुई ? इतिहास साक्षी है।

जिस प्रकार आज भारतीय पीड़ित समाज को स्वनिर्मित जाल तथा शोषक जमात के विरुद्ध क्रान्ति करनी है उसी प्रकार यूगोस्लाव-सोवियत जनता को आत्म-चेतना के धरातल तक पहुँचने के लिए जड़ रूढ़िवादी मान्यताओं के विरुद्ध क्रान्ति करनी पड़ेगी। आज विश्व-मानवता की यही पुकार है। उसका उद्धार कौन करेगा ? इन प्रयत्नों में यदि थोड़ी भी सफलता मिल सकी तो उसका मूल्य कम नहीं होगा। कपटी तथा आततायी समूहों ने मानवता को थका दिया है।

वर्तमान बुद्धिवाद से कला को भयभीत नहीं होना चाहिए। स्वार्थी समाज के हाथों में पड़कर यह बुद्धिवाद, विनाश को इतनी जल्दी आमंत्रित करता है कि हृदय की वृत्तियों की महिमा समझ में आने लगती है। बौद्धिक चमत्कारों की वृद्धि के साथ उसी मात्रा में हृदय के भीतर आतंकों की सृष्टि भी होती है। बुद्धि के द्वारा कभी उन आतंकों का समाधान हो ही नहीं सकता। भौतिक पतित स्वार्थों के पीछे बौद्धिक प्रतिभा का दुरुपयोग तो होता है परन्तु स्वार्थों की टक्कर से समाज को होश में आना पड़ता है।

इस पुस्तक में हमने बार-बार यही अनुभव किया है कि साधक कलाकारों की सम्पूर्ण साधना को इस निर्मम समाज ने निष्फल कर दिया है। समाज के पतन के साथ साधकों का दायित्व भी भयंकर होता जा रहा है। भावी शिशुओं के लिए टिमटिमाते हुए दीपक की भाँति जलते रहना है। करुणा का स्नेह ही लौ का संबल है। अपने को धोखा देकर वर्तमान से आशा करनी चाहिए क्योंकि भावी अबोध पीढ़ियों ने क्या बिगाड़ा है ?

———